UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182788

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—556—13-7-71—4,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.09 Accession No. H2754

Author MITA

Title मदान, इन्द्रनाथ
आधुनिक कविता का मूल्यांकन
1962

This book should be returned on or before the date last marked below.

आधुनिक कविता का मूल्यांकन

लेखक

इन्द्रनाथ मदान

पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़

प्रकाशक

हिन्दी भवन

जालंधर और इलाहाबाद

१९६२] [मूल्य रु० ६·५०

प्रकाशक—
धर्मचन्द्र नारंग
हिन्दी-भवन
जालंधर

प्रथम प्रकाशन
मार्च, १९६२

मुद्रक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
कमल मुद्रणालय
३७० रानी मंडी

उसकी

जिसे मुझसे मतभेद बनाए रखना प्रिय है।

विषय-सूची

१. आधुनिक कविता का मूल्यांकन ३–१००

विषय-प्रवेश
उद्देश्य
प्रथम उत्थान
द्वितीय उत्थान
छायावाद
संक्रान्ति काल
नवीन परिस्थितियाँ
प्रगतिवाद
मूल्यांकन
प्रयोगवाद
अज्ञेय का काव्य
नयी कविता
गीति काव्य
उपसंहार

२. मैथिलीशरण गुप्त १०१–१३९

परिवेश
काव्य-कृतियाँ
देशभक्ति तथा रामभक्ति

भारतीय संस्कृति एवं आख्यान
साकेत
यशोधरा
द्वापर
वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष

३. जयशंकर प्रसाद १४१–१८२

परिवेश
जीवनी
काव्य-कृतियाँ
कानन कुसुम, करुणालय
प्रेम-पथिक, झरना
आँसू, लहर
कामायनी—एक मूल्यांकन

४. सुमित्रानंदन पंत १८३–२२७

परिवेश
काव्य-कृतियाँ
प्रकृति-चित्रण
वस्तु-पक्ष
कला-पक्ष
मूल जीवन-दृष्टि

५. निराला २२९–२९४

व्यक्तित्व
काव्य-कृतियाँ
परिमल

तुलसीदास
गीतिका
अर्चना, आराधना, गीत-गूँज
व्यंग्य-काव्य
वस्तु-पक्ष
कला-पक्ष

६. महादेवी २९५–३२८

जीवनी
काव्य-कृतियाँ
दुःखवाद का स्वरूप
प्रकृति-चित्रण
रहस्यवाद का स्वरूप
कला-पक्ष एवं गीतिकाव्य

७. अज्ञेय ३२९–३८८

परिवेश
काव्य-कृतियाँ
चिन्तन
काव्य-विकास
छायावाद, प्रयोगवाद, नयी कविता
वस्तु-पक्ष
शिल्प-पक्ष

आधुनिक कविता का मूल्यांकन

१

आधुनिक कविता का मूल्यांकन

विषय-प्रवेश
उद्देश्य
प्रथम उत्थान
द्वितीय उत्थान
छायावाद
संक्रान्ति काल
नवीन परिस्थितियाँ
प्रगतिवाद
मूल्यांकन
प्रयोगवाद
अज्ञेय का काव्य
नयी कविता
गीति काव्य
उपसंहार

१

आधुनिक कविता का मूल्यांकन

१. विषय-प्रवेश—

हिन्दी की आधुनिक कविता का विश्लेषण एवं विवेचन विभिन्न दृष्टियों से किया गया है और किया जा रहा है। इसके वस्तुगत तथा शिल्पगत स्वरूप को इन दृष्टियों के आधार पर सुलझाया एवं उलझाया भी गया है। इसकी उपलब्धियों, सीमाओं तथा संभावनाओं का मूल्यांकन भी इन परस्पर-विरोधी दृष्टियों का परिणाम है और इसके फलस्वरूप इस कविता के मूल्यांकन के सम्बन्ध में भारी मतभेद पाया जाता है। इसकी विविध प्रवृत्तियों अथवा धाराओं को आलोचकों ने अकाव्य तथा शैली-मात्र की कोटि में रखने से भी संकोच नहीं किया है। इस कविता के पक्ष तथा विपक्ष में जो विवेचन हुआ है उसके मूल में

आलोचकों की व्यक्तिगत मान्यताएँ एवं जीवन-दृष्टियाँ हैं जिनसे अवगत होना आवश्यक है। इसी प्रकार कवियों तथा उनकी रचनाओं का मूल्यांकन भी आलोचकों की व्यक्तिगत धारणाओं से अनुरंजित है तथा आलोचना की परस्पर-विरोधी पद्धतियों से प्रेरित है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जिस प्रकार कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा इस कविता को सम्पन्न एवं विपन्न बनाने में योग दिया है, उसी प्रकार आलाचकों ने अपने मन्तव्यों द्वारा इसके स्वरूप को स्पष्ट करने तथा जटिल बनाने में सहायता की है। आलोचना के इस घने वन में किसी निश्चित पथ को प्रशस्त करना कष्ट-साध्य है। छायावादी काव्य का विश्लेषण एवं मूल्यांकन भी आलोचना की विभिन्न पद्धतियों के आधार पर हुआ है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर इसकी रचनाओं को अतृप्त भावनाओं तथा दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति के रूप में आँका गया है। सौष्ठववादी पद्धति के आधार पर इन्हें नवीन सांस्कृतिक जागरण की अभिव्यंजना का माध्यम स्वीकार किया गया है और स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना गया है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से छायावाद का मूल्यांकन स्वच्छन्दतावादी चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में किया गया है और इसे स्वस्थ व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि का परिणाम माना गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य समाज-मंगल की जीवन-दृष्टि से प्रभावित नैतिकवादियों और रसवाद से प्रभावित परम्परावादियों ने छायावाद को अकाव्य के रूप में घोषित कर इसे शैली-मात्र की संज्ञा दी है। इस प्रकार आधुनिक कविता की एक ही प्रवृत्ति का मूल्यांकन गहरे मतभेद से आक्रान्त है। इसी प्रकार पूर्व छायावादी तथा उत्तर छायावादी कविता का विवेचन भी आलोचकों के पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है जिसके परिणामस्वरूप काव्य-सम्बन्धी अनेक सार्थक एवं निरर्थक वादों का प्रचार एवं प्रसार हुआ है जो आलोचना के क्षेत्र में अराजकता की स्थिति को ही सूचित करता है।

२. उद्देश्य—

इस निबन्ध का उद्देश्य आधुनिक हिन्दी कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों के वस्तुगत एवं शिल्पगत स्वरूप को स्पष्ट करना और विविध कवियों की देन का मूल्यांकन करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रायः उन सभी प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं तथा आलोचकों की धारणाओं को दृष्टि में रखा गया है जिनका आधुनिक कविता से सम्बन्ध है। इस कविता की विविध धाराओं तथा कवियों की कृतियों के मूल में उन जीवन-दृष्टियों का विश्लेषण अपेक्षित है जो इसके वस्तु-पक्ष एवं कला-पक्ष को रूपायित करती हैं। इनके आधार पर कविता के अनुभूति- एवं अभिव्यक्ति-पक्ष को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है और आलोचना के एकांगी मूल्यांकन के कारणों को भी समझा जा सकता है। आधुनिक हिन्दी कविता की परिधि तथा परिभाषा से अवगत होना भी आवश्यक है। हिन्दी से आशय खड़ी बोली से है और आधुनिक से अभिप्राय उस चेतना से है जो सामन्ती संस्कृति की मान्यताओं के विरोध में उदित तथा विकसित हुई है, जो रीतिकालीन काव्य के उपरान्त हिन्दी कविता को अनुप्राणित करती रही है। इस चेतना को स्वच्छन्दतावाद की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है, परन्तु यह इसका आंशिक रूप है। इस चेतना के अनेक स्तर एवं धरातल हैं। भारतेन्दुकाल से लेकर आज तक की कविता को आधुनिक की संज्ञा देना उपयुक्त जान पड़ता है। इस अवधि में अपवाद रूप में ब्रजभाषा में भी काव्य का सृजन हुआ है, परन्तु काव्य की मूल भाषा खड़ी बोली ही है। भारतेन्दुकाल की रचनाओं में आधुनिकता का जो स्वर ध्वनित होता है वह अत्यन्त क्षीण तथा शिथिल है। इस काल के गद्य में जो विचारों की अभिव्यक्ति के लिये अधिक उपयुक्त माध्यम है आधुनिक चेतना का गहरा रंग उपलब्ध होता है। इसलिये संभव है आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल को गद्य

काल का नाम देना उचित समझा है। इस काल की प्रारंभिक कविता का वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष प्रायः सामन्ती संस्कारों, भावों आदि से प्रेरित एवं प्रभावित है। इस कारण शिवदानसिंह चौहान ने हिन्दी कविता का विकास भारतेन्दु से आरम्भ न कर श्रीधर पाठक से आरम्भ किया है और इसे तीन युगों में विभक्त करना अपेक्षित समझा है।[1] इस विभाजन का आधार छायावाद है जो इनकी दृष्टि में एक मात्र प्रमाण है, जिसका निश्चित स्वरूप है और जिसके मूल में विशिष्ट जीवन-दृष्टि है। इसलिये आधुनिक कविता के विकास को पूर्व छायावाद, छायावाद तथा उत्तर छायावाद युगों में बाँटते हुए चौहान ने यह मत प्रकट किया है कि छायावाद व्यापक तथा प्रभुत्वशाली काव्य-प्रवृत्ति है और अन्य प्रवृत्तियाँ इस से अन्तरंग रूप से सम्बन्धित हैं। डॉ० नामवरसिंह ने छायावाद को उस राष्ट्रीय जागरण की अभिव्यक्ति माना है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति पाना चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से। वह छायावाद को अनेक प्रवृत्तियों का पुंज समझते हैं जिस में रहस्यवाद तथा स्वच्छन्दतावाद भी समाहित हो जाते हैं। इसका उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि पंत के 'मौन-निमन्त्रण' में अज्ञात की जिज्ञासा होने के कारण रहस्यवाद है, अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता के कारण छायावाद है और कल्पना लोक में स्वच्छन्द विचरण के कारण स्वच्छन्दतावाद भी है।[2] इस प्रकार वह इन तीनों वादों में किंचित् अन्तर को मान्यता भी देते हैं। यदि छायावाद को हिन्दी के रोमांटिक काव्यान्दोलन के रूप में स्वीकार करना है तो छायावाद तथा स्वच्छन्दतावाद में अन्तर का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि स्वच्छन्दतावाद कल्पना-लोक में स्वच्छन्द विचरण करने की प्रवृत्ति का नाम है तो छायावाद की यह प्रमुख विशेषताओं में

---

१ काव्यधारा : पृ० ६.

२ छायावाद : पृ० १४.

से एक है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी स्वच्छन्दतावाद को एक स्वतन्त्र प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार करते हुए इसे छायावाद की अपेक्षा अधिक व्यापक काव्यान्दोलन की मान्यता दी है। श्रीधर पाठक स्वच्छन्दतावादी कवि हैं और प्रसाद छायावादी कवि हैं। इस प्रकार इन दो प्रवृत्तियों को स्वतन्त्र अस्तित्व देने से आधुनिक कविता के मूल्यांकन में उलझाव की स्थिति को उत्पन्न करना है। वस्तुतः श्रीधर पाठक की रचनाओं में छायावाद के बीज हैं जो पल्लवित होकर एक विशाल पेड़ के रूप में दिखाई देते हैं। पाठक तथा अन्य कवियों का स्वाभाविक विकास छायावाद की ओर था। इस कारण चौहान ने छायावाद को एक संश्लिष्ट प्रवृत्ति माना है और उत्तर छायावादी कविता को भी छायावाद से ही निसृत स्वीकार किया है।[1] इनका मूल्यांकन भी एकांगी है। इसका कारण यह है कि समस्त उत्तर छायावादी कविता छायावाद से निसृत नहीं कही जा सकती। प्रगतिवादी काव्य तथा छायावादी काव्य में पारस्परिक विरोध है और इस विरोध के मूल में दो परस्पर विरोधी जीवन-दृष्टियाँ हैं जो इनके वस्तुपक्ष तथा शिल्पपक्ष को रूपायित करती हैं और इन दो काव्य-प्रवृत्तियों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित करती है। छायावाद के मूल में व्यक्ति-चिन्तन तथा प्रगतिवाद के मूल में विशिष्ट समष्टि-चिन्तन की विचारधारा है। इसलिये समस्त उत्तर छायावादी कविता को छायावाद से निसृत स्वीकार करने में बाधा पड़ती है। यदि आधुनिक कविता का सूत्रपात उन रचनाओं से स्वीकार किया जाए जिनमें सामन्ती जीवन-मूल्यों से मुक्ति पाने की आकांक्षा है और जीवन के नये मूल्यों को व्यंजित करने की अभिलाषा है तो इन काव्य-कृतियों में दो विशिष्ट चेतना के स्तर उपलब्ध होते हैं—एक का सम्बन्ध मूल रूप से व्यक्ति-चिन्तन तथा व्यक्ति-हित से है और दूसरे का सम्बन्ध

---

१ काव्यधारा : पृ० ६

समष्टि-चिन्तन तथा समाज-मंगल की भावना से है और इन दोनों जीवन-दृष्टियों में पारस्परिक विरोध की स्थिति वस्तुस्थिति है। चौहान व्यक्ति-हित तथा समष्टि-मंगल में अन्ततोगत्वा सामंजस्य की स्थिति की कल्पना कर लेते हैं जब वर्गहीन समाज की स्थापना हो जायगी। वह व्यक्ति तथा समाज के हितों में वैषम्य के दोष को पूँजीवादी संस्कृति के कंधे पर रखकर वस्तुस्थिति से पलायन कर जाते हैं। आज विश्व तथा भारत में इन दो परस्परविरोधी जीवन-दृष्टियों के अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता और इनमें सह-अस्तित्व की स्थिति को ही स्वीकार किया जाता है।

आधुनिक हिन्दी कविता के वस्तु एवं शिल्प को प्रेरित एवं रूपायित करने वाली दो मूल जीवन-दृष्टियाँ हैं जिनके चार विभिन्न स्तर हैं और चेतना के इन चार स्तरों की अभिव्यक्ति काव्य-कृतियों में उपलब्ध होती है। इनके आधार पर इस कविता का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है, मूल्यांकन में संतुलन आ जाता है और प्रवृत्तियों के निर्धारण का एक निश्चित आधार बन जाता है और निश्चित भी इतना नहीं जिससे यह यान्त्रिक रूप धारण कर ले। इसमें लचीलेपन की संभावना रहती है। आधुनिक काल में काव्य के अतिरिक्त साहित्य की अन्य विधाओं का वस्तुपक्ष एवं शिल्पपक्ष चेतना के इन चार स्तरों से निरूपित है जिनके मूल में व्यक्ति-चिन्तन तथा समष्टि-चिन्तन की दो मूल जीवन-दृष्टियाँ है। उपन्यास के क्षेत्र में इन्हें सामाजिक, समाजवादी, व्यक्तिवादी तथा मनोविश्लेषणवादी नामों से अभिहित किया गया है और आलोचना के क्षेत्र में इन्हें क्रमशः शुक्ल-पद्धति, प्रगतिवादी पद्धति, सौष्ठववादी पद्धति तथा मनोवैज्ञानिक पद्धति की संज्ञाओं से पुकारा गया है। भारतेन्दु तथा द्विवेदी काल में कविता की जो सामाजिक तथा सुधारवादी प्रवृत्ति है वही प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यास-साहित्य की सामाजिक पद्धति तथा आलोचना की शुक्ल-पद्धति है जिनके मूल में समष्टि-चिन्तन का सामान्य

एवं आदर्शवादी रूप है; कविता में जो छायावादी प्रवृत्ति है वही अश्क तथा भगवतीचरण वर्मा की उपन्यास-परम्परा की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति है जिनके मूल में व्यक्ति-चिन्तन का सामान्य एवं आदर्शवादी रूप है। इसी प्रकार कविता, उपन्यास और आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवादी प्रवृत्ति जिसके मूल में समष्टि-चिन्तन का स्वरूप सामान्य न हो कर विशिष्ट एवं वैज्ञानिक है, आदर्शवादी न होकर यथार्थवादी है। प्रयोगवादी काव्य, मनोविश्लेषणवादी उपन्यास तथा मनोवैज्ञानिक आलोचना को प्रेरित एवं प्रभावित करने वाले व्यक्ति-चिन्तन का स्वरूप विशिष्ट एवं यथार्थवादी है जिसे डॉ नामवरसिंह ने अतिशय व्यक्तिवाद की संज्ञा दी है और शिवदानसिंह चौहान ने जिसे ह्रासोन्मुख, असामाजिक तथा छायावाद का विकृत रूप आदि विशेषणों से मण्डित किया है। इन चार प्रवृत्तियों का समानान्तर विकास भी कविता के क्षेत्र में दृष्टिगत होता है। इनके मूल में व्यक्ति-चिन्तन तथा समष्टि-चिन्तन की सामान्य तथा विशिष्ट विचारधाराएँ तथा प्रेरक शक्तियाँ है। इस प्रकार आधुनिक काव्य, उपन्यास तथा समीक्षा की मूल प्रवृत्तियों में यह साम्य संयोगवश नहीं कारणवश है। साहित्य के सृजन की प्रेरणा व्यक्ति तथा समाज में संतुलन एवं सामंजस्य की समस्या और इनमें परिवर्तनशील सम्बन्धों को व्यक्त करने की आकांक्षा से भी प्राप्त होती रही है। व्यक्ति-हित तथा समष्टि-मंगल में पारस्परिक विरोध अभिनव परिस्थितियों, नवीनतम समस्याओं तथा अधुनातन विचारधाराओं का जनक रहा है। इसी कारण आधुनिक युग में भी साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रवृत्तियों का साम्य उपलब्ध होता है। इसलिये आधुनिक कविता का मूल्यांकन युग तथा कवि की मूलभूत चेतना के आधार पर करना अपेक्षित एवं समीचीन है जिसका परिज्ञान व्यष्टि एवं समष्टि के प्रति कवि की जीवन-दृष्टि से प्राप्त हो सकता है। जीवन तथा जगत को आँकने तथा अभिव्यक्ति देने के लिये मूलतः एवं अन्ततः दो जीवन-दृष्टियों को आधार बनाया गया

है—एक का सम्बन्ध समष्टि-चिन्तन एवं समाज-कल्याण की भावना से रहा है और दूसरी का व्यष्टि-चिन्तन एवं व्यक्ति-हित से। इन दो मूल प्रवृत्तियों की शाखाएँ तथा उपशाखाएँ विविध विचारधाराओं के रूप में परिलक्षित होती रही हैं। अतः इस के आधार पर आधुनिक हिन्दी कविता के विकास का विवेचन, उसकी प्रवृत्तियों का अनुशीलन उसके वस्तुपक्ष एवं शिल्पपक्ष का विश्लेषण और कवियों की व्यक्तिगत देन का मूल्यांकन किया गया है।

३. प्रथम उत्थान—

आधुनिक हिन्दी काव्य के विकास में छायावाद एक विशिष्ट काव्य-धारा अथवा काव्यान्दोलन है जिसे मान्यता प्राप्त हो चुकी है। इस काव्यधारा के नामकरण, स्वरूप एवं मूल्यांकन के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है; परन्तु इसके अस्तित्व के सम्बन्ध में संदेह का नितान्त अभाव है। इसकी व्याप्ति सुविधा की दृष्टि से प्रथम महायुद्ध के अन्त से लेकर दूसरे महायुद्ध के आरम्भ तक मानी जाती है। काव्य की किसी धारा के आदि और अन्त को किसी सुनिश्चित तिथि से बाँध देना भी कठिन है। इसलिये इस निश्चित काल-अवधि का आशय केवल इतना है कि इस बीच छायावाद हिन्दी-काव्य की मुख्य धारा थी जिसका सूत्र-पात इससे पहले भी हो चुका था और जिसका सृजन इसके बाद भी होता रहा है। छायावाद से पहले हिन्दी या खड़ी बोली में कविता का सूत्र-पात भारतेन्दु काल में हो चुका था। इसके मूल में समष्टि-चिन्तन अथवा समाज-मंगल की स्थूल भावना थी जिसका उद्देश्य समाज-सुधार था तथा जिसकी शैली उपदेशात्मक थी। इस समाज का परिवेश भी हिन्दू जाति तक सीमित था। इस समाज के उद्धार एवं सुधार का माध्यम पत्र-पत्रिकाएँ थीं जिनका प्रभाव कविता के स्वरूप पर पड़ा। इस काल की कविता का वस्तुपक्ष एवं शिल्पपक्ष समाज-सुधार की स्थूल भावना से

रूपायित है। भारतेन्दु काल से पहले डॉ० आशा गुप्ता के मतानुसार 'खड़ी बोली काव्य का अपना स्वतन्त्र स्थान है और उसके पीछे कई शताब्दियों की लम्बी काव्य-परम्परा का इतिवृत्त है।'[१] डॉ० गुप्ता खड़ी बोली को काव्य-रचना की समर्थ भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय भारतेन्दु तथा उसके सहयोगियों को देने के पक्ष में हैं। भारतेन्दु स्वयं तो काव्य-रचना के लिये ब्रजभाषा को ही अपनाते रहे, परन्तु उन्होंने खड़ी बोली की उपेक्षा नहीं की।[२] इस पुनरुत्थान के काल में व्यक्ति-चिन्तन की अपेक्षा जाति-चिन्तन अथवा समष्टि-चिन्तन, समाज-मंगल की भावना आदि का अधिक विकसित होना स्वाभाविक है। समाज-सुधारकों का भी दो दलों में विभक्त हो जाना तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम है। एक दल सामयिक स्थिति से असंतुष्ट होकर भारत की अतीत संस्कृति की महिमा, गरिमा, भव्यता आदि के क्रोड़ में अधिक संतोष पाता है और दूसरे दल को देश की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दासता अधिक अखरती है और वह बाल-विवाह विधवा-विवाह, अंधविश्वास, आदि सामाजिक कुरीतियों के विरोध में संलग्न है। पाश्चात्य बुद्धिवाद से प्रेरित होकर कवियों का दूसरा दल पुराणपंथियों की अपेक्षा जीवन की नवीन मान्यताओं के प्रति कम अनुदार है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं पुरातन एवं नवीन की द्विधा से ग्रस्त हैं। उनका हृदय प्राचीन के मोह में जकड़ा हुआ है और उनका मस्तिष्क नवीन के प्रति उन्मुख है। इसलिये अपनी काव्य-रचनाओं में प्रायः परम्परावादी हैं और गद्य-रचनाओं में प्रायः आधुनिकता का आभास देते हैं। खड़ी बोली में इनकी कविता का काव्यात्मक महत्त्व न होकर ऐतिहासिक महत्त्व ही स्वीकार किया जा सकता है। यदि आधुनिक हिन्दी कविता में आधुनिकता के सूत्रपात का

---

१ खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना : पृ० १६७.

२ वही

श्रेय इन्हें दिया जाता है तो वह प्रधानतः आदरवश है। इनकी रचनाओं में राजभक्ति एवं देश-भक्ति, प्राचीनता एवं नवीनता, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, रूढ़िवादिता एवं स्वच्छन्दता आदि के सम-विषम स्वर ध्वनित होते हैं। वह आधुनिकता का आकांक्षी होते हुए प्राचीनता की रूढ़ियों से मुक्ति पाने में इतना सफल नहीं हो सके जितना डॉ० रामविलास शर्मा के इन शब्दों में समझा गया है—'एक नए माध्यम में ये महान लेखक अटपटा रहे हैं, परन्तु अतिशय सतर्कता के नीचे उन्होंने अपने आपको दबा नहीं दिया। जो स्वच्छन्दता उनके गद्य में है उसकी छाप उनकी कविता पर भी है। उनका महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने आँखों पर ब्रजभाषा-प्रेम की पट्टी न बाँध कर गद्य की भाषा (खड़ी बोली) में प्रयोग किए।' अभिव्यंजना की दृष्टि से भारतेन्दु की खड़ी बोली कविता का महत्त्व नहीं है और अनुभूति की दृष्टि से उनकी कविता जीवन के स्थूल पक्ष को समाज-मंगल अथवा हिन्दू जाति के उद्धार एवं कल्याण के आधार पर आँकती है। सामन्ती संस्कृति की मान्यताओं का विरोध करने में भारतेन्दु को आधुनिक होने की संज्ञा से वंचित नहीं किया जा सकता, परन्तु इन्हें राजभक्ति, तथा देशभक्ति, प्राचीनता तथा नवीनता, उदारता एवं अनुदारता में सामंजस्य स्थापित करने का श्रेय भी नहीं दिया जा सकता जो डॉ० केसरीनारायण शुक्ल ने दिया है।[1] भारतेन्दु-मण्डली के अन्य कवियों की देन वैयक्तिक रूप से इतना महत्त्व नहीं रखती जितना सामूहिक रूप से। इनके आरकेस्ट्रा में अन्य वाद्य-वृन्दों में अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, प्रताप-नारायण मिश्र आदि ने समवेत गायन की साधना की है और इनकी रचनाओं को प्रेरित करने वाली शक्ति जाति-कल्याण की समष्टिगत भावना है जिस के स्थूल रूप ने इन की गद्यात्मक पंक्तियों को पद्य में आबद्ध कर

---

१. आधुनिक काव्यधारा : पृ० २७.

दिया है। इनकी सुधारवादी जीवन-दृष्टि भी समष्टि-चिन्तन से आक्रान्त है जिसका उद्देश्य पाठक को उद्बुद्ध करने में निहित है। प्रतापनारायण मिश्र इन शब्दों में अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हैं—

समझें सब को सब भाई, सब के सब होंय सहाई।
निज धर्म भली विधि जानें निज गौरव को पहचानें।
आग्रह अनैक्य को छोड़ैं, मुख भेड़चाल से मोड़ैं।
स्त्रीगण को विद्या देवैं, करिं पतिव्रता यश लेवैं।[1]

प्रेमघन इस स्वर में अपना स्वर मिलाकर युग के समवेत गायन में योग देते हुए प्राचीन और नवीन दोनों के गुणों को ग्रहण करने के पक्ष में हैं—

आवश्यक समाज-संशोधन करो न देर लगाओ;
हुए नवीन सभ्य औरों से अपने को न हँसाओ।
सीखो नई पुरानी दोनों प्रकार की विद्याएँ;
दोनों प्रकार के विज्ञान सिखाओ रच शालाएँ।[2]

इन पंक्तियों में आर्यसमाजी जीवन-दृष्टि का परिचय मिलता है जिसका प्रतीक दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालिज है, जिसमें पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृतियों का विलक्षण मिश्रण है। यह उस काल के सुधारवादी दल का दृष्टिकोण है जिसकी गद्यात्मक अभिव्यक्ति भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों की पद्यात्मक रचनाओं में सामूहिक रूप में प्राप्त होती है। इस प्रकार आधुनिक कविता के प्रथम उत्थान में समष्टि-चिन्तन, समाज-सुधार, भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान के चिह्न पाये जाते हैं जो इसके दूसरे उत्थान अथवा द्विवेदी काल में अधिक पुष्ट रूप में उपलब्ध होते हैं। इन विशेषताओं को गहराने वालों में श्रीधर पाठक तथा बालमुकुन्द गुप्त

---

१ प्रताप लहरी : पृ० १६०
२ आनन्द अरुणोदय

का विशेष रूप से नाम लिया जाता है। भारतेन्दु ने जिस खड़ी बोली को 'क्रिया.की दीर्घ मात्रा' के कारण कविता के लिये अनुपयुक्त स्वीकार कर लिया था उसे श्रीधर पाठक (१८५६-१६२८) ने अपनी कृतियों द्वारा सम्पन्न बना दिया और सिद्ध कर दिखाया कि इस भाषा में विकास की शक्ति एवं सम्भावना है। इसके आधार पर आचार्य शुक्ल ने पाठक को हिन्दी का प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि घोषित किया। उन्होंने अंग्रेजी के कवि गोल्डस्मिथ तथा संस्कृत के कालिदास की रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद किया जो उनकी निजी जीवन-दृष्टि के अनुकूल था। इन कवियों का प्रकृति- तथा मानव-प्रेम श्रीधर पाठक के लिये नवीन वस्तु थी और यह युग की नयी चेतना अथवा भावधारा के अनुरूप भी थी। इसलिये कवि ने इन कवियों की कृतियों को अपने अनुवाद का आधार बनाया। इनकी खड़ी बोली की रचनाएँ अनूदित एवं स्वतन्त्र भी हैं। 'एकान्तवासी योगी' (१८८६) तथा 'श्रान्त पथिक' (१६००) क्रमशः गोल्डस्मिथ की 'एडविन अंजलीना' तथा 'ट्रैवलर' के अनुवाद हैं। इसके अतिरिक्त पाठक ने जॉन कीट्स की 'इजाबेला' नामक रचना का 'इज-वियला' शीर्षक कविता में छायानुवाद किया है। इन मौलिक रचनाओं के वस्तुपक्ष में रोमांटिक दृष्टि है जिसने कवि को आकृष्ट किया है। इन कृतियों में प्रकृति-प्रेम, मानव-प्रेम तथा रोमांटिक-प्रेम की भावनाएँ हैं। इन में प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण, जीवन का सरल एवं सहज स्वरूप, प्रेम का आदर्शवादी रूप आदि जीवन के नवीन राग-सम्बन्धों को व्यंजित करते हैं जो स्वच्छन्दतावाद के प्रतीक हैं। नागरिक अथवा पूँजीवादी संस्कृति के प्रति इस प्रतिक्रिया से पाठक की रोमांटिक जीवन-दृष्टि का परिचय मिल जाता है। इस प्रकार इनके अनुवादों तथा मौलिक रचनाओं को छायावादी काव्य का द्योतक माना गया है। इनके हेमन्त-चित्रण में प्रकृति-प्रेम, सरल एवं सहज जीवन के प्रति मोह नये काव्यादर्शों को सूचित करते हैं जिनका परिष्कार, विकास एवं पोषण छायावाद में हुआ है। इस प्रकार श्रीधर

पाठक ने भाषा तथा भाव की दृष्टि से परम्परा का भंग किया; ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के वाग्युद्ध में खड़ी बोली का पक्ष लिया, रीति-कालीन काव्यादर्शों का विरोध किया, नवीन काव्य-वस्तु को अभिव्यक्ति दी, हिन्दी कविता को एक नयी दिशा की ओर उन्मुख किया। इनकी रचनाओं में मानव का स्वरूप निखरने लगा, परन्तु इस स्वरूप को निखारने में कवि की दृष्टि समष्टिमूलक थी। अभी मानव ने व्यक्ति का रूप धारण नहीं किया था। भारतेन्दु काल में अभिव्यंजना-शैली या भाषा की अपेक्षा सुधारवादी भावना तथा उपदेशवादी चेतना का अधिक महत्त्व था; परन्तु पाठक तक आते-आते भाषा तथा अभिव्यंजना का महत्त्व भी बढ़ने लगा और उसमें निखार आने लगा; सुधारवाद का स्थूल रंग सूक्ष्म होने लगा और पुनरुत्थानवाद का पुट गहराने लगा। श्री पाठक के सहयोगियों में बालमुकुन्द गुप्त का नाम लिया जाता है जिनकी रचनाओं में तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति असंतोष का स्वर ध्वनित होता है। गुप्त वस्तुतः कवि की अपेक्षा निबन्धकार हैं। इसलिये डॉ० आशा गुप्त ने इनकी कवित्वहीन, इतिवृत्तात्मक रचनाओं को पद्यात्मक निबन्ध कहना ही उचित समझा है।[1] इस शताब्दी के पहले दो दशाब्दों में खड़ी बोली का जो विकास हुआ है इसमें योग देने वालों में गुप्त का नाम उल्लेखनीय समझा जाता है। इस काल के कवियों की जीवन-दृष्टि समष्टिमूलक है, जातिमंगल की भावना से प्रेरित है, हिन्दी के विकास की प्रेरणा से प्रभावित है, सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन करने के लिये आकांक्षी है और राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये भी प्रायः अभिलाषी है।

४. द्वितीय उत्थान

आधुनिक हिन्दी कविता के भारतेन्दु काल को प्रथम उत्थान की संज्ञा

---

१. खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना : पृ २३८

देना सुविधा की दृष्टि से उचित माना जा सकता है। इसके प्रथम तथा द्वितीय उत्थान में, जो महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम से युक्त किया जाता है, काव्य-वस्तु की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है। इस काव्य की प्रेरक शक्ति शुद्धि एवं शुद्धता है जो एक ओर आचरण, नैतिकता आदि में लक्षित होती है और दूसरी ओर भाषा, अलङ्कार एवं छन्द-विधान को निरूपित करती है। भारतीय मध्यवर्गीय समाज का उदय भारतेन्दु काल में हो चुका था और अब वह अपने विकास का पथ प्रशस्त करने में संलग्न है। उसके संकल्प में दृढ़ता है, दृष्टि में निश्चयात्मकता है, कर्म में व्यवस्था है, आचरण में शुद्धता है, मन में उत्साह है, वाणी में गरज है, बुद्धि में विश्वास है, मूल्यों में आदर्शवादिता है, हृदय में शुष्कता है, काव्य में इतिवृत्तात्मकता है, विचारों में संकीर्णता है, उद्देश्य में समाज-मंगल की भावना है। महावीरप्रसाद द्विवेदी मध्यवर्ग की इस जीवन-दृष्टि के प्रतीक हैं और 'सरस्वती' के सम्पादन द्वारा इन्हें इस वर्ग का नेता बनने का अवसर प्राप्त हुआ। इनका महत्त्व भाषा-संस्कार एवं परिष्कार के क्षेत्र में है। कवि ब्रजभाषा तथा अवधी के शब्दों तथा क्रियाओं का मनमाना प्रयोग खड़ी बोली में करते थे और लेखक व्याकरण की भूलों से भाषा में शिथिलता एवं अव्यवस्था का परिचय देते थे। द्विवेदी स्वयं इतने कवि न थे जितने नेता थे, इतने चिन्तक न थे जितने पथ-प्रदर्शक थे, इतने मौलिक न थे जितने प्रेरक थे। इनके निजी संस्कार बँगला की कोमल-कान्त पदावली की अपेक्षा मराठी की इतिवृत्तात्मक शैली के अधिक निकट एवं अनुकूल थे। इनके बुद्धिवाद तथा नैतिकवाद की युगगत सीमाएँ थीं, इनकी जीवन-दृष्टि समाज-कल्याण की भावना से अनुप्राणित थी। इसके मूल में विकासशील मध्यवर्ग का आदर्शवाद था जिसकी अपनी सीमाएँ थीं। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भारतेन्दुकालीन सुधारवाद को परम्परा में प्राप्त किया, उसे ठोस धरातल दिया, व्यवस्था के साँचे में ढाला, पुनरुत्थान की भावना को पुष्ट किया, तद्भव के स्थान

पर तत्सम की दृष्टि को अपनाया, मौलिकता की अपेक्षा अनुवाद को प्रोत्साहित किया। इन्होंने काव्यादर्शों को स्थापित करने के लिये संस्कृत-साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की, परन्तु इनमें युगानुकूल नवीनता का स्वर भी ध्वनित होता है। इस काल (१९००-१९२०) में कविता का स्वरूप प्रायः वर्णनात्मक एवं आख्यानात्मक है, काव्य-विषय की विविधता तथा काव्य-वस्तु की नवीनता है, संस्कृत वृत्तों की बहुलता तथा तत्सम शब्दावली की प्रधानता है, राष्ट्रीयता का स्वर अधिक व्यापक है, पुनरुत्थान की भावना अधिक पुष्ट है, मानव का महत्त्व अधिक निखरा हुआ है, आत्म-विश्वास की ध्वनि अधिक गहरी है। द्विवेदी-काल में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', नाथूराम शर्मा 'शंकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त आदि ने आधुनिक हिन्दी कविता के वस्तु-पक्ष को सम्पन्न बनाया, शिल्प-पक्ष को सशक्त किया और इसे छायावादी काव्यान्दोलन के लिये तैयार किया। द्विवेदी ने स्वयं राजनीति, समाज, अध्यात्म, प्रकृति आदि विविध विषयों पर पद्य-रचना की है, पौराणिक आख्यानों को पद्य-बद्ध किया है। इनका काव्य सोद्देश्य एवं इतिवृत्तात्मक है, इनकी भाषा भी लिंग-दोष, वाक्यगत शिथिलता आदि से नितान्त मुक्त नहीं है। इसी प्रकार शंकर के काव्य का विषय धर्म एवं समाज है जिस पर स्वामी दयानन्द के खंडन-मंडन की गहरी छाप है। इनका काव्य भी सुधारवादी दृष्टि के कारण सोद्देश्य तथा विषय-प्रधान है। एक उदाहरण से इनकी जीवन-दृष्टि का परिचय मिल जाता है—

> जो तेरी वैदिक पद्धति से टेढ़ा-तिरछा चलता है।
> वह पापी उद्दण्ड प्रमादी धीर पाप से जलता है।[1]

---

१ शंकर सर्वस्व : पृ० ४१.

इन पंक्तियों में युग की नैतिकता के ठोस मानदंड, पुनरुत्थान की स्थूल भावना आदि की गंध स्पष्ट रूप से निकलती है। इसी श्रेणी में हरिऔध को बिठलाया जा सकता है। इन्होंने काव्य-रचना आधुनिक कविता के प्रथम उत्थान से आरम्भ कर दी थी, परन्तु इनका 'प्रिय-प्रवास' पाँच वर्ष की साधना के उपरान्त १९१३ में समाप्त हुआ और १९१४ में प्रकाशित हुआ। इसे हिन्दी कविता के प्रथम महाकाव्य की उपाधि प्राप्त है। इसमें कवि तथा युग की मान्यताओं का विशद निरूपण हुआ है। आचार्य शुक्ल इसकी आलोचना करते हुए लिखते हैं—'किसी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के परम्परा से प्रतिष्ठित स्वरूप को मनमाने ढंग पर विकृत करना हम भारी अनाड़ीपन समझते हैं।' इस काव्य-रचना में कृष्ण तथा राधा का स्वरूप पौराणिक परम्परा के अनुरूप नहीं है। इसमें चरित्रों का विकास अलौकिक एवं अवतारी न होकर लौकिक, बुद्धि-संगत एवं मानवीय है जो युग-चेतना का परिणाम है। कृष्ण का चरित्र लोकरंजक का न होकर लोकरक्षक का है और राधा जयदेव की विलासिनी, विद्यापति की मुग्धा नायिका, चण्डीदास की परकीया नायिका, सूरदास की नागरी, नन्ददास की तार्किक अथवा रीति काल की उच्छृंखल एवं किशोरी राधा न होकर आधुनिक युग की जागृत एवं प्रबुद्ध नारी है। शिवदानसिंह चौहान को 'प्रिय प्रवास' के राधा-कृष्ण सम्बन्ध में राष्ट्रीय जागरण का स्वर सुनाई देता है। 'कृष्ण मथुरा गए और विश्व-कल्याण तथा राजनीति की समस्याओं में इतना उलझे कि लौट कर वापस न आ सके, लेकिन उनका हृदय ब्रजभूमि में ही रमा रहा। उद्धव के समझाने पर ब्रजवासियों को कृष्ण के बाहर रहने की अनिवार्यता समझ में आ गई और विरह-विदग्ध राधा ने चिर कौमार्य का व्रत धारण कर लोक-सेवा के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया।' हरिऔध ने कृष्ण प्रवास के इस मार्मिक प्रसंग को अपने काव्य का आधार इसलिये बनाया है कि इसके माध्यम से वह उन देशभक्तों के

त्याग को वाणी देना चाहते हैं जिन्होंने प्रियजनों के मोह को तोड़ कर देश के कोने-कोने में अलख को जगाया था।[1] इस प्रकार चौहान 'प्रिय प्रवास' के वस्तुपक्ष से प्रभावित होकर इसमें युग-चेतना की झलक देखते हैं। इसमें स्वच्छन्दतावाद का पहला रूप है जब व्यक्तिवादी चेतना इतनी विकसित एवं वाचाल नहीं थी। इस युग में आदर्शवादी धरातल पर व्यष्टि एवं समष्टि में सामंजस्य स्थापित करने की परम्परा का पालन हो रहा था और यह परम्परा छायावादी काव्य में भी लक्षित होती है। हरिऔध के 'वैदेही वनवास' में भी लोक-मंगल की भावना व्याप्त है। इनकी प्रायः सभी रचनाओं का मूल स्वर लोक-संग्रह की जीवन-दृष्टि में ध्वनित हुआ है और इसका स्वरूप भारतेन्दु-कालीन काव्य की भाँति स्थूल न होकर परिष्कृत है। इस परिष्कृत रूप की अभिव्यक्ति रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' (१९१७), 'पथिक' (१९२०) तथा 'स्वप्न' (१९२८) नामक खण्ड-काव्यों में उपलब्ध होती है जिन्हें दृष्टि में रखते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है—'स्वदेश-भक्ति की जो भावना भारतेन्दु के समय से चली आती थी उसे सुन्दर कल्पना द्वारा रमणीय और आकर्षक रूप त्रिपाठी ने ही प्रदान किया।'[2] इन खण्ड काव्यों के कथानक पौराणिक एवं ऐतिहासिक न होकर कल्पित हैं। कवि ने लौकिक आख्यानों के माध्यम से देशभक्ति जैसे वस्तुनिष्ठ विषय को सरस एवं भावना-प्रधान बनाने का प्रयास किया है जिससे छायावादी काव्य के आगमन की सूचना मिल जाती है।। इस कारण शुक्ल ने त्रिपाठी को द्विवेदी-मंडल से बाहर रखा है; परन्तु इनका काव्य मूलतः वस्तुनिष्ठ एवं विषय-प्रधान है और इसको प्रेरित करने वाली जीवन-दृष्टि समाज-मंगल की भावना की है। इसलिये

---

१. काव्यधारा : पृ १३.

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ ६२८.

मात्र सरसता के आधार पर द्विवेदी-मंडल से इनका बहिष्कार संगत नहीं जान पड़ता। कवि ने यह भी अनुभव कर लिया था कि खड़ी बोली संस्कृत-तत्सम-प्रधान भाषा नहीं है, उसका स्वतन्त्र स्वरूप भी है, उसकी अपनी आत्मा, अपना व्याकरण और अपना मुहावरा भी है। भाषा-शैली की दृष्टि से उन्होंने खड़ी बोली को सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति में सक्षम बनाने का सफल प्रयास किया है। इस प्रकार छायावादी काव्य के सृजन के लिये कवि ने भूमि को तैयार करने का काम किया है।

इस काल के कवियों में गुप्त-बन्धुओं की रचनाओं का विशेष महत्त्व है। मैथिलीशरण गुप्त तथा सियारामशरण गुप्त ने प्रधानतः आख्यानों तथा गौणतः मुक्तक रचनाओं के माध्यम से तत्कालीन युग-चेतना को अभिव्यक्ति देने का विस्तृत प्रयास किया है। इनकी जीवन-दृष्टि मध्यवर्ग की चेतना के उस स्तर से प्रभावित है जो सामन्ती संस्कृति की मान्यताओं तथा अन्धविश्वासों के भावात्मक विरोध से सम्बद्ध है। इन अन्ध विश्वासों के विरोध के मूल में बुद्धिवादी दृष्टिकोण है जो युग-चेतना में व्याप्त है। गुप्त-बन्धुओं की जीवन-दृष्टियों में मौलिक अन्तर के अभाव में किंचित अन्तर पाया जाता है। सियारामशरण गुप्त छायावादी जीवन-दृष्टि के अधिक निकट होने का आभास देते हैं, इनकी रचनाओं में जीवन-दृष्टि वस्तुनिष्ठ होते हुए भी आत्मनिष्ठ बनने की ओर उन्मुख है; समाज-मंगल से प्रेरित होने पर भी व्यक्ति-हित की उपेक्षा करने से संकोच करती है। मैथिलीशरण गुप्त की भावना समष्टि-चिन्तन तथा लोकमंगल की भावना से प्रभावित है। कवि ने इस चेतना को अभिव्यक्ति देने के लिये रामायण महाभारत तथा पुराणों के आख्यानों को अपनी रचनाओं का आधार बनाया है और इनकी नवीन व्याख्या की है जो बुद्धि-संगत एवं मानवीय है। इस व्याख्या के मूल में कवि का दृष्टिकोण निवृत्तिमूलक न होकर प्रवृत्तिमूलक है। इस पुनरुत्थान के युग में व्यक्ति-चिन्तन, व्यक्ति-हित तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य

से प्रभावित चेतना का प्रस्फुटन हो रहा था जिसके स्वर उपेक्षित नारी के महत्त्व, निवृत्ति के खण्डन, प्रवृत्ति के मण्डन आदि में ध्वनित होने लगे थे। गुप्त के काव्य में जहाँ प्राचीनता तथा नवीनता के समन्वय को देखा जाता है, परम्परा तथा प्रगति के सामंजस्य को खोजा जाता है, उसमें वहाँ प्राचीनता तथा परम्परा की अधिकता है और नवीनता तथा प्रगति की न्यूनता है। इस जीवन-दृष्टि के मूल में कवि का आदर्श-मूलक समष्टि-चिन्तन है तथा लोक-मंगल का भाव है। गुप्त के समष्टि-चिन्तन का स्वरूप विशिष्ट न होकर सामान्य है, वैज्ञानिक न होकर भावात्मक है। इस भावात्मकता में बौद्धिकता का पुट अवश्य पाया जाता है; परन्तु कवि के संस्कार तथा युग की आदर्शवादिता इसे अधिक उभरने नहीं देती है। इस कारण एक ओर वह वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-धर्म तथा सम्मिलित परिवार के प्रति आस्था रखते हैं और दूसरी ओर उपेक्षिता नारी की स्वतन्त्रता के पक्ष में है। इस नारी का रूप त्याग, तप तथा बलिदान की अग्नि में शुद्ध होकर निखरा हुआ है। मैंने एक स्थान पर गुप्त की रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए इन्हें यमुना की अपेक्षा गंगा का कवि कहा है, कृष्ण के गायक की अपेक्षा राम का गायक कहा है। वह भारतीय संस्कृति के केवल आख्याता न होकर उसके लोक-संग्रहात्मक पक्ष के व्याख्याता भी हैं। इनको हिन्दू समाज के पारिवारिक जीवन का कवि भी कहा गया है, परन्तु इनके पारिवारिक जीवन का आदर्श संयुक्त है जिसके मूल में समष्टि-मंगल की भावना है। गुप्त ने गत आधी शताब्दी में ४० मौलिक तथा ६ अनूदित ग्रन्थों की रचना की है। इनका विवेचन तथा इनकी समस्त कविता का वस्तुगत एवं शिल्पगत मूल्यांकन विस्तार से अन्यत्र किया गया है। आधुनिक हिन्दी कविता के विकास में गुप्त ने स्वच्छन्दतावाद अथवा छायावाद की भूमि तैयार की है। इनके काव्य का स्वरूप प्रमुखतः मुक्तक न होकर प्रबन्धात्मक है, प्रगीतात्मक न होकर इतिवृत्तात्मक है, आत्मपरक न होकर

वस्तुपरक है, व्यक्ति-चिन्तन से प्रेरित न होकर समष्टि-चिन्तन से प्रभावित है। इनकी रचनाओं में समाज-कल्याण की भावना प्रमुख है और व्यक्ति-हित की मान्यता गौण है। वह उपेक्षित मानव और विशेष रूप से उपेक्षित नारी का पक्ष लेते हैं, परन्तु इसका प्रतिपादन भी समष्टि-चिन्तन अथवा समाज-मंगल के आधार पर करते हैं। वह सामन्ती संस्कृति की जड़ मान्यताओं का खण्डन बुद्धिवाद, सुधारवाद एवं आदर्शवाद की दृष्टि से करते हैं। गुप्त की इस जीवन-दृष्टि के धरातल पर ही उनके काव्य की उपलब्धियों तथा सीमाओं का संतुलित मूल्यांकन अधिक संगत है। साकेतकार के राम का स्वरूप भी इसलिये वाल्मीकि के वीरचरित और तुलसीदास के लीलावतारी राम से भिन्न है। पुनरुत्थान के कवि की दृष्टि न तो महाकाव्यात्मक वीरचरित नायक की उद्भावना करने में सक्षम है और न ही भक्तिकालीन अलौकिक राम की अवतारणा में रम सकती है। इसलिये कवि अलौकिक राम को मानवीय परिधान में वेष्टित करते हैं। तुलसी के राम में जहाँ भगवान की पावनता का चित्रण हुआ है, वहाँ गुप्त के राम में मानव को भगवान के पद पर आसीन किया गया है। चौहान ने अपनी दृष्टि से इस अन्तर को स्पष्ट किया है। राम-काव्य की परम्परा के कवि अयोध्या से वनगमन करते ही राम के साथ-साथ लंका तक गये हैं और अयोध्या को उन्होंने विस्मृत कर दिया है। उर्मिला विशेषकर उपेक्षित ही रह जाती है। गुप्त ने अपने कवि-गुरु द्विवेदी के आदेश का पालन करते हुए उर्मिला का साथ दिया है। चौहान को साकेत में तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलनों की अनुगूँज भी सुनाई देती है, जैसे—उर्मिला द्वारा सैनिकों को अहिंसा की शिक्षा देना, प्रजा के अधिकारों की चर्चा करना, राम के वनगमन पर साकेतवासियों का सत्याग्रह आदि का प्रतिपादन करना।[1] मैथिलीशरण गुप्त गौणतः गीतकार और

१. काव्यधारा : पृ १५.

प्रमुखतः आख्यानकार हैं। इन्होंने दो महाकाव्यों तथा उन्नीस खण्ड-काव्यों की रचना की है। इनकी काव्य-वस्तु का क्षेत्र विस्तृत रहा है और इनकी काव्य-शैलियाँ भी काव्य-वस्तु के अनुरूप विविधता को लिये हुए हैं। इन्होंने प्रबन्ध, मुक्तक तथा गीति-काव्य तीनों की रचना की है। मुक्तक तथा गीति-काव्य में इनकी सिद्धि पर प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है अथवा इसे संदेह की दृष्टि से आँका जा सकता है, परन्तु प्रबन्ध काव्य के क्षेत्र में इन्हें असफल नहीं कहा जा सकता। इनके काव्य की वस्तुगत तथा शैलीगत उपलब्धियों के सम्बन्ध में भारी मतभेद पाया जाता है, परन्तु इनके काव्य की सीमाएँ नितान्त स्पष्ट हैं। इनकी रचनाओं के मूल में कवि की मंगल-मूलक अथवा समष्टि-मूलक जीवन-दृष्टि है जिससे इनकी कविता का स्वरूप रूपायित है। इनमें सौन्दर्यमूलक अथवा व्यक्तिमूलक अनुभूति दबकर रह जाती है; लक्षणा-मूलक एवं व्यजंना-मूलक अभिव्यक्ति अभिधा-मूलक शैली से पराभूत हो जाती है। इस कारण गुप्त का अधिकांश काव्य तुकान्त है, जन-साधारण तक पहुँचने के लिये अधीर है, लोक-मंगल की भावना से अनुप्रणित है; भारतीय संस्कृति की मानवतावादी व्याख्या करने के उद्देश्य से प्रभावित है, पुनरुत्थान के सुधारवाद, बुद्धिवाद तथा आदर्शवाद की मान्यताओं से प्रेरित है। इस प्रकार छायावाद से पहले कविता का स्वरूप वस्तुनिष्ठ एवं निर्वैयक्तिक है। सियारामशरण गुप्त तथा मुकुटधर पाण्डेय की काव्य-साधना उपदेश तथा सुधार के सीमित एवं संकुचित क्षेत्र से निकल कर भावलोक में विचरण करती दृष्टिगत होती है। सियारामशरण गुप्त की 'भेंट', विश्वास', 'शरणागत', 'गूढ़ाशय', 'माली', 'आह्वान' आदि रचनाओं में और मुकुटधर पाण्डेय की 'पन्थी', 'आँसू', विश्वबोध', 'नमक की डली' आदि कविताओं में कविता का स्वरूप वस्तुनिष्ठ की अपेक्षा आत्मनिष्ठ है। पाण्डेय की काव्य-रचनाओं में आत्मनिष्ठ होने की प्रवृत्ति अधिक

विकसित है। इनकी बाद की कविता में पौराणिक आख्यान, देश तथा समाज उसके उपजीव्य नहीं रहते। ओस तथा कुररी, आशा तथा निराशा, प्रेम तथा रहस्य आदि काव्य के विषय बन जाते हैं जिनमें आन्तरिक अनुभूतियों की प्रधानता तथा वस्तुचित्रण की गौणता मिलने लगती है। डॉ० आशा गुप्ता इनकी उद्‌गार (१९१८) नामक रचना को प्रगीत की कोटि में रखती हैं और इसका कारण इसमें आत्माभिव्यंजना की प्रधानता है।[1] वह प्रेम को पांडेय की रचनाओं का मूल स्वर घोषित करती हैं। इनकी कविता का अन्तर्मुखी होना, इसमें प्रेम की आत्मपरक अनुभूति की अभिव्यक्ति, इसकी रहस्यवादी भाव-धारा, इसमें अलंकार-विधान की नवीनता तथा अप्रस्तुत प्रतीक-विधान की योजना कवि को छायावाद के निकट ला देती है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता के द्वितीय उत्थान के आरंभिक चरण में अधिकांश रचनाएँ आख्यात्मक एवं अभिधात्मक हैं; इनमें विषय की विविधता होने पर भी शिल्प की एकरसता है। इसके अन्तिम चरण में काव्य की वस्तु तथा उसका शिल्प छायावादी कविता के लक्षणों को सूचित करने लगता है। छायावादी काव्यान्दोलन के मूल में सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों की विषमता, पाश्चात्य रोमांटिक तथा बँगला के भाव-प्रधान कवियों की कृतियों का प्रभाव, व्यक्ति-चिन्तन तथा सौन्दर्यवादी जीवन-दृष्टि का क्रमिक विकास आदि जो नियामिक शक्तियाँ तथा प्रेरक विचारधाराएँ हैं। इन्होंने इस कविता को एक नवीन दिशा दी है और इसके विकास के लिये एक नये पथ को प्रशस्त किया है।

५. छायावाद

आधुनिक हिन्दी कविता की छायावादी धारा का स्वरूप क्या है, इसकी वस्तुगत एवं शिल्पगत विशेषताएँ क्या हैं, इसकी

१. खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना : पृ० २५

उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ कौन-सी हैं ? इन प्रश्नों एवं समस्याओं के सम्बन्ध में आलोचकों तथा स्वयं कवियों ने अपने विचार तथा मत व्यक्त किये हैं जिनके आधार पर किसी एक मत को स्वीकार करना कठिन है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इसकी अनेक परिभाषाएँ बन चुकी हैं—जैसे रहस्यवाद का दूसरा नाम ही छायावाद है, रहस्यवाद का पहला रूप छायावाद है; स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह छायावाद है; छायावाद लाक्षणिक प्रयोगों, अप्रस्तुत विधानों और अमूर्त उपमानों को लेकर चलने वाली मात्र काव्य-शैली है; प्रकृति में मानवीय अथवा ईश्वरीय भावों के आरोप को ही छायावाद कहा जा सकता है; छायावाद एक संश्लिष्ट काव्यधारा है जिसकी मूल भावना व्यक्तिवाद से प्रेरित है और अन्तिम जो समझ में न आए उसे छायावाद की संज्ञा दी गई है। इन परिभाषाओं की विभिन्नता इतना तो सिद्ध करती है कि किस प्रकार ये असंगत अस्पष्ट अथवा एकांगी हैं और छायावाद के व्यापक स्वरूप का उद्घाटन करने में असफल हैं। छायावादी कविता को भारतीय काव्य-परम्परा का विकास भी माना गया है और साथ में पाश्चात्य तथा बँगला के रोमांटिक काव्य का अवांछनीय अनुकरण भी घोषित किया गया है। छायावादी कविता के जनक और पहली छायावादी रचना के सम्बन्ध में आलोचकों में भारी मतभेद पाया जाता है। इस काव्य के जनक होने का श्रेय मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, सियारामशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला को दिया गया है। रामनरेश त्रिपाठी ने स्वयं इसके जनक होने का अधिकार माँगा है। इस समस्या को छायावाद पर एक परिसंवाद के रूप में उठाया गया है और इसमें आलोचकों का बहुमत प्रसाद के पक्ष में है।[1] इतना अब निश्चित रूप से स्वीकृत है कि

१. अवन्तिका काव्यालोचनांक (१९५४) : पृ० १८५

छायावाद मात्र काव्य-शैली न होकर एक व्यापक काव्यांदोलन है अथवा स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति है जिसकी वस्तुगत एवं शिल्पगत विशेषताएँ हैं। आलोचकों की दृष्टि में कभी स्वच्छन्दतावाद तथा छायावाद एक ही काव्यधारा है तो कभी इनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। छायावाद को कभी एक विद्रोहात्मक स्वतन्त्र प्रवृत्ति के रूप में आँका जाता है तो कभी इसे द्विवेदीकालीन कविता का सहज एवं स्वाभाविक विकास स्वीकार किया जाता है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह सामाजिक विकास के परिवेश में आधुनिक हिन्दी कविता को पूँजीवाद तथा राष्ट्रीयता की कविता मानते हैं जो भारतेन्दु काल में अंकुरित, द्विवेदीकाल में पल्लवित तथा छायावादी काल में पुष्पित-फलित हुई है।[1] शिवदानसिंह चौहान ने इसी आधार पर उत्तर छायावादी कविता को ह्रासशील की संज्ञा देकर इसके पुष्पों के मुरझाने और फलों के सड़ने की सूचना दी है। इस कविता में अतृप्त वासना एवं दमित कामभावना की अभिव्यक्ति के कारण कुछ आलोचकों ने छायावाद को प्रच्छन्न शृंगार से युक्त मानकर इसे रीतिकालीन काव्य-शैली की कोटि तक में रख दिया है और इनमें विशेष अन्तर को नहीं देखा है। इनमें यदि कोई अन्तर है तो उसका आभास केवल छायावाद में प्रकृति-चित्रण को महत्त्व देने में उपलब्ध होता है। इस प्रकार छायावाद का विश्लेषण, विवेचन तथा मूल्यांकन न केवल आलोचकों की विभिन्न एवं परस्पर-विरोधी दृष्टियों का परिणाम है; परन्तु आलोचना के क्षेत्र में अराजकता की स्थिति का भी द्योतक है। छायावाद को मनोवैज्ञानिक आलोचना-पद्धति के आधार पर अतृप्त वासनाओं तथा दमित काम-भावनाओं की अभिव्यक्ति के रूप में आँका गया है, सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति के अनुसार इसे नवीन सांस्कृतिक चेतना की

---

१. अवन्तिका काव्यालोचनांक : पृ० २०१

अभिव्यंजना का प्रतीक स्वीकार किया गया है, मार्क्सवादी दृष्टि से इसे राष्ट्रीय जागरण तथा पूँजीवादी संस्कृति से सम्बद्ध किया गया है, समाज-मंगल की भावना की दृष्टि से इसे शैलीमात्र घोषित किया गया है। छायावाद के इस एकांगी मूल्यांकन में पारस्परिक विरोध तथा संकुलता का पाया जाना स्वाभाविक है। यह मान्य है कि इस काव्य-प्रवृत्ति में अतृप्त भावनाओं की अभिव्यक्ति है, नवीन संस्कृति का स्पन्दन है, व्यक्तिवाद का स्वर ध्वनित हुआ है, प्रकृति-चित्रण का महत्त्व है, नारी की नवीन कल्पना है, पीड़ा एवं अवसाद है, आशा एवं उत्साह है, विद्रोह एवं समन्वय है, सूक्ष्मता एवं अन्तर्मुखता है, प्रवृत्ति एवं पलायन है। छायावादी काव्य में अनेक असंगतियों तथा विसंगतियों से निर्मित वस्तुपक्ष की अभिव्यक्ति है। इसके अतिरिक्त इसकी विशिष्ट शैली है, अपना अलंकार-विधान तथा प्रतीक-विधान है, निजी भाषा और छन्दविधान है। यह भी सत्य है कि छायावादी कविता अप्सरामयी होते हुए भी आकाश से भी नहीं उतरी है, यह द्विवेदीकालीन कविता से निसृत है, परन्तु उससे नितान्त भिन्न है। आधुनिक हिन्दी कविता की प्रथम तथा द्वितीय उत्थान की रचनाओं के मूल में समाज-मंगल की भावना तथा समष्टि-चिन्तन है, परन्तु छायावादी कविताओं के मूल में व्यक्ति-हित तथा व्यक्ति-चिन्तन की जीवन-दृष्टि है। इसलिये इसका सौन्दर्य-बोध एवं जीवन-बोध उस कविता से भिन्न है। छायावाद से पहले मानव को (उस समय व्यक्ति-विशेष का विकास नहीं हो पाया था) समष्टि-चिन्तन के आधार पर आँका गया है और छायावाद में समाज अथवा समष्टि को व्यक्ति-चिन्तन की कसौटी पर परखा गया है। यह छायावाद की न केवल निजता अथवा विशेषता है, परन्तु इसकी मूल जीवन-दृष्टि है जो इसके वस्तु एवं शिल्प पक्ष को निरूपित करती है। इस पर उपनिषदों की विचारधारा, पाश्चात्य रोमांटिक काव्य की सौन्दर्यवादी तथा स्वच्छन्दतावादी दृष्टि तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सौन्दर्यमूलक एवं

रहस्यमूलक रचनाओं का प्रभाव भी पड़ा है। छायावाद रोमांटिक कविता का हिन्दी संस्करण होते हुए भी उसकी मात्र अनुकृति नहीं है। यह आधुनिक हिन्दी की एक नवीन तथा ऐतिहासिक आवश्यकता है, नये जीवन-मूल्यों को अभिव्यक्ति देने का प्रयास है। यह काव्यधारा विद्रोह का परिणाम होते हुए भी सृजन के प्रति सचेत एवं सचेष्ट है। इसमें अतीत के परीक्षित जीवन-मूल्यों के साथ आधुनिक युग-चेतना के सामंजस्य की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। छायावादी कवि ने जीवन की विषमता, जटिलता, कठोरता तथा संकुलता को अभिव्यक्ति देने के लिये साहस एवं पलायन का परिचय दिया है, व्यक्ति-विरोधी मान्यताओं से विमुख हो कर पहले निर्जन-प्रकृति में सन्तोष की साँस ली है और फिर धीरे-धीरे शक्ति-संचय करके रूढ़ियों के प्रति वैयक्तिक विद्रोह का शंखनाद किया है। इसलिये डॉ० नामवरसिंह ने छायावाद का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—'आत्मकथा' उसके काव्य का विषय बन गया है और 'मैं' उसकी शैली। इस निजता एवं आत्मनिष्ठता के मूल में कवि का समग्र व्यक्तित्व और युग का व्यक्ति-चिन्तन है। व्यक्ति-विकास के लिये कवि उन समस्त बन्धनों का घोर विरोधी है जो इस विकास को अवरुद्ध करते हैं। यह विद्रोह प्रायः दो रूपों में व्यक्त हुआ है—एक प्रतीकात्मक कविता के रूप में और दूसरे रूढ़िगत मान्यताओं, आदर्शों तथा जड़ काव्य-बन्धनों को तोड़ कर मुक्त एवं स्वतन्त्र रूप में। असंतोष ने जहाँ एक ओर मुक्तिकामी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को पुष्ट किया है वहाँ दूसरी ओर निराशा ने भाग्यवाद तथा दुःखवाद के स्वर को मुखर किया है।

आदि काल से स्त्री और पुरुष का प्रेम-सम्बन्ध काव्य की विषय-वस्तु इसलिये बनता आया है कि मानव-सम्बन्धों में प्रेम का सम्बन्ध केन्द्रीय एवं मूलभूत है। प्राचीन कवि निजी प्रेम-सम्बन्ध को वैयक्तिक रूप में व्यक्त करने से संकोच करता रहा है। वह इस सम्बन्ध को अभि-

व्यक्ति देने के लिये कभी अन्य पात्रों का आश्रय लेता रहा है, कभी इस पर धार्मिक आवरण डालता रहा है तो कभी नायक-नायिकाओं की ओट लेता रहा है। उसका दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ होने के कारण इसे आत्माभिव्यक्ति का रूप देने की अनुमति नहीं देता है। छायावादी काव्य में पहली बार इसे आत्माभिव्यक्ति का रूप देने का साहस किया गया है, परन्तु इसके साथ ही उस पर आवरण डालने के लिये प्रतीकों का आश्रय भी लिया गया है। इस आश्रय के कारणों में सामाजिक बन्धनों की कठोरता, व्यक्ति-चिन्तन की अपुष्टता, कवि की निजी कातरता, भारतीय आदर्श की परम्परा आदि की गणना हो सकती है। पंत तथा निराला खुल कर रूढ़ियों का विरोध करते हैं, महादेवी में नारी होने के कारण साहस का अभाव है और प्रसाद में भारतीय संस्कृति के उपासक होने के कारण संकोच का भाव है। एक ओर पंत ने 'उच्छ्वास' 'आँसू की बालिका' में आत्मगत प्रणय को उन्मुक्त रूप में व्यक्त किया है और दूसरी ओर प्रसाद ने 'आँसू' के संशोधित संस्करण में व्यक्तिगत प्रेम की अभिव्यक्ति पर आध्यात्मिक आवरण डाल दिया है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह छायावादी काव्य में प्रेम के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं :—'प्रेम इस युग में शारीरिक से अधिक आध्यात्मिक बन गया।'[1] इनका मन्तव्य है कि छायावाद में रति-भावना का स्वरूप मानसिक है और प्रकृति तथा अध्यात्म में इसका प्रसार हुआ है। कवि प्रेम के उदात्त एवं आदर्शमूलक स्वरूप का चित्रण करने में व्यस्त है। यह उदात्त स्वरूप इससे पहले हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' तथा रामनरेश त्रिपाठी के खण्ड काव्यों में भी लक्षित होता है जिसे छायावाद ने परम्परा में प्राप्त किया है। प्रसाद, पंत, निराला तथा महादेवी की रचनाओं में प्रेम का स्वरूप मूलतः आदर्शवादी है। इस उदात्तीकरण की प्रवृत्ति के

---

१. छायावाद-युग : पृ० ११३

फलस्वरूप कवि का व्यक्तिगत प्रेम विश्वप्रेम तथा प्रकृति-प्रेम के रूप में परिणत हो जाता है। पंत के लिये प्रिय की छवि समस्त प्रकृति में व्याप्त हो जाती है और वह कह उठते हैं—

प्रिये कलि-कुसुम-कुसुम में आज
मधुरिमा, मधु सुषमा, सुविकास,
तुम्हारी रोम-रोम-छवि व्याज
छा गया मधुवन में मधुमास!

इसी प्रकार प्रसाद का प्रिय इतना सुन्दर है कि वह स्वयं अपने रूप पर मुग्ध हो सकता है—

देखकर जिसे एक ही बार हो गये हम भी अनुरक्त
देख लो तुम भी यदि निज रूप तुम्हीं हो जाओगे आसक्त

प्रसाद के लिये प्रिय का मिलन समस्त संसार को आनन्दमय बनाने की क्षमता रखता है। इन पंक्तियों में प्रिय का जो स्वरूप चित्रित है उसके मूल में कवि की आदर्शमूलक जीवन-दृष्टि है। आदिकाल से काव्य के लिये प्रेम का विषय तो शाश्वत है, परन्तु इसके प्रति कवि तथा युग की दृष्टि बदलती रही है। इसकी वस्तु में अन्तर आता गया है। इसलिये काव्य-विषय तथा काव्य-वस्तु में अन्तर को स्वीकार करना आवश्यक है। मैथिलीशरण गुप्त तथा पुनरुत्थान काल के अन्य कवियों की रचनाओं में प्रेम का स्वरूप उदात्त होने के अतिरिक्त लौकिक है, उसपर आध्यात्मिक आवरण डालने का प्रयास नहीं है। वह आत्मनिष्ठ होने की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ है, वैयक्तिक होने की अपेक्षा पारिवारिक है, उन्मुक्त होने की अपेक्षा नियन्त्रित है। इस नियन्त्रण को रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय आदि ने शिथिल करने का प्रयास अवश्य किया है। छायावाद कविता में विद्रोह की भावना ने प्रेम को उन्मुक्त एवं वैयक्तिक अभिव्यक्ति देने की प्रेरणा अवश्य दी है, परन्तु सामाजिक बन्धनों की कठोरता के फलस्वरूप इसे प्रायः संकेतात्मक, प्रतीकात्मक

तथा रहस्यात्मक वाणी मिली है। प्रसाद के काव्य में अथ से इति प्रेम का स्वर ध्वनित होता है। इसका स्वरूप स्वच्छन्द, उदात्त एवं आदर्शमूलक है। इसकी अभिव्यक्ति 'प्रेम पथिक' में उपलब्ध हो जाती है—

किन्तु न परिमित करो प्रेम,
सौहार्द; विश्वव्यापी कर दो।

कवि वासनामय प्रेम की विफलता को अनुभव कर इसका परिष्कार करते हैं। इसलिये वह प्रेम को दो हृदयों के मधुर-मिलन के रोमांटिक रूप में चित्रित करते हैं। प्रसाद के काव्य में प्रेम की भावना दो व्यक्तियों में प्रणय तक सीमित न हो कर समस्त विश्व में व्याप्त होने लगती है। मनु को प्रेम करने वाली श्रद्धा मानवता से प्रेम करती है। इसी भाँति 'आँसू' में भी जो मूलतः प्रेम-काव्य है प्रेम-जन्य विरह व्यक्ति के हृदय से निसृत हो कर विश्व-मानव के हृदय को स्पर्श करने की ओर उन्मुख है। इसमें लौकिक प्रेम का स्वर आध्यात्मिक आभास भी देने लगता है। 'प्रेम-पथिक' में प्रेम की आदर्शमयी व्याख्या है, 'झरना' में विफल प्रणय का प्रसार है जो स्वाभाविक, सजीव, मांसल होते हुए भी अन्ततः प्रकृतिमय रूप धारण कर लेता है। इस विफल प्रेम की स्मृति कवि को 'आँसू' लिखने के लिये प्रेरित करती है। इसके पहले संस्करण में प्रेम का आधार लौकिक था, परन्तु इसके संशोधित संस्करण में कवि ने संकोचशील स्वभाव तथा भारतीय संस्कृति की परम्परा के कारण इसे अलौकिक धरातल पर व्यक्त किया है जिससे इसका आत्मनिष्ठ स्वरूप विकृत हुआ है और अभिव्यक्ति की तीव्रता में भी शिथिलता का समावेश हुआ है। इस प्रकार प्रसाद ने लौकिक तथा वासनामय प्रेम का परिष्कार एवं उन्नयन किया है जिसका विकास न केवल 'कामायनी' में स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध होता है, परन्तु जो प्रसाद के काव्य का मूल सूत्र एवं इतिहास है। अन्य छायावादी कवियों में पंत प्रेम के सख्य भाव को

अभिव्यंजना देते हैं और आँसू की बालिका को एक मनोरम मित्र के रूप में चित्रित करते हैं। नारी से मित्रता का सम्बन्ध भारतीय साहित्य न पढ़ने के कारण पाश्चात्य संस्कृति की देन माना गया है और पंत ने पहली बार इस सम्बन्ध को व्यक्त किया है जिसमें रूढ़िगत मान्यताओं का विरोध पाया जाता है। इसलिये एकान्तवासी पंत प्रकृति से अनुरोध करते हैं—

हाँ सखि, आओ बाँह खोल हम
लग कर गले, जुड़ा लें प्राण।

इनके काव्य में प्रेम का स्वरूप इनकी नारी-कल्पना के सामान प्रायः पावन, उदात्त, वायवी, स्वप्निल, कल्पनामय तथा प्रकृतिमय है। इसकी गहरी अनुभूति तथा सहज अभिव्यक्ति 'उच्छ्वास', 'आँसू की बालिका' तथा 'ग्रन्थि' में उपलब्ध होती है। 'वीणा' में कवि जहाँ किसी किशोरी के केशपाश में अपने लोचन उलझाने के लिये तैयार नहीं है 'ग्रंथि' में वहाँ उसकी आत्मा भी नारी-प्रेम में इतनी उलझ जाती है कि असफल प्रेम की सघन वेदना उसके व्यक्तित्व को अस्तव्यस्त कर देती है। इस खण्ड काव्य में कवि ने सामाजिक बन्धनों पर कठोर आघात किया है जो नारी-पुरुष के सहज एवं पुनीत प्रेम को पनपने नहीं देते। इस प्रेम का स्वरूप कैशोर है जिसका चित्र 'मनोरम मित्र' में अंकित है। पंत वस्तुतः कल्पना-प्रधान कवि हैं। इसलिये इनके काव्य में रतिभाव न तो प्रसाद की मधुचर्या से युक्त है और न ही निराला के उद्दाम आवेग से उद्वेलित है। इनका प्रेम नारी की कोमलता, सुकुमारता तथा संयम के कारण भड़कता नहीं है, सुलग कर रह जाता है। इसलिये इसे स्त्रैण प्रेम की संज्ञा से मंडित करना असंगत न होगा। निराला के उद्दाम आवेग का परिचय 'जूही की कली' में ही मिल जाता है जब समीर अधीर हो कर जूही की कली को जगाने के लिये उसकी पंखड़ियों को मसल देता है। नायक द्वारा नायिका की देह का झकझोरा जाना उद्दाम

आवेग का ही द्योतक है। नायक के पौरुष के लिये नायिका की उपेक्षा असहनीय है। निराला की 'शेफालिका' में भी प्रणय की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप में उभरती है। प्रेम के प्रति कवि के दृष्टिकोण का परिचय 'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसीदास', 'सरोज-स्मृति' आदि रचनाओं में उपलब्ध होता है। 'राम की शक्ति पूजा' में एक ओर 'नयनों का नयनों से गोपन-प्रिय-सम्भाषण, पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान पतन है' और दूसरी ओर 'तुलसीदास' में वासनामय प्रेम का उदात्तीकरण है। 'सरोज-स्मृति' में प्रेम के वत्सलभाव की अभिव्यंजना कवि के साहस तथा विद्रोही व्यक्तित्व का परिणाम है। निराला के काव्य में व्यक्तिगत प्रेम की परिणति समष्टिगत करुणा में होती है। इसी प्रकार महादेवी के काव्य में प्रेम की जो पीड़ा व्यक्त हुई है वह गहन एवं अनुपम है और कठोर रूढ़ि-बन्धनों में जकड़ी हुई भारतीय नारी का क्रन्दन है। इसलिए शिवदानसिंह चौहान इनके वेदना के गीतों में सामाजिक वेदना की अनुगूँज सुनते हैं।[1] छायावादी काल में जिस वैयक्तिक स्वच्छन्द प्रेम की भावना से पुरुष प्रभावित हुआ है उसे पाने का अधिकार नारी को भी है, परन्तु वह सामाजिक बन्धनों से अधिक ग्रस्त होने के कारण स्वच्छन्द प्रेम को अभिव्यक्ति देने में अधिक विवश है। इसलिए महादेवी में चीत्कार एवं क्रन्दन का स्वर अधिक तीव्र है। वह लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति को प्रतीकात्मक रूप देने के लिये अधिक बाधित हैं। इनके काव्य में प्रेम का स्वरूप लौकिक है अथवा अलौकिक इस सम्बन्ध में गहरा मतभेद पाया जाता है। इनके दुःखवाद को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अतृप्त कामवासना का परिणाम बताया गया है और सामाजिक दृष्टि से इसे सामाजिक बन्धनों में जकड़ी हुई भारतीय नारी के क्रन्दन को निरूपित किया गया है, रहस्यवादी दृष्टि से आध्यात्मिक अनुभूति से

---

१. काव्यधारा—पृ० ३४

जोड़ा गया है। प्रेम का जीवन क्यों विरह तथा वेदना का जीवन बन जाता है—इसका अनुशीलन अभी अपेक्षित है। उठे हुए जीवन में मीरा तथा गिरधर, कबीर तथा साहब और लौकिक जीवन में लैला तथा मजनूँ के प्रेम में अन्तर नहीं रह जाता। इसी प्रकार का प्रेम महादेवी तथा उनके चिर सुन्दर में उपलब्ध होता है। इसलिये महादेवी के काव्य में प्रेम की अभिव्यक्ति माधुर्य-भाव से युक्त है। महादेवी के प्रेम में गोपियों की छेड़-छाड़ या हास-परिहास का अभाव है। इसका स्वरूप अत्यन्त गम्भीर एवं उदात्त है। इस गम्भीर एवं उदात्त प्रेम की अभिव्यक्ति अन्य छायावादी कवियों की रचनाओं में भी मिल जाती है, परन्तु इसमें सूक्ष्मता, एकरसता, एकतानता, रहस्यात्मकता आदि इसकी निजी विशेषताएँ हैं। इसके मूल में महादेवी की सौन्दर्यवादी तथा स्वच्छन्दतावादी जीवन-दृष्टि है जो वैयक्तिक अनुभूति के तल पर प्रेम की विविध स्थितियों को वाणी देती है। यह जीवन-दृष्टि छायावादी प्रेम के स्वरूप को निरूपित करती है।

इस जीवन-दृष्टि से छायावादी नारी का स्वरूप तथा प्रकृति-चित्रण भी निरूपित है। छायावादी कवियों की कृतियों में जिस प्रकार प्रेम के स्वरूप तथा उसकी अभिव्यक्ति में सूक्ष्म अन्तर पाया जाता है, उसी प्रकार उनकी नारी-कल्पना तथा प्रकृति-चित्रण में भी सूक्ष्म भेद पाया जाता है। यह अन्तर गुणात्मक न हो कर व्यक्तिगत संस्कारों तथा अनुभूतियों का परिणाम है। प्रसाद, निराला तथा पंत के लिये नारी श्रद्धामयी, कल्पनामयी, अप्सरामयी, आदर्शमयी, प्रेरणामयी, आदि है। इसलिये छायावाद की अधिकांश रचनाओं में नारी-सौन्दर्य की अवतारणा इनके व्यक्ति-चिन्तन तथा आदर्शवादी दृष्टि से प्रभावित है। इसी प्रकार प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी ने प्रकृति के प्रायः दिव्य तथा चेतनामय स्वरूप को ही निखारा है। इसकी अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में सूक्ष्म अन्तर के होते हुए भी इन कवियों का सौन्दर्य-बोध

लगभग समान है। पंत की नारी सम्बन्धी कल्पना अधिक वायवी है, प्रसाद की नारी स्पर्श का विषय न हो कर अनुभूति की वस्तु है, निराला की नारी में न पंत का वायवीपन है और न ही प्रसाद की मादकता है। इन कवियों ने नारी का भाव-चित्रण ही किया है, नारी सम्बन्धी अपनी मानसिक प्रतिमा का ही सृजन किया है। इसलिये इनकी नारी वस्तुनिष्ठ न हो कर आत्मनिष्ठ है, मांसल न हो कर सूक्ष्म है। नारी का चित्रण प्रायः कल्पनामय और प्रकृति का चेतनामय बन गया है। कवियों ने प्रकृति में चेतन व्यक्तित्व के आरोप द्वारा अपने हृदय की सौन्दर्य-भावना को मूर्त किया है। नारी-सौन्दर्य के चित्रण में उपमाओं की निधि तो अनेक कवियों ने लुटाई है, परन्तु छायावादी कवियों ने जो नारी का रूप अंकित किया है उसके सम्मुख पुरातन काव्य में रूढ़ उपमाओं से अलंकृत नारी हेय है। पंत की अप्सरा नितान्त कल्पनामयी है और उनके लिये पत्नी भावी बनी रही है। इनके लिये नारी सहचरी, देवी तथा माँ है और उसके स्पर्श मात्र से कवि को गंगा-स्नान की पावन अनुभूति का भान होता है। इस आदर्शवादी सौन्दर्य-बोध का आभास नारी-चित्रण के अतिरिक्त प्रकृति-चित्रण में भी उपलब्ध होता है। इस क्षेत्र में पंत की देन अद्वितीय है। आलोचकों ने इनके प्रकृति-चित्रण में एक विशिष्ट जीवन-दर्शन को खोजने का प्रयास किया है और प्रकृति के प्रति इनके विकासशील दृष्टिकोण को एक व्यवस्थित रूप देने का भी प्रयत्न किया है। प्रकृति से निकटतम सम्बन्ध होने के कारण वह प्रकृति के उपासक ही नहीं रहे हैं, अनन्य मित्र भी हैं। वह जब प्रकृति को निहारते हैं तो इनके दृगों में विश्व-सुषमा से युक्त नारी छा जाती है। जब वह नारी की सुषमा का पान करते हैं तब उनके सामने प्रकृति की सुन्दरता बिखर जाती है। कवि के चिन्तन एवं मनन के फलस्वरूप प्रकृति-चित्रण में एक रहस्यमय चेतना का आभास होने लगता है। वह प्रकृति में उस शक्ति का भान पाने लगते

हैं जो जीवन और जगत को नियन्त्रित करती है। सरिता के भी आत्मा है जिससे सरिता को अस्तित्व मिलता है। प्रकृति के प्रति इस दृष्टिकोण को तथा उसके इस चित्रण को प्राकृतिक रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है जिससे कवि की प्रकृति के अन्तर में व्याप्त किसी चेतन शक्ति का आभास प्राप्त होता है। उसकी उत्कण्ठा बढ़ने लगती है और वह पुकार उठता है—

मैं चिर उत्कण्ठातुर
जगती के अखिल चराचर
ये मौन मुग्ध किसके बल !

पंत के प्रकृति-चित्रण का स्वरूप विकासशील रहा है। 'वीणा' में प्रकृति-चित्रण भाव-प्रधान है, 'पल्लव' में कल्पना-प्रधान है और 'गुंजन' में विचार-प्रधान है। इसके प्रति कवि का दृष्टिकोण सखा का न हो कर दार्शनिक का हो जाता है; उपासक का न हो कर विचारक का बन जाता है। इस प्रकार वह भाव से कल्पना, कल्पना से विचार की ओर उन्मुख हुए हैं। यह पंत-काव्य में प्रकृति-चित्रण का वस्तुपक्ष है। इसके शिल्प-पक्ष में प्रकृति का मानवीकरण, उसके चित्रण में समासोक्ति-पद्धति, अन्योक्ति-पद्धति, प्रतीक-पद्धति आदि आते हैं। वस्तु-पक्ष में प्रकृति साध्य है और शिल्प-पक्ष में वह साधन है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का उपयोग अलंकरण के रूप में हुआ है। इस प्रकार वस्तुपक्ष तथा कला-पक्ष की दृष्टि से प्रकृति पंत के काव्य का अभिन्न अंग है। आरंभ में वह कवि की जीवन-साधना है और बाद में वह इनकी जीवन-साधना का माध्यम बनी है। इनके काव्य-विकास के अनुरूप ही प्रकृति के प्रति इनके दृष्टिकोण में अन्तर आता गया है। इनके काव्य में प्रकृति का इतना महत्त्व एवं स्थान है कि इसे प्रकृति-काव्य की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। इस कारण इनके काव्य का मूल्यांकन भी प्रकृति-चित्रण के विकास के आधार पर भी संगत माना जाता है।

निराला तथा महादेवी की कविताओं में प्रकृति-चित्रण उद्दीपन, आलम्बन, अलंकरण तथा परोक्ष सत्ता की अभिव्यक्ति के रूपों में उपलब्ध होता है। निराला ने प्रकृति में चेतन सत्ता का आरोप कर आलम्बन रूप में उसका चित्रण 'संध्या-सुन्दरी' में किया है—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
यह सन्ध्या सुन्दरी परी सी
धीरे-धीरे-धीरे !

कवि ने प्रकृति को मानव-जीवन की सहयोगिनी स्वीकार कर उसके उपकरणों को भी विरहिणी नायिका के समान उदास स्थिति में चित्रित कर उद्दीपन-शैली का परिचय दिया है। निराला ने परोक्ष की अभिव्यक्ति के लिये प्रायः प्रतिबिम्ब, प्रतीक एवं संकेत के रूप में प्रकृति का चित्रण अधिक किया है। 'तू और मैं' नामक कविता में प्रतीक-शैली को अपनाया गया है। महादेवी ने आलम्बन, उद्दीपन, अलंकरण तथा प्रतिबिम्ब-प्रतीक-संकेत के माध्यम से परोक्ष सत्ता को अभिव्यक्ति देने के लिये प्रकृति-चित्रण को विशेष महत्त्व दिया है। इनकी कविता में प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण अपवाद रूप में हुआ है। हिमालय पर एक कविता इसका उदाहरण मानी जाती है। इन्होंने प्रकृति के रूपों, दृश्यों तथा उपकरणों को एक चेतन व्यक्तित्व दिया है। प्रकृति इनके साथ इनके प्रियतम के प्रति आत्मनिवेदन में साथ देती है। वह अपने प्रियतम का आभास जगत की चेतना से दूर हो कर पाती हैं—'सजनि कौन तम में परिचित सा सुधि सा छाया सा आता'। इसी भाँति प्रतीक के रूप में प्रकृति-चित्रण महादेवी-काव्य की विशिष्टता है—'रूपसि तेरा घन-केश-पाश।' इसमें मानवीकरण शैली द्वारा प्रकृति में परोक्ष-सत्ता का आभास मेघों के प्रतीक से मिलता है। इस सत्ता के रहस्यमय रूप को व्यक्त करने के लिये संकेत-शैली का भी आश्रय लिया गया है—

मुसकाता संकेत भर नभ
अलि, क्या प्रिय आने वाले हैं ?

महादेवी उस विराट की छाया प्रकृति में देखती हैं, उस तक पहुँचने की साधना के पथ पर प्रकृति सदैव इनके साथ रही है। वह छायावाद तथा प्रकृति के नये सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखती हैं—'छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के सम्बन्ध में प्राण डाल दिए जो प्राचीनकाल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी।' इस प्रकार प्रकृति महादेवी के काव्य के भाव-पक्ष का नहीं कला-पक्ष का भी शृंगार करती है जिसमें नारी की अलंकार-प्रियता लक्षित होती है। इन्होंने ससीम तथा असीम में तादात्म्य स्थापित करने के लिये प्रकृति को माध्यम एवं साधन भी बनाया है। इनके काव्य में प्रकृति तथा पीड़ा दोनों का इष्ट की सिद्धि के लिये समान महत्त्व है। इस सम्बन्ध में वह अपनी गहन एवं पैनी दृष्टि का परिचय इन शब्दों में देती हैं—'जड़ चेतना के बिना विकासशून्य है और चेतन जड़ के बिना आकारशून्य है।' महादेवी के काव्य में प्रकृति-चित्रण तथा प्रकृति-दर्शन का यह मूलाधार है। छायावादी काव्य की प्रेम-भावना, नारी-भावना, प्रकृति-चित्रण आदि को रूपायित करने वाली सौन्दर्यवादी जीवन-दृष्टि तथा व्यक्ति-चिन्तन की शक्तियाँ हैं। इन नवीन सौन्दर्य-बोध का स्वरूप आत्मगत तथा आत्मपरक है और व्यक्ति-चिन्तन का धरातल यथार्थवाद न हो कर आदर्शवाद है। छायावादी काव्य के तत्त्व-चिन्तन में अद्वैतवाद को इसलिये अपनाया गया है कि इसमें आत्म-चिन्तन तथा समतामूलक भावना के लिये अधिक अवकाश है। छायावादी काव्य में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति, स्वतन्त्रता की चेतना, विद्रोह की भावना, कल्पनाशीलता, भावप्रवणता, अन्तर्मुखता, वैयक्तिकता, आदर्शवादिता, आदि लक्षणों की गणना की जाती है जो इसके वस्तुपक्ष को निर्धारित

करते हैं। इन लक्षणों के मूल में व्यक्ति-चिन्तन, व्यक्ति-हित की विचार-धारा अथवा जीवन-दृष्टि है जो कवि को नया जीवन-बोध तथा सौन्दर्य-बोध प्रदान करती है। इस वैयक्तिक सरगम के आधार पर वह छायावादी संगीत की सृष्टि करता है जिसमें अनेक सम-विषम स्वरों का समावेश है।

इस नवीन काव्य-वस्तु को अभिव्यक्ति देने के लिये नये माध्यम अथवा शिल्प की अपेक्षा है, इस संगीत की सृष्टि के लिये नवीन राग-रागनियों की आवश्यकता है। छायावादी कविता की वस्तु जिस प्रकार मूलतः एवं अन्ततः व्यक्ति-चिन्तन की जीवन-दृष्टि से रूपायित है, उसी प्रकार इसके शिल्प के मूल में भी व्यक्ति-चिन्तन की विचाराधारा है। काव्य-वस्तु तथा काव्य-शिल्प का सम्बन्ध अभिन्न एवं अटूट होता है, काव्यानुभूति के अनुरूप ही काव्याभिव्यक्ति का स्वरूप बनता है। शिल्प-पक्ष के अंगों में भाषा एवं शब्द-चयन, अलंकार एवं प्रतीक, छन्द एवं लय की गणना की जाती है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दतावादी चेतना के परिणामस्वरूप कला-पक्ष में रूढ़िगत भाषा, अलंकार, प्रतीक, छन्द आदि का विरोध होना स्वाभाविक है। कवि नवीन काव्य-वस्तु को व्यक्त करने के लिये वैयक्तिक अलंकारों, छन्दों आदि की योजना में संलग्न है। वह स्वच्छन्द कल्पना का आश्रय ले कर वैयक्तिक स्तर पर इनकी सृष्टि करता है। इस कल्पना का स्वरूप मध्ययुगीन कल्पना से भिन्न है। मध्ययुगीन कल्पना में विवेक एवं संयम है, सादृश्य वस्तुओं का संघटन है, आधुनिक कल्पना में मानवीकरण, स्वतन्त्र चित्रों की प्रधानता तथा स्वच्छन्द उड़ान है। मध्ययुगीन कल्पना का परिवेश ससीम और छायावादी कल्पना का असीम है। इसलिये छायावादी कवि ने नये बिम्बों तथा प्रतीकों की सृष्टि की है जिनका प्रकृति के क्षेत्र से चयन किया गया है। प्रकृति के अतिरिक्त इतिहास, पुराण, दर्शन आदि से भी इन चित्रों को लिया गया है; परन्तु इन चित्रों को नया रंग दिया गया है। इसी तरह पुराने प्रतीकों अथवा रूपकों को भी नये अर्थ से युक्त किया गया है।

निराला की कविताओं में बिम्बों का स्वरूप व्यापक है। इनका चयन जीवन के विविध क्षेत्रों से किया गया है। पंत के चित्रण का कौशल रूप, रंग, स्पर्श, गंध से सम्बद्ध विशेषणों के प्रयोग में लक्षित होता है। महादेवी की रचनाओं में सौन्दर्यमूलक बिम्बों की अपेक्षा प्रतीकों की वैयक्तिक साधना अधिक है। छायावादी काव्य में अनेक प्रकार के बिम्बों का प्रयोग हुआ है जिनमें अलंकार-प्रधान बिम्ब, उदात्त बिम्ब, संवेदनात्मक बिम्ब, घनात्मक बिम्ब, नाद-प्रधान बिम्ब आदि की गणना की गई है। अलंकार-प्रधान बिम्ब काव्य की सज्जा के लिये, उदात्त बिम्ब विषय तथा असाधारण भावों के चित्रण के लिये, संवेदनात्मक बिम्ब रहस्य की अभिव्यक्ति के लिये, घनात्मक बिम्ब जिज्ञासा की अभिव्यंजना के लिये, नाद-प्रधान बिम्ब संगीत की सृष्टि के लिये प्रयुक्त हुए हैं। इन बिम्बों के माध्यम से छायावादी काव्य में चित्रात्मकता एवं मूर्तिमत्ता की प्रधानता है। प्रतीक-योजना में भी छायावादी कवि ने नवीन-दृष्टि का परिचय दिया है। प्रतीक तथा बिम्ब में अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० केदारसिंह का मत है—'बिम्ब अपेक्षाकृत स्वच्छन्द और नाना अर्थ व्यंजक होते हैं जब कि प्रतीक नियत और अचूक रूप से एकार्थ व्यंजक होते हैं। प्रतीक अपेक्षाकृत अधिक परम्परागत और समाज-स्वीकृति-सापेक्ष होते हैं।'[1] इससे आशय यह है कि बिम्ब का अनेक बार प्रयोग उसे प्रतीक बना देता है, उसका अर्थ निश्चित हो जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में वाच्यार्थ में बिम्ब और व्यंग्यार्थ में प्रतीक का प्रयोग होता है। महादेवी के बिम्ब बार-बार प्रयुक्त होने पर प्रतीकगत हो जाते हैं। इनका दीप इस प्रक्रिया का उदाहरण है। छायावादी काव्य में जातिगत तथा व्यक्तिगत प्रतीक-विधान है, परन्तु जातिगत प्रतीकों का भी वैयक्तिक स्तर पर प्रयोग हुआ है। शून्य एवं स्वस्ति का चिह्न जातिगत प्रतीक

---

१. कल्पना और छायावाद, पृष्ठ ७६।

हैं। रहस्य-चेतना की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का विशेष रूप से उपयोग किया गया है। छायावादी कविता में परम्परागत, प्राकृतिक, आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक प्रतीक उपलब्ध होते हैं, परन्तु इसमें स्वच्छन्द प्रतीकों की प्रधानता है। प्रसाद में परम्परागत, निराला में आध्यात्मिक, महादेवी में रहस्यात्मक और पन्त में प्राकृतिक प्रतीकों की प्रमुखता लक्षित होती है। इनकी प्रतीक-योजना में सौन्दर्यवादी जीवन-दृष्टि की प्रेरणा है, आदर्शवादी दृष्टिकोण की झलक है तथा वैयक्तिक कल्पना की उड़ान है जो इन्हें नवीन अर्थों से युक्त करती है।

बिम्ब एवं प्रतीक-विधान के अतिरिक्त अलंकार-विधान छायावादी कवियों की सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये साधन मात्र है। इनकी सौन्दर्यानुभूति आत्मगत एवं आन्तरिक है। अलंकार सौन्दर्य की अभिवृद्धि करता है। इसलिये छायावादी कवि के लिये अलंकार का महत्त्व होना स्वाभाविक है। कवियों ने शब्द तथा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने वाले दोनों प्रकार के अलंकारों का उपयोग किया है। इस उपयोग में कवियों ने वैयक्तिक रुचि तथा सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति और श्लेष की प्रधानता है। यमक, अनुप्रास, श्लेष आदि शब्दालंकारों का प्रयोग विरल है, अधिकतर अर्थालंकार ही दृष्टिगत होते हैं। छायावादी कवियों को आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति अभीष्ट रही है। इसलिये इन्हें शब्दों में चमत्कार उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। भावों की सूक्ष्मता तथा संश्लिष्टता के साथ ही भाषा स्वयं अलंकृत एवं संश्लिष्ट हो जाती है। इसलिये पंत ने अलंकारों के गुण को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं वरन भाव की अभिव्यक्ति के लिये भी विशेष द्वार है, भाषा की पुष्टि के लिये राग की पूर्णता के लिये आवश्यक उपादान है।' इसलिये भाव-सौन्दर्य तथा रूप-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये छायावादी कविता में सभी

अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है; परन्तु भारतीय अलंकारों में उपमा, रूपक उत्पेक्षा को और पाश्चात्य अलंकारों में मानवीकरण तथा विशेषण-विपर्यय को विशेष महत्त्व दिया गया है। उपमा की योजना में अनूठी छटा देखने को मिलती है। छायावादी उपमा में मूर्त प्रस्तुत के लिये अमूर्त अप्रस्तुत का प्रयोग आन्तरिक एवं सूक्ष्म रूप तथा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये विशेष रूप से नवीन है। प्रसाद तथा पंत की कविताओं में यह प्रवृत्ति लक्षित है। उपमा के क्षेत्र में विरोध की अपेक्षा सादृश्य की योजना को अधिक महत्त्व मिला है और सादृश्य का आधार भी प्रभाव-साम्य है। प्रभाव-साम्य से अनुप्राणित उपमा छायावादी कविता की निजी विशेषता बन गई है। पंत ने जल की बूँद की समानता के लिये सुकुमारता, गान, चाह, सुधि, स्वप्न आदि अरूप एवं भावात्मक अप्रस्तुत की कल्पना 'ग्रन्थि' में की है—

जब अचानक अनिल की छवि में पला
एक जल-कण, जलद-शिशु सा, पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता-सा, गान-सा,
चाह-सा, सुधि-सा, सगुन-सा, स्वप्न-सा।

इस तरह उपमाओं की माला गूँथ कर कवि ने सौन्दर्य की व्यंजना के लिये स्वप्न की मधुरता, चाह की सहजता, गान की संगीतमयता का संकेत कर प्रभावगत साम्य उत्पन्न किया है। छायावादी कवि के साम्य का स्वरूप रीतिकालीन कवि की भाँति विश्लिष्ट न हो कर संश्लिष्ट है। प्रसाद श्रद्धा के रूप-सौन्दर्य का चित्र भी संश्लिष्ट रूप में अंकित करते हैं—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अध-खुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

इस चित्रण में साम्य-विधान की योजना प्रभाव को उत्पन्न करने के उद्देश्य से प्रेरित है। महादेवी के काव्य में उपमा का प्रयोग प्रभाव-साम्य तथा वर्ण-साम्य दोनों के लिये हुआ है और यह प्रभाव संकेतित है—

बिखर जाती जुगुनुओं की पाँति भी
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी।

इन पंक्तियों में वर्ण तथा प्रभाव दोनों का गुम्फन है। केवल प्रभाव-साम्य 'दीप शिखा' की पंक्तियों में दृष्टिगत होता है—

तड़ित है उपहार तेरा
बादलों सा प्यार मेरा

बादल से प्रेम की उपमा देने से व्यथा की श्यामता, आँसू की सजलता, आवेग की घुमड़न, पीड़ा की बिजली, जीवन की अस्थिरता और परहित की साधना आदि के संकेत मिल जाते हैं। छायावादी कविता में इस सादृश्य-योजना का चरम विकास हुआ है। इसकी चरम परिणति मानसिक स्थितियों तथा भाव-प्रवृत्तियों के चित्रण में उपलब्ध होती है। प्रसाद ने 'कामायनी' में लजा, वासना, काम आदि भाव-वृत्तियों को साकार बनाने के लिये सादृश्य-योजना से सहायता ली है। निराला की सादृश्य-योजना का स्रोत प्रकृति की शोभा की अपेक्षा सांस्कृतिक चिन्तन एवं आध्यात्मिक मनन है। इस सादृश्यमूलक पद्धति के अतिरिक्त विरोधमूलक अप्रस्तुत-विधान का प्रयोग महादेवी ने विशेष रूप से किया है।

ताज है जलती शिखा, चिनगारियाँ शृंगार-माला,
ज्वाल अक्षय कोष है, अंगार मेरी रंगशाला;
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ।

साधिका ने शिखा, चिनगारी, और अंगार को ताज, शृंगारमाला एवं रंगशाला के रूप में चित्रित किया है। अन्य कवियों ने भी विरोधमूलक

पद्धति का आश्रय लिया है। पुरानी कविता में सादृश्य के अभाव में भी रूपकों का आयोजन कर लिया जाता था, परन्तु छायावादी कविता में इसका व्यवहार सादृश्य-मूलक पदों पर आश्रित है। पंत की 'नौका-विहार' नामक कविता में तापस बाला की गंगा की धारा से तुलना रूपक का उत्कृष्ट उदाहरण है। पाश्चात्य काव्य के अलंकारों में मानवीकरण तथा विशेषण-विपर्यय का व्यवहार भी सादृश्य-योजना को पुष्ट करता है। इसलिये छायावादी काव्य में विशेषणों की विशिष्टता तथा अनूठी छटा दृष्टिगत होती है। अलंकार से अधिक मानवीकरण एक दृष्टिकोण है। पंत तथा महादेवी की रचनाओं में विशेष रूप से तथा अन्य कवियों की कविताओं में सामान्य रूप से इसका प्रयोग हुआ है। इस साम्य-विधान में लाक्षणिकता को देख कर आचार्य शुक्ल ने छायावादी काव्य को मात्र लक्षणा-काव्य की संज्ञा देने की भूल की थी। वह इस अलंकार-विधान के मूल में उस सौन्दर्यवादी एवं व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि की उपेक्षा कर गए जो इस साम्य-विधान को प्रेरित एवं अनुप्राणित करती है।

छायावादी कविता में छन्द-विधान जो इसके शिल्प-पक्ष का विशिष्ट अंग है इसी जीवन-दृष्टि से प्रभावित है। इस क्षेत्र में भी छायावादी कवि ने अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का परिचय दिया है। जिस प्रकार उसने काव्य को नयी भाषा, नये प्रतीक तथा नये अलंकार से मण्डित किया है, उसी प्रकार उसने नये छन्द-विधान की भी उद्भावना की है। उसने शब्दों के विशिष्ट चयन तथा पद-विन्यास द्वारा भाषा में नवीन लय की सृष्टि की है। इसके आधार पर छन्द की रचना होती है। छन्द की रचना किस प्रकार शब्दों के लयमय बन्धन से होती है और किस प्रकार इस बन्धन से ही संगीत की सृष्टि होती है यह काव्यशास्त्र तथा छन्द-शास्त्र का एक स्वतन्त्र विषय है। छायावादी कवि ने भावों के स्वच्छन्द विकास तथा स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के लिये तुक तथा चरण के पुराने बन्धन या

तो शिथिल कर डाले हैं या उन्हें तोड़ दिया है। निराला में विद्रोह का भाव अधिक तीव्र रहा है। इसलिये इन्होंने मुक्त छन्द की रचना कर डाली है। इनकी 'जूही की कली' मुक्त छन्द में विकसित हुई है। कवि ने सब प्रकार के जड़ बन्धनों का घोर विरोध किया है, वह छन्द को काव्य-पथ पर चलने के लिये बाधक मान कर इसे हटाने का प्रयत्न करते रहे हैं। मुक्त छन्द का आधार लय है। इसलिये भाव और भाषा का सामंजस्य मुक्त छन्द के माध्यम से अधिक सम्पन्न हुआ है। छायावादी युग इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिये अभी तैयार नहीं था। इसलिये मुक्त छन्द का परिहास किया गया और इसे व्यंग की दृष्टि से रबड़ छन्द का नाम दिया गया जो रबड़ की तरह खींच कर घटाया-बढ़ाया जा सकता है। मुक्त छन्द में बँगला तथा अंग्रेजी के संगीत की लय है। इस लय का अनुशासन तथा नियन्त्रण छन्द के नियमों द्वारा नहीं हुआ है, परन्तु भावनाओं तथा अनुभूतियों द्वारा हुआ है। छायावादी काव्य में छन्द-विधान का यह मूल सूत्र है। कवियों का छन्द के प्रति विद्रोह इसकी उपेक्षा में लक्षित नहीं होता है, वरन इसकी विविधता, मौलिकता तथा नवीनता में झलकता है। इसमें संगीत का स्वरूप नादमय न हो कर अर्थमय है, परम्परागत एवं शास्त्रीय न हो कर व्यक्तिगत है। निराला ने शास्त्रीय संगीत के आधार पर 'गीतिका' के गीतों की रचना की है, परन्तु इस संगीत में इन्होंने अनेक व्यक्तिगत स्वरों को जोड़ दिया है। छायावादी कवि ने कवित्त-सवैया की जड़ता एवं एकरूपता को भंग कर छन्द-विधान में नवीन योजना की उद्भावना की है। निराला, प्रसाद, पंत तथा महादेवी ने वैयक्तिक रुचि, काव्य-वस्तु की आवश्यकता के अनुरूप पुराने छन्दों को नया रूप तथा नवीन छन्दों की रचना भी की है। सभी कवियों ने लय के बन्धन को स्वीकार किया है। मुक्त छन्द इतना बद नहीं जितना बदनाम है। निराला ने अधिकतर घनाक्षरी छन्द को तोड़ कर इसकी विविध रूपों में रचना

की है। इसमें लय का स्वरूप गद्यात्मक न हो कर भावात्मक है और भाव भी उत्तरछायावादी काव्य की तरह असंयमित न हो कर संयमित है, अस्तव्यस्त न हो कर संघटित है, विश्लिष्ट न हो कर संश्लिष्ट है। इसलिये छायावादी काव्य में मुक्त छन्द उत्तरछायावादी काव्य के मुक्त छन्द से भिन्न है। छायावादी कवियों के छन्द-विधान का आधार मात्रिक है जो हिन्दी भाषा के अनुकूल है। इन्होंने लोक छन्दों के आधार पर भी नवीन छन्दों की सृष्टि की है। प्रसाद का आँसू छन्द इनकी मौलिक उद्भावना का परिणाम है, पंत का छन्द-विधान इनकी कोमल-कान्त रुचि से प्रभावित है, निराला की छन्द-योजना इनके विद्रोही व्यक्तित्व की देन है और महादेवी का छन्द-विधान इनके संगीतात्मक संस्कारों से प्रेरित है। इस प्रकार छायावादी कवियों ने वैयक्तिक रुचि, युग-चेतना तथा काव्य-वस्तु की नवीनता से संचालित हो कर प्रचलित छन्दों का परिष्कार किया है, लोक छन्दों को अपनाया है, मौलिक छन्दों की सृष्टि की है, गीतों में आन्तरिक टेकों का विधान किया है और इस प्रयास से अपनी सौन्दर्यवादी जीवन-दृष्टि तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की कामना को परितृप्त किया है जो छायावादी काव्य-वस्तु को परिचालित करती है। इस काव्य के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार यह जीवन-दृष्टि इसके सृजन की नियामिक शक्ति है जो इसे एक विशिष्ट एवं व्यापक काव्यान्दोलन में परिणत करने की क्षमता रखती है।

५. संक्रान्ति काल

छायावादी काव्य जिस प्रकार स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह, इतिवृत्तात्मकता के प्रति भावुकता की प्रतिक्रिया, रूढ़ि के स्थान पर प्रयोग का महत्त्व, सामन्ती मान्यताओं के प्रति व्यक्तिवाद का विद्रोह, शुष्कता के स्थान पर सरसता के प्रति आग्रह, अभिधा के स्थान

पर लक्षणा एवं व्यंजना की स्थापना है; उत्तरछायावादी काव्य उसी प्रकार आदर्श के प्रति यथार्थ का विद्रोह, भावुकता के प्रति बौद्धिकता की प्रतिक्रिया, सूक्ष्मता के स्थान पर मांसलता की स्थापना, उदात्तता के स्थान पर लघुता से मोह, शाश्वत के स्थान पर क्षण का महत्त्व, अलौकिकता के स्थान पर लौकिकता एवं मानवीयता के प्रति आग्रह है। छायावादी मान्यताओं के प्रति विद्रोह की भावना संक्रांति-काल में ही व्यक्त होने लगी थी। इस काल में गाँधीवाद, मार्क्सवाद तथा फ्रॉयडवाद की चिन्तन-धाराओं ने कवि-मानस को प्रभावित किया है। बुद्धिजीवी मध्यवर्गीय समाज की चेतना इन विचारधाराओं के सम्मिश्रण के धरातल पर उभरने लगी थी। हरिवंशराय बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, रामेश्वर शुक्ल अंचल, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर आदि कवियों ने फलतः नवीन चेतना के विभिन्न आयामों से युक्त हो कर भारतीय जीवन की रागिनी को अलापने का प्रयास किया है। अंचल के काव्य पर तीन विचारकों की जीवन-दृष्टियों का गहरा प्रभाव पड़ा है; दिनकर गाँधी, मार्क्स, तिलक तथा रसेल के विचारों से प्रभावित हैं, परन्तु इनके कवि-मानस पर फ्रॉयडवादी चेतना का भी प्रभाव है जो 'रसवन्ती' की रचनाओं में लक्षित होता है। बच्चन ने अपने वैयक्तिक जीवन की रेखाओं को उमर खयाम के रंग से अनुरंजित किया है। नरेन्द्र शर्मा के गीतिकाव्य में भी गाँधीवाद तथा मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। संक्रांतिकाल के कवियों की रचनाएँ गीतिकाव्य की उस श्रेणी में रखी जा सकती है जिसके मूल में व्यक्तिवादी विचारधारा अधिक साहस के साथ प्रत्यक्ष रूप में व्यंजित हुई है। डॉ० नगेन्द्र ने संक्रांतिकालीन गीतिकाव्य को वैयक्तिक कविता की संज्ञा से अभिहित करना उपयुक्त समझा है। इनका मत है कि इस काल में अनेक प्रकार के बौद्धिक तथा भौतिक प्रभावों के कारण व्यक्ति अपने प्रति अधिक जागरूक होने लगा, उसमें आत्मचेतना और आत्म-विश्वास की मात्रा बढ़ने लगी

और प्राकृतिक तथा दार्शनिक प्रतीकों के आवरण त्याग कर वह साहस-पूर्वक अपने हर्ष-विषाद को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त करने लगा। इस तरह एक प्रकार की आत्मपरक कविता का जन्म हुआ जिसका प्रभाव हिन्दी के नवयुवक कवियों पर संक्रामक हो कर पड़ा और आर्थिक तथा शृंगारिक कुण्ठाओं से पीड़ित तत्कालीन समाज अपने मन के प्रत्यक्ष शब्द-चित्रों की ओर स्वाभावतः अत्यन्त वेग से आकृष्ट होने लगा। छायावादी काव्य पर नैतिक आदर्शों का आतंक गहरा था और उसे सीधी अभिव्यक्ति भी ग्राह्य नहीं थी।[1] वास्तव में आत्मपरक कविता का जन्म उत्तरछायावादी संक्रान्ति-काल में नहीं, छायावादी काल में ही समझना अधिक संगत जान पड़ता है। छायावाद के मूल में जो व्यक्ति-वाद था वह अधिक वेग एवं विश्वास के साथ इस काल के गीति-काव्य में व्यक्त होने लगा जिसे प्रगतिवादी आलोचक अस्वस्थ व्यक्तिवाद की संज्ञा दे कर ह्रासशील कहना उचित समझते हैं। इन कवियों का अदम्य व्यक्तिवाद एक ओर आर्थिक विषमताओं से और दूसरी ओर काम-वर्जनाओं से मुक्ति पाने के लिए मार्क्सवाद तथा फ्रॉयडवाद से प्रेरणा प्राप्त करता है। गाँधीवादी दृष्टिकोण की आदर्शवादी चेतना के प्रभाव से भी इन कवियों की रचनाएँ पूर्णतया मुक्त नहीं हैं। इनकी रचनाओं में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ का स्वर अधिक प्रबल है जिसके आधार पर आलोचक इनमें प्रगतिवादी काव्य के चिह्न भी खोजते हैं। वस्तुतः बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर के काव्य में समस्याओं के यथार्थ समाधान की अपेक्षा अधिक होने लगी थी। इसी कारण इनकी कविताओं में प्रगतिवाद का अस्पष्ट आभास अवश्य मिलता है; परन्तु व्यक्ति-चिन्तन का प्रकाश आँखों से अभी उतर नहीं पाया था। इन कवियों ने प्रगतिवाद के असंतोष, विद्रोह, अनास्था आदि को एक

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० ६३।

सीमा तक तो ग्रहण कर लिया था, परन्तु उसके सामाजिक परिणामों का पूरा ज्ञान इन्हें नहीं हुआ था। इसलिए इनके काव्य में सामाजिक तथा नैतिक रूढ़ियों के प्रति आक्रोश है, रोमानी स्वच्छन्दता के प्रति आग्रह है, प्रेम के लौकिक रूप की स्वीकृति है, आध्यात्मिक विश्वासों के प्रति किंचित् संदेह है। डॉ० नगेन्द्र ने इनके काव्य को वैयक्तिक कविता की संज्ञा दी है और व्यक्तिवाद को ही इसकी मूल जीवन-दृष्टि के रूप में प्रतिपादित किया है। इसका आधार मानव के भौतिक अस्तित्व की स्वीकृति है और इसका माध्यम गीतिकाव्य है जो प्रायः संगीत के स्वर-ताल में महादेवी तथा निराला के कुछ गीतों की भाँति बँधा हुआ नहीं है। इनकी रचनाएँ छन्दोबद्ध भी हैं और मुक्त छन्द में भी ये उपलब्ध होती हैं। सरल तथा अमिश्र भाव की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम गीत है, मानसिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम छन्दोबद्ध रचना है और विचार-प्रधान रचना के लिए मुक्त छन्द का प्रयोग है। वैयक्तिक कविता, जिसकी स्थिति संक्रांतिकालीन है और जिसका महत्त्व छायावाद तथा प्रगतिवाद के बीच की कड़ी के रूप में आँका जाता है, कलापक्ष की दृष्टि से छायावाद के वैभव-सम्पन्न शिल्प की अपेक्षा अधिक सहज, सरल एवं स्पष्ट है।

इस संक्रान्तिकाल के कवियों में रामधारीसिंह दिनकर की रचनाओं को डॉ० नगेन्द्र ने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की कोटि में रखना उचित समझा है और इसे हिन्दी कविता की 'एक अत्यन्त प्रबल प्रवृत्ति' के रूप में आँकने का प्रयास किया है।[1] इसमें देशभक्ति की मूल भावना है जिसका पृष्ठाधार विस्तृत है और जिसका सम्बन्ध मैथिलीशरण गुप्त की कविता से जोड़ा गया है। इस प्रकार राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता को एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में आँकना मुझे युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : पृ० १६

इसकी ध्वनि प्रसाद की छायावादी रचनाओं में भी है। इस आधार पर प्रसाद की रचनाओं को राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की संज्ञा देना अनुचित होगा। डॉ० नगेन्द्र के इस भ्रमजनक मूल्यांकन के तीन कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि दिनकर की कविताओं में समष्टि-चिन्तन का आभास है और दूसरे इनमें मैथिलीशरण गुप्त की अभिधात्मक शैली को अपनाया गया है और तीसरे इनमें देशभक्ति का उच्चार है। दिनकर स्वयं अपने काव्य को छायावादोत्तर काल में रखते हुए लिखते हैं—'छायावादी धूमिलता के मैं जितना विरुद्ध था, उतना मैथिलीशरण और रामनरेश त्रिपाठी वाली शैली के पक्ष में नहीं था। अतएव, मैंने अपने लिए जो राह निकाली उसकी प्रेरणा केवल छायावादी धूमिलता से बचने के प्रयास में थी। यह और बात है कि वह राह द्विवेदी-युग, और छायावाद-काल के बीचोंबीच पड़ गयी।'[1] वह अपनी कविता तथा समकालीन कवियों की रचनाओं के स्वरूप तथा उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'हिन्दी कविता को कुहासे से निकाल कर उसे धूप में खड़ा किया तथा अभिव्यक्ति की धूमिलता और कच्चेपन से बचने के लिए छायावाद की उन रंगीनियों को छोड़ दिया जाए जो प्रायः कवियों की असमर्थता पर झीना-परदा डाला करती थीं।[2] इस प्रकार संक्रान्ति-काल में कविता को यथार्थ के धरातल पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है। एक ओर जहाँ बच्चन, भगवतीचरण वर्मा आदि ने व्यक्ति-चिन्तन से अनुप्राणित हो कर अपनी कविता को यथार्थ की भूमि पर स्थापित किया है तो दूसरी ओर वहाँ दिनकर, अंचल तथा नरेन्द्र शर्मा ने व्यक्तिचिन्तन तथा समष्टि-चिन्तन के द्वन्द्व से ग्रस्त हो कर इसे जीवन-वास्तव की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। यह छायावादी काव्य-वस्तु

---

१. काव्य की भूमिका : पृ० ५१।

२. काव्य की भूमिका : पृ० ५२।

तथा काव्य-शैली के प्रति विद्रोह है। इन कवियों की जीवन-दृष्टि समष्टि-चिन्तन का आभास देती है, परन्तु मूलतः तथा अन्ततः इन्हें अनुप्राणित करने वाली चिन्तनधारा सौन्दर्यवादी एवं व्यक्तिवादी है। इसलिये दिनकर मार्क्सवादी विचारधारा को आत्मसात् नहीं कर पाए हैं और वह प्रगतिवादी काव्य की अपेक्षा प्रगतिशील काव्य के पक्ष में है। इन्होंने देशभक्ति के गीतों की रचना की है और 'कुरुक्षेत्र' तथा 'उर्वशी' के सृजन द्वारा भारतीय संस्कृति से अपनी आसक्ति का परिचय भी दिया है। इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता एक स्वतन्त्र काव्यधारा है और वह इसके प्रतिनिधि कवि हैं। इनके काव्य के मूल में जो जीवन-दृष्टि है उसके आधार पर ही इनकी काव्य-प्रवृत्ति का निश्चयन उचित जान पड़ता है। इनकी कविता पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव अवश्य पड़ा है। इसी भाँति प्रसाद, पंत, निराला तथा महादेवी की रचनाओं में भी भारतीय संस्कृति का प्रभाव लक्षित होता है। मैथिली-शरण गुप्त का काव्य तो भारतीय संस्कृति का आख्यान एवं व्याख्यान है। इस आख्यान एवं व्याख्यान के मूल में कवि की जीवन-दृष्टि ही इसे आकार एवं रूप देती रही है जो एक कवि के आख्यान एवं व्याख्यान को दूसरे कवि की अभिव्यक्ति से भिन्न बनाती है। इनके 'कुरुक्षेत्र' में, जो एक विचार-प्रधान रचना है, युधिष्ठिर तथा भीष्म के चरित्र कवि की जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्ति देने का माध्यम बने हैं। युधिष्ठिर को गाँधी-वाद तथा भीष्म को प्रगतिवाद का प्रतीक माना गया है। न युधिष्ठिर गाँधी-वादी है और न ही भीष्म प्रगतिवादी है। दिनकर स्वयं व्यक्ति-चिन्तन तथा समष्टि-चिन्तन के द्वन्द्व से ग्रस्त हैं। युधिष्ठिर व्यक्ति-हित और भीष्म समष्टि-मंगल की भावना से प्रभावित है। यह कवि की निजी स्थिति है। इनका छायावाद से मोह भंग हो चुका है और प्रगतिवाद से गठबंधन नहीं हो पाया है। इसलिये अपने द्वन्द्व की स्थिति को व्यंजित करने के लिये दिनकर ने युधिष्ठिर तथा भीष्म के चरित्रों की अवतारणा की

है। भीष्म की विचारधारा समष्टि-सापेक्ष व्यष्टि का प्रतिपादन तथा युधिष्ठिर की जीवन-दृष्टि व्यष्टि-सापेक्ष समाज मंगल का निरूपण करती है। आदर्शवाद के धरातल पर कवि ने इन दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास भी किया है और मानवतावाद में, जिसकी परिकल्पना धूमिल एवं अस्पष्ट है, इस समन्वय को ध्वनित करता है। इस होड़ में द्वन्द्व का शासन हो जाता है। अपनी नवीन कृति 'उर्वशी' (१९६१) में कवि ने व्यक्ति-चिन्तन तथा समष्टि-चिन्तन की दुविधा से आक्रांत अपनी जीवन-दृष्टि का परिचय अवश्य दिया है, परन्तु यह कृति व्यक्ति-चिन्तन से अधिक अनुप्राणित जान पड़ती है। इसमें पुरूरवा जो सनातन नर का प्रतीक है, और उर्वशी जो सनातन नारी की प्रतीक है, दिनकर की जीवन-दृष्टि पर आलोक डालते हैं। इस रचना में कवि की जीवन-दृष्टि शिवं की अपेक्षा सुन्दरं की ओर उन्मुख है, समष्टि-चिन्तन की अपेक्षा व्यक्ति-चिन्तन से अनुप्राणित है। इसलिये इसमें सोद्देश्यता तथा उपयोगिता का स्वर, जो 'कुरुक्षेत्र' में सशक्त है, शिथिल हो जाता है। दिनकर की द्वन्द्वमूलक दृष्टि से अवगत हो कर ही इनके काव्य का मूल्यांकन अपेक्षित है। इस द्वन्द्वमूलक दृष्टि का अस्तित्व नरेन्द्र शर्मा तथा अंचल की काव्य रचनाओं में भी उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से भगवतीचरण वर्मा आंशिक रूप में और बच्चन पूर्णतया मुक्त हैं। इनके काव्य का स्वर वैयक्तिक है। इनकी कविता का वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष व्यक्ति-चिन्तन से रूपायित है। इस संक्रान्तिकाल के कवियों में सूक्ष्मता के स्थान पर मांसलता की स्थापना है, भावुकता की अपेक्षा बौद्धिकता, लक्षणा तथा व्यंजना की अपेक्षा अभिधा की प्रधानता है। इन कवियों का व्यक्तित्व एक ओर आर्थिक विषमताओं तथा दूसरी ओर दमित कामनाओं से मुक्ति पाने का अभिलाषी है। इनकी रचनाओं में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ का स्वर अधिक प्रबल है और मानव के भौतिक अस्तित्व की स्वीकृति है।

७. नवीन परिस्थिति

उत्तरछायावादी काव्य में इस संक्रांतिकाल के उपरान्त यथार्थ के नवीन धरातलों, चेतना के नवीन स्तरों तथा जीवन की नवीन भूमियों की खोज एवं अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति ने अधिक बल पकड़ा जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी-काव्य विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगा और जिसकी दो प्रमुख धाराएँ सामाजिक-यथार्थ-तथा व्यक्ति-यथार्थ के सत्य को प्रधान रूप में आत्मसात् किए हुए हैं। इन दो मूल प्रवृत्तियों का आभास 'तार सप्तक' (१९४३) की रचनाओं में उपलब्ध हो जाता है। अज्ञेय आदि व्यक्ति-सत्य की भूमिका को अधिक महत्त्व देते हैं और गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, रामविलास शर्मा आदि कवियों की अधिकांश रचनाओं में सामाजिक यथार्थ को अधिक प्रतिष्ठा मिली है। व्यक्ति-सत्य को अभिव्यक्ति देने वाली काव्य-धारा को प्रयोगवाद और सामाजिक चेतना को महत्त्व देने वाली काव्य-प्रवृत्ति को प्रगतिवाद की संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। 'तार सप्तक' के कवियों के वक्तव्यों से उनकी जीवन-दृष्टि तथा उसे प्रभावित करने वाली विचार-धाराओं का स्पष्टीकरण हो जाता है। नेमिचन्द्र जैन 'तार सप्तक' के वक्तव्य में अपने कवि की वास्तविक उपलब्धि को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि उनके मन का समस्त संघर्ष इस प्रयत्न में व्यक्त हुआ है कि किस प्रकार वह अपने संस्कारों और भावनाओं को सामूहिक रूप प्रदान कर सकें। उनकी धारणा है कि कला की प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता में निहित होती है। उनकी दृष्टि में सौंदर्य-बोध भी सदैव पलायन की प्रवृत्ति का सूचक नहीं होता। वह तब पलायनशील होगा जब साहित्यकार सौंदर्याभास के कल्पना-जाल में रत हो कर अपने दायित्व से भागता है। उनकी धारणा है कि तत्कालीन मानव का व्यक्तित्व खंड-खंड हो चुका है और वह अधिक से

अधिक आत्मकेन्द्रित एवं आत्मरत बनता गया है। कविता उस दिन अपने प्रकृत रूप में निखर उठेगी जब कवि सचेष्ट भाव से पुराने संस्कारगत आन्तरिक विरोध को सुलझा कर अपनी चेतना को सामाजिक बना सकेगा। इसी प्रकार नेमिचन्द्र प्रगतिवाद के प्रति अपनी दृढ़ आस्था का परिचय देते हुए सामाजिक यथार्थ के महत्त्व की स्थापना करते हैं। इसी भाँति भारतभूषण अग्रवाल अपनी कविता के उद्देश्य का प्रतिपादन करते हुए 'तारसप्तक' के वक्तव्य में लिखते हैं—"यदि कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के सम्बन्ध को स्वर देना है, और उसको शुभ बनाने में सहायता देना है तो हिन्दी के कवि को समाज से नाराज़ हो कर भागने की बजाय समाज की उस शोषण सत्ता से लड़ना होगा जिसने उसको चारों ओर स्वप्नाभिलाषी और कल्पना-विलासी बना छोड़ा है।"[1] उनकी 'पथहीन' नामक रचना में जीवन की वास्तविक स्थिति और युग की अनास्था का चित्रण है। इसमें कवि की अन्तरात्मा मुखर हो उठी है। कवि युग की जीवन-धारा को अवरुद्ध रूप में व्यक्त कर उसे गतिशील बनाने का स्वप्न देखते हैं, अपने व्यक्तित्व की सीमाओं के मूल कारण को वर्गगत परिस्थितियों में खोजने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार अपनी सतही प्रगतिवादी जीवन-दृष्टि का परिचय देते हैं। इन कवियों की समाज-परक चेतना के विपरीत अज्ञेय व्यक्ति-परक चेतना को व्यंजित करने के लिये आकुल रहे हैं। उनके काव्य के मूल में व्यक्तिमूलक चिन्तन और शैली में प्रयोगात्मक तत्त्व हैं, समष्टि पर व्यष्टि के हावी होने की तीव्र आकांक्षा है। अपने अहंवाद को 'व्यक्तित्व की स्थापना' के रूप में 'नदी के द्वीप' के माध्यम से, 'अकेले स्नेहभरे, मदमाते दीप को पंक्ति देने' के द्वारा व्यक्त करने का प्रयास उनके काव्य की मूल प्रेरणा है। उनकी धारणा

---

१. 'तार सप्तक', पृष्ठ ३३।

है कि व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि के परिणामस्वरूप आज एक ही सामाजिक स्तर पर दो व्यक्तियों के सौंदर्य-बोधों तथा विचार-धरातलों में समानता उपलब्ध नहीं होती जो पुरातन काल में संभव थी। इसलिये साधारणीकरण की समस्या कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति है। व्यक्ति के अनुभूत को कैसे उसकी संपूर्णता अथवा समग्रता में समष्टि तक पहुँचाया जाए—यह समस्या कवि को ललकारती है। अज्ञेय की दृष्टि में अनुभूत के रूप, गुण, सामाजिक, असामाजिक आदि की इतर समस्याएँ गौण हैं। वह आधुनिक युग के व्यक्ति को "यौन वर्जनाओं का पुंज" मानते हैं। उनकी इस धारणा से उनके काव्य पर पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों के सिद्धान्तों का प्रभाव लक्षित होता है। मानव-मन की यौन कल्पनाओं एवं कुण्ठित वासनाओं से आज के व्यक्ति की सौंदर्य-चेतना भी आक्रांत है। अज्ञेय इसे वर्गगत वर्जनाओं से भी लदा हुआ मानते हैं। उनका विद्रोहशील व्यक्तित्व एवं क्रांतिशील मानस उन्हें व्यक्ति-कामी बनने के लिये बाधित करते हैं। अपनी व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि को पुष्ट करने तथा उसे दार्शनिक रूप देने के लिये उन्होंने पाश्चात्य चिन्तन-पद्धतियों, मनोवैज्ञानिक-सिद्धान्तों, काव्य-धाराओं तथा आलोचना-सम्प्रदायों से प्रेरणा प्राप्त की है। इस प्रकार 'तार सप्तक' में संकलित इन कवियों ने युग-जीवन को संचालित करने वाली सामाजिक तथा वैयक्तिक चेतना को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। इन दो विभिन्न विचारधाराओं ने काव्य की प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी काव्य-प्रवृत्तियों को पुष्ट करने तथा सम्पन्न बनाने में सहायता दी है। इन दोनों काव्य-धाराओं में छायावाद के प्रति प्रतिक्रिया एवं विद्रोह की भावना भी लक्षित होती हैं जिनका आभास संक्रांति-काल के कवियों की रचनाओं में उपलब्ध होता है। इस काव्य-संग्रह में रूपगत तथा वस्तुगत नये प्रयोगों को अपनाया गया। सन् पैंतालीस के बाद नयी सामाजिक चेतना मार्क्सवाद से सम्बद्ध होने लगी। इसे प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति के नाम

से अभिहित किया गया। रूपगत प्रयोगों से सम्बद्ध कविता को प्रयोगवाद का नाम दिया गया जिसका श्रेय प्रगतिवादियों को है। इसी बिन्दु से प्रयोगवादी तथा प्रगतिवादी कविता में अन्तर बढ़ता गया। प्रयोगवाद पर व्यक्तिवादी तथा प्रतिक्रियावादी होने के आरोप लगाए गए और प्रगतिवाद पर प्रचारवादी होने का आक्षेप किया गया। एक काव्य-प्रवृत्ति में शिव-तत्त्व पर बल दिया गया और दूसरी में सौन्दर्य-तत्त्व को महत्त्व दिया गया; एक में समष्टि की महान समस्याओं के सम्मुख व्यष्टि की समस्याओं को हेय एवं तुच्छ समझा गया और दूसरी में व्यक्ति की समस्याओं को समष्टि का केन्द्र माना गया। इस प्रकार दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं ने दो विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों को विशिष्ट तथा स्वतन्त्र रूप प्रदान किया।

८. प्रगतिवाद

प्रगतिवाद का प्रेरणा-स्रोत मार्क्सवादी जीवन-दर्शन है। इसलिए प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण भी माना जाता है। डा० नामवरसिंह प्रगतिवाद तथा प्रगतिशील में भेद करने को कोरा बुद्धिविलास समझते हैं जो उनके मार्क्सवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। उनका मत है कि छायावाद में गतिरोध आने पर प्रगतिवाद का उदय हुआ है। उनकी दृष्टि में विकास की प्रवृत्ति आदर्शवाद से क्रमशः यथार्थवाद की ओर और यथार्थवाद से क्रमशः स्वस्थ सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख है। साहित्यकार के सामने एक ही मूल समस्या है जिसके समाधान में उसकी प्रगतिशीलता का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। 'कस्मै हविषा विधेम ?" साहित्य किसके लिये ? इसका उद्देश्य स्वान्तः सुखाय है या बहुजनहिताय है ? बुद्धजीवियों ने मानवतावादी आवरण में व्यक्ति-हित को छिपाने का प्रयास किया है। इस प्रकार वह मार्क्सवाद की कसौटी पर ही साहित्य की प्रगतिशीलता का मूल्यांकन अपेक्षित

मानते हैं। छायावाद, प्रयोगवाद तथा प्रगतिवाद में अन्तर को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है कि कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि छायावाद की विशेषता है, अन्तर्मुखी बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद की और सामाजिक यथार्थ दृष्टि प्रगतिवाद की विशेषता है। इनके मतानुसार प्रगतिवाद में स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण संयत एवं स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है, उसकी निराशा में भी आशा की दीप्ति दृष्टिगोचर होती है। शिवदानसिंह चौहान तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी प्रगतिवाद की विशेषताओं का विवेचन किया है; परन्तु नामवरसिंह इन आलोचकों की दृष्टि में व्यक्तिवादी संस्कारों को पाते हैं।[1] डॉ० नरेन्द्र प्रगतिवादी काव्य तथा मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को एकांगी एवं संकुचित समझते हैं। उनकी धारणा है कि यह जीवन की अनेक सूक्ष्म तथा जटिल प्रवृत्तियों की उपेक्षा करता है। वह साहित्य को अपने मूल रूप में सामाजिक या सामूहिक चेतना नहीं मानते परन्तु उसे वैयक्तिक स्वीकार करते हैं। "साहित्य वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति है। बाहर और भीतर इसके पक्ष हैं। भीतर की प्रकृति बहिरंग को अपने में आत्मसात् कर गहरी एवं घनीभूत होती रहती है और बहिरंग की प्रवृत्ति अन्तरंग का प्रसार करती हुई व्यापक होती रहती है। काव्य जीवन की भावगत व्याख्या है, वह जीवन की अन्तरंग साधना है। मार्क्सवाद की उपादेयता व्याख्या तक ही सीमित है। उसके द्वारा किया गया मूल्यांकन एकांगी होता है।"[2] डॉ० नगेन्द्र का निजी दृष्टिकोण रसवादी सिद्धांत, मनोविश्लेषणवादी जीवन-दृष्टि तथा अभिव्यंजनावादी काव्य-शैली से प्रभावित होने के कारण प्रगतिवादी काव्य को अकाव्य के रूप में देखने के लिये बाधित है। वह मार्क्सवाद के बौद्धिक दृष्टिकोण को काव्य के अनुपयुक्त भी समझते हैं।

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ६०।
२. आधुनिक हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १०४।

इस प्रकार प्रगतिवादी काव्य जो सैद्धान्तिक रूप में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित है मनोविश्लेषणवादी आलोचकों की दृष्टि में काव्य की गरिमा से वंचित हो जाता है। विश्वम्भर मानव भी प्रगतिवादी काव्य को उस प्रकार पल्लवित एवं पुष्पित नहीं समझते जिस प्रकार अद्वैतवादी एवं विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्तों के आधार पर रहस्यवादी तथा कृष्ण-काव्य का सृजन एवं प्रसार हुआ था। इसका कारण यह भी हो सकता है कि प्रगतिवादी कवि अभी उस जीवन से दूर है जो प्रगतिवाद का प्रेरणा-स्रोत है। डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नामवरसिंह तथा अन्य प्रगतिवादी आलोचक काव्य का मूल्यांकन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से करते हैं और उसी कवि को प्रगतिवादी होने की संज्ञा देना उपयुक्त समझते हैं जो जन-जीवन से प्रेरणा ग्रहण करता है, हताश भावना का विरोधी है, धरती की गरिमा को आत्मसात् करता है, सामूहिक दुःख का सामना सामूहिक शक्ति से करता है, आँसू के स्थान पर क्रोध से काम लेता है, दीन-भाव के स्थान पर तीक्ष्ण व्यंग्यबाण छोड़ता है, व्यष्टि और समष्टि में परस्पर विरोध को अन्ततोगत्वा मौलिक स्वीकार नहीं करता और उस वर्गहीन समाज की स्थापना के लिये आकांक्षी तथा संघर्षशील है जिसमें व्यक्ति का हित समाज का हित होगा और समाज का हित व्यक्ति का हित होगा। प्रगतिवादी आलोचक के मतानुसार प्रयोग के समर्थक अधिकांश व्यष्टिवादी हैं जिन्होंने उपचेतन-मन की ज्ञात और अज्ञात कन्दराओं में घुसकर मनुष्य की कामवासनाओं का साक्षात्कार किया है, जो व्यक्ति-मानस को ही समस्त घटनाओं और सम्बन्धों का केन्द्र और कारण मानते हैं, जो व्यक्ति-सापेक्ष अनुभूतियों को ही निरपेक्ष सत्य समझते हैं, जिनके लिये कला केवल व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति का ही साधन और साध्य है।[1] इस प्रकार प्रयोगवादी काव्य के मूल में

१. शिवदानसिंह चौहान : काव्यधारा, पृष्ठ २०३, २०४।

व्यक्तिवादी विचारधारा एवं रूपवादी प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए चौहान प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद में संतुलन स्थापित करने का विफल प्रयास इन शब्दों द्वारा करते हैं कि प्रयोगवादियों की काव्य-वस्तु के प्रति और प्रगतिवादियों की काव्य-रूप के प्रति उदासीनता कविता के ह्रास का कारण बन रही है। दोनों पक्षों के प्रवक्ता और कवि वस्तु एवं रूप, प्रगति एवं प्रयोग की समस्या को एकांगी दृष्टि से आँकते हैं, परन्तु इनकी समस्या का समग्र एवं संश्लिष्ट रूप में समाधान करना काव्य-विकास के लिये अपेक्षित है। इस तरह चौहान ने प्रगतिवादी कवि को व्यापक जीवन-दृष्टि प्रदान करने के लिये मार्क्सवादी दर्शन को विस्तार देने का प्रयास किया है। प्रगतिवाद का उदार दृष्टि से मूल्यांकन करने वाले आलोचकों का मत है कि जो लोग यह सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं कि अनेक प्रकार की विचारधाराएँ सीधे रूप में आर्थिक सम्बन्धों पर आश्रित होती हैं, वे मार्क्सवादी आलोचना के मानदंड को अत्यधिक सरल बनाने के प्रयत्न में उसकी आत्मा का भी हनन कर बैठते हैं और उसे अवैज्ञानिक बना देते हैं। प्रगतिवादियों में मतभेद होने के कारण अभी व्यापक मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र की स्थापना नहीं हो सकी है जिसके फलस्वरूप इस काव्य-प्रवृत्ति का विकास पूरी तरह नहीं हो पाया है।

प्रगतिवादी कवियों में अनेक नामों की गणना की जाती है जिनमें नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सुमन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, नागार्जुन, रांगेय राघव, रामदयाल पाण्डेय का उल्लेख चौहान ने प्रगतिवाद-प्रेरित नये जीवनादर्श और जन-मंगल के उत्साह-भरे गीतकारों में किया है और गिरिजाकुमार माथुर, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा आदि को व्यक्ति-चेतना से आक्रांत प्रयोगवादी कवि की संज्ञा देकर यह स्वीकार किया है कि ये कवि प्रगतिशील धारा से अप्रभावित न रह सके और इन्होंने नई पीढ़ी के तरुण प्रयोगशील

कवियों को भी स्वरूप और ठोस विचार-वस्तु देने की प्रेरणा दी ।[1] विश्वम्भर मानव ने 'नयी कविता' में प्रगतिवाद को एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार करते हुए नागार्जुन, रामविलास शर्मा, शिव-मंगल सुमन, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल की गणना इस कोटि में की है। उनकी दृष्टि में प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है और इन कवियों की रचनाएँ मार्क्स के जीवन-दर्शन से प्रभावित हैं। डॉ० प्रेमशंकर ने भी लगभग इन नामों को प्रगतिवादी काव्य की श्रेणी में रखने का प्रयत्न इस आधार पर किया है कि इन कवियों ने सामाजिक यथार्थ को व्यक्ति-यथार्थ की अपेक्षा अधिक ग्रहण किया है और इस नये यथार्थ को विविध सरणियों से ले जाने का प्रयास किया है। इनके काव्य की उपलब्धियों तथा सीमाओं का मूल्यांकन करते हुए उनका मत है कि रामविलास के कवि को उनके आलोचक ने उभरने नहीं दिया, नागार्जुन ने अपनी अनुभूतियों को प्रायः कथात्मक अभिव्यक्ति दी है और उनका व्यंग्य कहीं-कहीं अति तीक्ष्ण बन कर औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर बैठता है। गिरिजाकुमार में सामाजिक यथार्थ के प्रति आग्रह अवश्य है, परन्तु रूप और सौन्दर्य उनकी काव्य-चेतना के इतने अभिन्न अंग हैं कि कवि पूर्णतया वस्तुपरक नहीं हो पाते। केदारनाथ अग्रवाल की कविताएँ प्रगति की वास्तविक अनुभूतियाँ हैं। शमशेर बहादुर का कवि कभी प्रगतिवादी तो कभी प्रयोगवादी के रूप में दृष्टिगत होता है। भारतभूषण अग्रवाल ने अपने कवि-जीवन के आरम्भ में अपने को मार्क्सवाद से प्रभावित घोषित किया था, किन्तु क्रमशः वह 'ओ अप्रस्तुत प्रश्न' में मतवाद के आग्रह से मुक्त हो कर नवीन यथार्थ के धरातल पर चलने का संकल्प करते हैं। इतने कवियों का मार्क्सवादी चेतना से प्रभावित होना और एक साथ सामाजिक यथार्थ के

---

१. चौहान : काव्य-धारा, पृष्ठ ४४।

विभिन्न पक्षों को अभिव्यक्ति देना एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति का प्रमाण है। भारतीय बुद्धिजीवी मध्यवर्ग सामाजिक एवं वैयक्तिक समस्याओं से उस समय आक्रांत था। सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए मार्क्सवादी जीवन-दर्शन ने एक नवीन पथ को प्रशस्त किया और वैयक्तिक उलझनों को सुलझाने के लिए फ्रॉयडवाद ने एक नये दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया। सामाजिक यथार्थ को महत्त्व देने वाले कवियों की रचनाओं में वैयक्तिक चेतना के स्वर भी ध्वनित हुए हैं जिन्हें प्रगतिवादी आलोचकों ने व्यक्तिवादी, ह्रासशील होने की संज्ञा देकर उनकी कड़ी समीक्षा की है।

९. मूल्यांकन

प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति की उपलब्धियों तथा सीमाओं का मूल्यांकन आलोचकों ने विभिन्न दृष्टियों से किया है। डॉ० नगेन्द्र इस प्रवृत्ति की अधिकांश रचनाओं को भाव-प्रधान मानते हुए इनमें मानववादी क्रांतिकारी स्वर को अधिक तीव्र तथा साम्यवाद की मात्रा को कम पाते हैं। उनकी दृष्टि में कल के छायावादी आज के प्रगतिवादी हैं। अतएव उनके काव्य में छायी रोमांस बार-बार उभरता है। प्रगतिवादी काव्य के इस मूल्यांकन से संभवतः उनका संकेत अंचल, नरेन्द्र शर्मा आदि सक्रांतिकालीन कवियों की रचनाओं तक सीमित है। लक्ष्मीकांत वर्मा नयी कविता के प्रवक्ता के रूप में प्रगतिवादी काव्य का विरोध सैद्धांतिक आधार पर इसलिये करते हैं कि इसमें मानव-विशिष्ट की अवहेलना होती है और किसी मतवाद की रूढ़ि अथवा पूर्वाग्रह से आक्रांत हो कर वास्तविक काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। गिरिजाकुमार माथुर व्यष्टि की समस्याओं का समाधान समष्टि की महान समस्याओं से जोड़ते हैं और व्यक्ति-जीवन के प्रश्न को सीमित रूप से लेकर एक व्यापक रूप में घटाने के पक्ष में हैं। इसलिये उनकी दृष्टि में प्रगतिशील

काव्य का भविष्य उज्ज्वल है और अनास्था की परिस्थितियाँ चिरस्थायी नहीं हैं। शिवदानसिंह चौहान की धारणा है कि तरुण प्रगतिशील कवि स्वतन्त्र रूप से किसी नये काव्यादर्श का अभी विकास नहीं कर पाये थे कि उन्होंने मतवाद में पड़ कर अपनी काव्य-प्रतिभा को स्वयं ही कुंठित कर डाला। उनकी दृष्टि में युग सत्य तो नहीं बदला, केवल उसका बोध तत्काल मलिन और खंडित हो गया।[1] इन आलोचकों के विवेचन तथा प्रगतिवादी कवियों की मौलिक रचनाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर-छायावादी काल के हिन्दी के कुछ कवियों ने प्रगतिवादी चेतना को अभिव्यंजना देने का प्रयास अवश्य किया है। इनकी उपलब्धि के सम्बन्ध में मतभेद का होना स्वाभाविक है। प्रगतिवाद एक स्वतन्त्र एवं विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति के रूप में मान्य एवं स्वीकृत है। इसका निजी वस्तुगत स्वरूप है। इसमें रूढ़िगत मान्यताओं के प्रति विद्रोह की अभिव्यक्ति है, राष्ट्रीय भावनाओं का पोषण है, लाल सवेरा, लाल किरण, लाल सेना आदि का चित्रण है, पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध है, शोषित के प्रति सहानुभूति तथा शोषक के प्रति आक्रोश की भावना है, सामाजिक विषमता पर तीक्ष्ण व्यंग्य है, धरती के प्रति ममता है, किसान तथा मजदूर के लिये विशेष मोह है, भावुकता की अपेक्षा बौद्धिकता के प्रति आग्रह है, आदर्श के स्थान पर यथार्थ को आत्मसात् करने का प्रयास है। परन्तु इन सभी विशेषताओं से युक्त काव्य को प्रगतिवाद की संज्ञा देना उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में प्रगतिवादी कवि उसे स्वीकार करना होगा जो मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हो, जो सामाजिक चेतना को समाजवादी चेतना में परिणत करने के लिये प्रयत्नशील हो, जिसमें सामाजिक यथार्थ को समाजवादी धरातल पर ग्रहण करने का आग्रह हो। वह जीवन-विकास

---

१. काव्य-धारा, पृ० ४४।

के पथ को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर प्रशस्त करने का पक्ष-पाती हो और इस पथ के निर्माण के लिये काव्य को अस्त्र के रूप में प्रयोग करने का समर्थक हो। वह इस उद्देश्य से काव्य की रचना करता है और इसके धरातल पर ही प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति का मूल्यांकन अपेक्षित है।

१०. प्रयोगवाद—

उत्तर-छायावाद युग की दूसरी काव्यधारा वैयक्तिक कविता का विकास है जिसका अभी तक अन्तिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया है। इसलिये इसे प्रयोगवाद, प्रतीकवाद, रूपवाद, प्रपद्यवाद अथवा नकेनवाद आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। शिवदानसिंह चौहान ने नयी कविता को भी इस काव्य-प्रवृत्ति के अन्तर्गत किया है। उत्तर-छायावादी काल में हिन्दी-काव्य दो विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगा था—एक धारा सामाजिक यथार्थ और दूसरी धारा वैयक्तिक यथार्थ को आत्मसात् किये हुए थी। इन दोनों धाराओं में जीवन-यथार्थ का स्वर उभर कर व्यक्त होने लगा था। 'तार सप्तक' के वक्तव्य में अज्ञेय ने साधारणीकरण की समस्या पर विचार करते हुए प्रयोग के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। उनकी धारणा है कि 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक सत्य' की दो पराकाष्ठाओं के बीच उसके अनेक स्तरों की उद्भावना कवि आदि काल से करता आया है। साधारणीकरण की समस्या का रूप पहले इतना जटिल नहीं था जितना वह आज जीवन-परिपाटियों में घोर विषमता तथा विभिन्नता के कारण बन चुका है। व्यक्तिवादी चेतना के परिणामस्वरूप आज एक ही सामाजिक स्तर पर दो व्यक्तियों के सौन्दर्य-बोधों तथा विचार-धरातलों में वह समानता उपलब्ध नहीं होती जो पुरातन काल में संभव थी। इसलिये साधारणीकरण की समस्या कवि

को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति है।[1] काव्य में 'प्रयोग' के महत्त्व को इस रूप में स्वीकार करने के कारण आलोचक ने इस काव्य-प्रवृत्ति को प्रयोगवाद की संज्ञा देना उचित समझा। इसमें संदेह नहीं कि अज्ञेय ने दूसरे सप्तक में प्रयोगवाद नाम का एक मतवाद के रूप में इन शब्दों में विरोध किया—'प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे। न प्रयोग अपने में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है। कविता भी अपने आप में, इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें, 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कवितावादी' कहना।'[2] अज्ञेय प्रयोग को दोहरे साधन के रूप में स्वीकार करते हैं—एक तो वह उस सत्य को पाने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है और दूसरे वह प्रेषण को जानने का भी साधन है। इस प्रकार प्रयोग का महत्त्व वस्तु तथा उसके अनुरूप शिल्प दोनों को उपलब्ध करने में निहित है। इसलिये प्रयोग वस्तु और शिल्प दोनों क्षेत्रों में फलप्रद होता है। प्रयोगवाद को वाद-विशेष से मुक्त कराने के लिये इसे नयी कविता के नाम से भी अभिहित किया गया है। प्रयोगवाद उत्तर-छायावादी काल की एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकृत हो चुका है जिसकी अपनी वस्तुगत एवं शैलीगत विशेषताएँ हैं, जिसकी अपनी जीवन-दृष्टि है, जो एक ओर छायावाद तथा वैयक्तिक कविता की व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का विस्तार है और दूसरी ओर छायावाद की कल्पनाशीलता एवं स्वप्नशीलता, आदर्शवादिता एवं भावुकता का विरोधी है। इसकी स्थापना 'तार सप्तक (१९४३) के प्रकाशन से मानी जाती है जिसमें प्रगतिवादी काव्य-रचनाएँ भी संकलित हैं और जिसकी पुष्टि 'प्रतीक-पत्रिका' (१९४७-

---

१. तार सप्तक, पृ० ७४,७५।

२. दूसरा सप्तक, पृ० ६।

५२) 'दूसरा सप्तक' (१९५१) तथा 'तीसरा सप्तक' (१९५९) की रचनाओं तथा कवियों के अपने वक्तव्यों के द्वारा हुई है। इसके अनेक रूप तथा बहु नाम हैं। परन्तु इस काव्य-प्रवृत्ति की उपधाराओं में अन्तर भी लक्षित होता है। बिहार के कवियों—नलिन विलोचन, केसरीनारायण तथा नरेश मेहता—ने अज्ञेय के प्रयोगवाद का विरोध तथा इसके शुद्ध रूप प्रपद्यवाद अथवा नकेनवाद का प्रतिपादन किया है। इन्होंने प्रयोग को साध्य एवं साधन दोनों रूपों में स्वीकार किया है। प्रयोगवाद को केवल रूपवाद अथवा शिल्पगत काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है, परन्तु यह कोरे रूपवाद से अधिक व्यापक प्रवृत्ति है। डॉ० नामवरसिंह का मत है कि आजकल प्रयोगवादी काव्य को वाद-विशेष से मुक्त करने के लिए तथा व्यापक काव्य-प्रवृत्ति का स्वरूप देने के लिये इसे नयी कविता के नाम से अभिहित किया जा रहा है। वह प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद, रूपवाद, प्रतीकवाद तथा नयी कविता आदि को समाज-विरोधी अतिशय व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही विस्तार समझते हैं। उनकी मार्क्सवादी दृष्टि में प्रयोगवाद का इतिहास व्यक्तिवाद के दो सीमान्तों के बीच फैला हुआ है—एक सीमांत है मध्यवर्गीय परिवेश के प्रति मध्यवर्गीय कवि का वैयक्तिक असंतोष और दूसरा सीमांत है जन-जागरण से भीत कवि की आत्मरक्षा की भावना। यह चरम व्यक्तिवाद ही प्रयोगवाद का केन्द्र-बिन्दु है। वह चरम शब्द को व्यक्तिवाद के साथ इसलिये जोड़ते हैं कि छायावाद में व्यक्तिवाद का जो गौरवशाली स्वरूप है वह उनकी दृष्टि में प्रगतिशील है और प्रयोगवाद में जो उसका स्वरूप है वह ह्रासशील है। इसलिये मार्क्सवाद के आधार पर ही वह मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी चेतना का विश्लेषण उसके प्रगतिशील एवं ह्रासशील रूप में करना उचित समझते हैं। शिवदानसिंह चौहान को भी प्रयोगवादी काव्य में मनुष्य के जीवन-बोध को खण्डित और विकृत बनाने का ही उद्देश्य दीखता है। वह समझते हैं कि प्रयोगशीलता का आडम्बर तो

केवल समाजद्रोही भावनाओं और जीवन के प्रति घोर अनास्था तथा कुण्ठा को एक दुरूह संकेतात्मक भाषा, अस्वाभाविक अलंकार-योजना, और अहंवादी वचन-भंगिमा में छिपाने का उपक्रम मात्र है।[1] वह प्रयोगवादी कविता को नये उत्थान के रूप में स्वीकार नहीं करते, वरन् उसे छायावादी कविता के ह्रास का ही विकृत रूप मानते हैं।[2] प्रगतिवादी आलोचक नयी कविता को भी प्रयोगवादी काव्य प्रवृत्ति का रूप ही मानते हैं। डॉ० नगेन्द्र प्रयोगवादी कविता का विश्लेषण करने के उपरान्त इस पर अनेक आरोप लगाते हैं। यह कविता सिद्धांत एवं व्यवहार की दृष्टि से दुरूह है। इसमें रागात्मक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति की अपेक्षा बौद्धिक परिकल्पनाओं की अभिव्यंजना है जो मनोविश्लेषण की उपजीवी है और कवि के अवचेतन मन पर सीसे की परत की भाँति जमी रहती है। प्रयोगवादी काव्य में साधारणीकरण के प्रति सचेष्ट होते हुए भी उसकी अवहेलना है, उपचेतन मन के अनुभव खण्डों का यथावत् चित्रण है, काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकान्त तथा अनर्गल प्रयोग है। इसके मूल में नूतनता का मोह है। यथावत् चित्रण काव्य की बिम्बग्रहण पद्धति के विपरीत पड़ता है, इसलिए कवि साधारणीकरण नहीं कर पाता। उसका अभीष्ट अवचेतन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। इस प्रयत्न में, वह मनोविश्लेषण शास्त्र की 'मुक्त विचार-प्रवाह', 'स्वप्न-चित्र' आदि पद्धतियों से सहायता ग्रहण करता है और अभिव्यंजना के मूल सिद्धान्त का तिरस्कार करता है। प्रयोगवादी काव्य में बुद्धि को राग के स्थान पर स्थापित किया गया है जिसके फलस्वरूप उसमें रस का अभाव आ गया है। इस प्रकार इसके काव्य-सम्बन्धी सिद्धांत सदोष हैं। डॉ० नगेन्द्र ने प्रयोगवादी काव्य को अकाव्य घोषित

---

१. काव्यधारा, पृ० ४५।

२. काव्यधारा, पृ० ४६।

करने से भी संकोच नहीं किया है। उनके इस मूल्यांकन में रागात्मकता तथा साधारणीकरण की परम्परावादी दृष्टि लक्षित होती है। वह स्वीकार करते हैं कि आज का जीवन विगत जीवन की अपेक्षा अधिक जटिल है और उसी अनुपात में मानव-मन की प्रवृत्तियाँ भी निबिड़ हो गई हैं, परन्तु कवि साधारणीकरण का प्रयत्न ही नहीं करता। वह विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत न कर उसे विशेष में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है और नवीनता के मोह में साधारणीकरण के मूल सिद्धांत का निषेध करता है।[1] इसी प्रकार आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी विशुद्ध काव्य की दृष्टि से प्रयोगवादी कविता को अकाव्य की कोटि में रखना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनकी धारणा है कि प्रयोगवादी कवि पर एक अतिरिक्त बुद्धिवादिता का शासन है। वह अनिश्चित मानसिक स्थिति का व्यक्ति है और काव्य की वास्तविक भावभूमि पर पहुँचने में अक्षम है। वह यह स्वीकार करते हैं कि आज कवि पर अनेक प्रकार के मानसिक दबाव और दुश्चिन्ताएँ रहती हैं। उसका व्यक्तित्व किसी हद तक जटिल मानसिक उपकरणों से बना होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपनी संवेदनाओं को सुलझा न सके और उनकी काव्यात्मक या भावात्मक अभिव्यक्ति न कर सके।[2] आचार्य वाजपेयी का यह आरोप 'तार सप्तक' की रचनाओं पर आधारित है जिसमें सामाजिक यथार्थ तथा वैयक्तिक यथार्थ को अभिव्यक्ति देने वाले कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। इसलिए उनका मूल्यांकन काव्य के शिल्प के आधार पर किया गया है। वह सौष्ठववादी आलोचना की दृष्टि से बच्चन की कविताओं को ह्रासोन्मुख काव्य की संज्ञा देते हुए भी काव्य की कोटि में रखते हैं। उनकी रचनाओं में मनोवैज्ञानिक कुंठाओं, विक्षिप्त,

---

१. काव्यधारा, पृ० ५२।

२. आधुनिक साहित्य, प्रयोगवादी रचनाएँ, पृष्ठ २२।

आहत, पराजित अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तो उपलब्ध होती है, परन्तु उनमें उलझी हुई संवेदनाओं की अभिव्यक्ति नहीं है। प्रयोगवादी कवियों में केशवदास की भाँति चमत्कार की सृष्टि है। इस कारण प्रयोगवादी रचनाएँ अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हो काव्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उनके कवि व्यापक समाज के प्रति गहन आत्मीय सम्बन्ध से बँधे हुए नहीं हैं। इसलिए उनमें सामाजिक उत्तरदायित्व का अभाव है। उनमें काव्य-परम्परा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति भी उपेक्षा का अभाव है। उनका प्रयोग के प्रति इतना आग्रह है कि वे काव्य के भागवत और भाषागत संस्कारों तथा उन दोनों के स्वाभाविक विकास-क्रम से अपना सहज सम्बन्ध तोड़ देते हैं। वे प्रयोग में और काव्यात्मक सृजन में जो मौलिक अन्तर है उसकी उपेक्षा करते हैं। आचार्य वाजपेयी प्रयोगवाद को काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार नहीं करते। वह इसे पिछले खेवे के छायावादी साहित्य और विशेष कर महादेवी की गहन एकान्तिकता और बच्चन की नैराश्य-भावना की प्रतिक्रिया में किया गया व्यंग्य-विनोद से युक्त काव्य-प्रयत्न मानते हैं और उनकी दृष्टि में यह मत प्रयोगवाद की ऐतिहासिक वस्तु-स्थिति के अधिक निकट है।[1] आचार्य वाजपेयी प्रयोगवादी रचनाओं के इस मूल्यांकन के उपरान्त इन्हें हिन्दी के विशाल काव्योद्यान में स्थान देने के लिए उद्यत भी हो जाते हैं। आचार्य शुक्ल भी इसी प्रकार छायावादी काव्य को शैली-मात्र की संज्ञा देकर उसे 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में स्थान देने के लिए तैयार हो गए थे। प्रयोगवादी काव्य पर इस प्रकार प्रगतिवादी तथा सौष्ठववादी आलोचकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के आधार पर वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से आरोप लगाए हैं और इसे क्रमशः ह्रासशील काव्य तथा अकाव्य घोषित करने का प्रयास किया है।

---

१. आधुनिक साहित्य, प्रयोगवादी रचनाएँ पृष्ठ २५।

अज्ञेय ने सप्तकों के संपादक के रूप में, डॉ० जगदीश गुप्त तथा श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नयी कविता' के संपादक तथा समर्थक के रूप में और कवियों ने अपने वक्तव्यों के द्वारा प्रयोगवादी काव्य तथा नयी कविता के स्वरूप को वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से स्पष्ट करने तथा इसके सम्बन्ध में भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयत्न किया है। आलोचकों ने भी प्रयोगवादी काव्य तथा नयी कविता को काव्य-प्रवृत्तियों का स्वतन्त्र रूप देना स्वीकार किया है और इनकी उपलब्धियों एवं सीमाओं का मूल्यांकन किया है। प्रयोगवादी काव्य का सूत्रपात 'तार सप्तक' के प्रकाशन (१९४३) से प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में आलोचकों के विभिन्न मत हैं। डॉ० प्रेमशंकर ने इसका नवीन यथार्थ की दूसरी धारा के रूप में विवेचन किया है जिसमें सामाजिक चेतना को महत्त्व न देकर वैयक्तिक चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। इस काव्य-प्रवृत्ति के कवियों की दृष्टि व्यक्ति-चिन्तन तथा व्यक्ति-विश्लेषण पर टिकी हुई है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को उन्होंने एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। व्यक्ति पूर्णतया अपने सामाजिक परिवेश से वंचित भी नहीं है, परन्तु उसके लिये वह परिवेश प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष है। प्रयोगवादी कवि बौद्धिकता के औचित्य को अपनाता है और कभी-कभी इसमें इसकी निष्पत्ति को खोजने का प्रयत्न करता है। यह काव्य-धारा मनोविश्लेषण की भूमिका पर भी प्रतिष्ठित है। अवचेतन की स्थिति को व्यक्त करने के लिए बौद्धिक प्रक्रिया से काम लेना काव्य-सृजन का मूल बिन्दु है। वस्तु तथा शिल्प की दृष्टि से यह काव्य-प्रवृत्ति प्रयोग के महत्त्व को अनिवार्य रूप में ग्रहण करती है जिससे इस काव्य-धारा को प्रयोगवाद की संज्ञा से अभिहित किया गया है और जिसका विफल निषेध एवं निराकरण अज्ञेय ने किया है। डॉ० नामवरसिंह प्रयोगवाद का विश्लेषण मार्क्सवादी दृष्टिकोण से करते हैं और उनका मत है कि इसका उदय मोह-भंग से हुआ है। इसमें छायावादी कल्पना-शीलता के विपरीत यथार्थ का आग्रह

अधिक है जो प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति की भी विशेषता है। इन काव्य-प्रवृत्तियों के यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण में भारी अन्तर के कारण इनका परस्पर-विरोधी होना स्वाभाविक है। इस अन्तर को पाटने के लिये भी कवियों तथा आलोचकों ने प्रयत्न किये हैं। प्रयोगवादी कवि छायावादी काव्य में उदात्त के स्थान पर वस्तुओं के क्षुद्र रूपों को उद्घाटित करता है। इसके उदाहरण 'चाय की प्याली', 'मकड़ी का जाला', 'बाँस की टूटी हुई टट्टी', 'रिरियाता कुत्ता', 'चाँदनी में तीन टाँगों पर खड़ा गदहा' आदि में उपलब्ध होते हैं। इन कवियों ने छायावादी काव्य की अप्सरा-मयी, श्रद्धामयी, गरिमामयी, कल्पनामयी नारी को सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है जो उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। इस कारण अस्पृश्य प्रेम ने साकार होकर मांसल रूप धारण कर लिया है। भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की स्थापना भी इसी दृष्टि का प्रतिफल है। डॉ० नामवरसिंह की धारणा है कि छायावाद में मान-वीय प्रेम की अभिव्यक्ति का स्वरूप रहस्यात्मक है और प्रयोगवाद में इस पर बौद्धिक आवरण डाला गया है। इसमें रूढ़ियों का विरोध है और मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगे हुए हैं। प्रयोगवादी कवि मध्यवर्ग का सदस्य होने के कारण संकट-ग्रस्त, चिन्तित एवं विक्षुब्ध है। उसकी वाणी में प्रायः टूटने का स्वर ध्वनित होता है। विश्वम्भर मानव प्रयोग-वाद पर प्रतीकवाद से लेकर अतियथार्थवाद तक के प्रभावों को मानते हैं। वह प्रयोगवाद की अतिशय व्यक्तिवादी विचारधारा में संदेहवाद को पनपते और अनास्था को उभरते हुए देखते हैं। यह प्रयोगवाद के वस्तु-पक्ष का स्वरूप है। इसके शिल्प-पक्ष में बौद्धिक प्रतीक-विधान, विशृंखल स्मृति-चित्रण, स्वप्न-चित्रण, सूक्ष्म बिम्ब-विधान, मुक्त-छन्द, लयमान गद्य, आदि उपलब्ध होते हैं। प्रयोगवादी कविता में जीवन की आस्था-अनास्था, मधुरता-कटुता, असारता-व्यर्थता, घुटन-घुमड़न. दीनता-हीनता आदि का मार्मिक चित्रण है जो इस काव्य-प्रवृत्ति की

निजता है। इस प्रकार की जीवन-स्थिति की गहरी संवेद
अभिव्यंजना युग-चेतना के एक विशिष्ट स्तर का परिण
अवहेलना करना वस्तुस्थिति से पलायन ही समझा जा सव
वादी कवि साहस के साथ अपने व्यक्ति-मन तथा उसके माध्यम से परोक्ष रूप में सामाजिक स्थिति का उद्घाटन करता है। यह इस काव्य-प्रवृत्ति की ऐतिहासिक देन है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य नगेन्द्र तथा अन्य आचार्यों ने प्रयोगवादी कविता पर काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों के आधार पर जो आरोप लगाए हैं उनका निराकरण प्रयोगवादी कवियों को अधिकतर स्वयं करना पड़ा है। डॉ० जगदीश गुप्त रस और बौद्धिकता के प्रश्न पर विचार करते हुए लिखते हैं कि रस-सिद्धान्त को शाश्वत मानने का मोह कभी-कभी प्रयोगवादी कविता के मूल्यांकन में बाधक है। इस कविता का लक्ष्य रसानुभूति कराना नहीं है। इसके मूल में कारण को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है—"बुद्धि भावों को स्थायी नहीं होने देती और फलतः आलम्बन स्थिर नहीं रहते।"[1] उनकी दृष्टि में यह कविता रिझाती कम है, सताती अधिक है। व्यंग्य करना, चोट करना, झकझोर देना, टोक देना, सोचने पर बाध्य करना इसका स्वभाव है। इसमें यथार्थ-चित्रण के प्रति आग्रह, सूक्ष्म व्यंग्य, शैली-वैचित्र्य, बौद्धिक प्रतीक-विधान आदि प्रमुख विशेषताओं के पीछे प्रेरणा का स्वरूप बुद्धिगत अनुभूति है। रसानुभूति इसके विपरीत है, वह भावों के गहरे सामंजस्य को ले कर चलती है। रसास्वादन के क्षणों में चेतना के बौद्धिक व्यापार शान्त हो जाते हैं। इस कविता के आस्वादन में बौद्धिक व्यापार अधिक क्रियाशील हो जाता है। नये युग का वातावरण बुद्धि को असंतुष्ट रख कर भावों तक जाने की अनुमति नहीं देता। इसलिए डॉ० गुप्त का मत है कि

---

१. आलोचना ७, पृष्ठ ५६।

इस कविता का आस्वाद पाने के लिये नयी अभिरुचि एवं नये दृष्टिकोण की आवश्यकता है। नये रूपों के विकास के साथ प्रायः नये सिद्धांतों की आवश्यकता होती है। रस-सिद्धांत के आधार पर इस काव्य-प्रवृत्ति की विवेचना युक्ति-संगत नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने इसके महत्त्व को पूरी तरह समझा है और रस-सिद्धांत तथा साधारणीकरण की समस्या पर गंभीरता से विचार किया है। डॉ० जगदीश गुप्त के मतानुसार भरतमुनि का रस-सिद्धान्त विशेषतः दृश्य काव्य के लिये है। श्रव्य काव्य के लिये अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सिद्धान्तों की उद्भावना करनी पड़ी है। ध्वनि-सिद्धान्त में रस को भी समाविष्ट कर लिया गया है। रस-विधान नाटकों तथा महाकाव्यों में उपलब्ध होता है जिनमें कथा तथा विस्तार रहते हैं। रस की निष्पत्ति के लिये स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी के योग की आवश्यकता होती है जो इस रूप में स्फुट काव्य में संभव नहीं है। इस कारण मुक्तक काव्य में चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता मिलती है। प्रयोगवादी कविता को रस की कसौटी पर परखना अनुचित है। इसमें लक्षणा शक्ति के विकास और उक्ति-वैचित्र्य की परम्परा का नवीन सूत्रपात हुआ है। इस कविता के समर्थक इसे आधुनिक मानस की सहज परिणति मानते हैं। इसमें भाव-प्रणाली की अपेक्षा प्रभाव-प्रणाली अधिक है। इसकी बौद्धिकता भी कबीर की उलटबासियों तथा सूर के कूटों की दुरूहता से भिन्न है जिससे प्रयोग वाद की तुलना आचार्य नगेन्द्र ने साधारणीकरण की दृष्टि से की है।

अज्ञेय ने साधारणीकरण के प्रश्न को दूसरे सप्तक की भूमिका में उठाया है और इसके उत्तर में यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि 'प्रयोगवादी' कवि न केवल इस सिद्धान्त को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं।[1] इसके अतिरिक्त वह सभ्यता

---

१. दूसरा सप्तक, पृष्ठ ६

के विकास के साथ-साथ मानव की अनुभूतियों के क्षेत्र के विकास को भी मानते हैं और अनुभूतियों को व्यक्त करने के उपकरणों के विकास को भी आवश्यक समझते हैं। वह स्वीकार करते हैं कि मानव के मूल राग—प्रेम, घृणा आदि—नहीं बदले, परन्तु राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गयी हैं।[1] अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिये वह 'तथ्य' और 'सत्य' में, 'वस्तु सत्य' और 'व्यक्ति-सत्य' में अन्तर को निरूपित करते हैं। सत्य वह तथ्य है जिससे व्यक्ति के रागात्मक सम्बन्ध का बोध होता है। तथ्य का काव्य में कोई स्थान नहीं है, इसमें केवल सत्य की अभिव्यक्ति होती है। 'वस्तु-सत्य' अथवा 'तथ्य' बाह्य वास्तविकता है। उसके बदलने से उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं। यदि वे नहीं बदलतीं तो बाह्य वास्तविकता से मानव का सम्बन्ध टूट जाता है। आज की वास्तविकता से इन आचार्यों के सम्बन्ध टूटे हुए हैं। आन्तरिक सत्य अथवा व्यक्ति-सत्य की अभिव्यक्ति के लिये साधारणीकरण की समस्याओं का उठना स्वाभाविक है। पुरातन काल में साधारणीकरण की समस्या सरल थी, काव्य के मुहावरे सीमित थे। आज के युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हैं। कवि के सामने समस्या यह है—क्या वह सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे या वह व्यापक क्षेत्र तक पहुँचने के लिए सीमित मुहावरे में बँधा न रह कर राह खोजने की जोखिम उठाए। पहली अवस्था में कवि साधारणीकरण करता है, परन्तु इसके साथ ही साधारण के क्षेत्र को संकुचित करके वह आन्तरिक विरोध की स्थिति का आश्रय लेता है। दूसरी अवस्था में वह साधारणीकरण के लिए एक संकुचित क्षेत्र के साधारण मुहावरे को छोड़ने के लिए बाधित होता है; परन्तु इससे वह एक दूसरे आन्तरिक

---

१. तीसरा सप्तक, पृष्ठ ६।

विरोध की शरण लेता है। यदि अज्ञेय का यह निरूपण ठीक है तो कवि के सामने प्रश्न यह है कि दोनों आन्तरिक विरोधों की स्थितियों में कौन सी अधिक ग्राह्य है। अज्ञेय की धारणा है कि दूसरी स्थिति को अपनाने से कवि को उदार एवं व्यापक दृष्टि से देखने का श्रेय मिलेगा। साधारणीकरण की समस्या के साथ भाषा का मूल प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। भाषा के शब्दों का चामत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। इसलिये कवि को शब्दों का निरन्तर नया संस्कार करना पड़ता है और ये संस्कार क्रमशः जन-मन में पैठ कर पुनः अभिधेय हो जाते हैं कि उस रूप में वे कवि के काम के नहीं रहते। अज्ञेय का मत है कि अभिधेय अर्थ में शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण पड़ जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होता। कवि नये तथ्यों को उनके साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोड़ कर नये सत्यों का रूप देता है।[1] उन की दृष्टि में आज साधारणीकरण अधिक कठिन है। कवि तथा सहृदय दोनों की संवेदनाओं में उलझाव समान परिस्थितियों का परिणाम है। यह एक विडम्बना होगी यदि कवि आज के सत्य को इस कारण व्यक्त न करे कि उसे सब एक साथ नहीं समझते और उसका परित्याग कर वह कल के ही सत्य को व्यक्त करता रहे। इस प्रकार अज्ञेय साधारणीकरण की समस्या को महत्त्व देकर उसका समाधान आधुनिक परिस्थितियों के संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं। डॉ० जगदीश गुप्त तथा अज्ञेय ने रस तथा साधारणीकरण की समस्याओं पर अपनी दृष्टि से आलोक डाल कर इनको सुलझाने अथवा उलझाने का प्रयत्न किया है। यह सत्य है कि आज के विशेषीकरण के युग में काव्य का भी विशेषीकरण हो रहा है। अतः रस तथा साधारणीकरण के 'शाश्वत' सिद्धांतों पर भी प्रश्न-चिह्न लगाए जा रहे हैं और इनका विवेचन नयी दृष्टियों से किया

---

१. दूसरा सप्तक, पृ० ११, १२।

जा रहा है। साधारणीकरण को विशिष्ट रूप दिया जा रहा है और नव-रसों की संख्या में वृद्धि कर वृद्ध-रस को दसवें रस के रूप में प्रतिपादित किया जा रहा है। इसके मूल में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जो सभी परम्पराओं को चुनौती देने और रूढ़ियों का विरोध करने की प्रेरणा देता है। इसके फलस्वरूप अराजकता, अव्यवस्था, अनास्था, नास्तिकता, संदेहात्मकता के वातावरण की दृष्टि स्वाभाविक है। प्रयोगात्मकता की प्रवृत्ति के प्रति कवियों का आग्रह संयोगवश नहीं कारणवश है। वस्तु तथा शिल्प की दृष्टि से काव्य के मूल प्रश्नों को उठा कर उनके उत्तर नयी भाषा में देने का प्रयास किया जा रहा है। और यह भाषा बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता से अनुरंजित है तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों एवं अधुनातन काव्य-प्रवृत्तियों से प्रभावित है।

११. अज्ञेय का काव्य

अज्ञेय, जिनका व्यक्तित्व जटिल तथा काव्य जटिलतर है, प्रयोगवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और उसके स्वरूप को रूपायित करने तथा उसे उत्तर-छायावादी काव्य-प्रवृत्ति के रूप में प्रतिपादित करने का श्रेय भी उन्हें प्राप्त है। उनका व्यक्तित्व एवं काव्य पाश्चात्य साहित्यिक विचारधाराओं तथा मौलिक कृतियों से प्रभावित है और उनकी उपलब्धि एक बुद्धिजीवी साहित्यकार की जीवन-दृष्टि से भारतीय जीवन के एक खंड का चित्रण एवं मूल्यांकन करने में निहित है। अज्ञेय ने स्वयं घोषित किया है कि उनके कृतित्व को द्वितीय महायुद्धोत्तर साहित्य-धाराओं से सम्बद्ध माना जाए जिनके द्वारा जीवन की कठोर एवं जटिल परिस्थिति तथा उसकी समस्याओं को अभिव्यक्ति मिली है[१] उनका काव्य छायावादी तथा उत्तर छायावादी दो कालों में होने के कारण दो

---

१. Contemporary Indian Literature: P. 48

भागों में विभाजित किया गया है। 'भग्नदूत' (१९३३) और 'चिन्ता' (१९४१) में संकलित कविताएँ छायावाद से प्रभावित हैं। इसके अन्तर्गत 'इत्यलम्' (१९४६) की भी कुछ रचनाएँ आ जाती हैं। 'इत्यलम्' में 'वंचना के दुर्ग' और 'मिट्टी की ईहा' मुख्यतः और शेष कविताएँ अंशतः प्रयोगवादी कविता की कोटि में रखी जाती हैं। 'इत्यलम्' के बाद के कविता-संकलन 'हरी घास पर क्षण भर' (४० से ४६ तक) 'बावरा अहेरी' (५० से ५३ तक) 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये' (५४ से ५७ तक) 'अरी ओ करुणा प्रभामयी' की रचनाओं को एक आलोचक ने प्रयोगवादी कविता से अधिक व्यापक नव-स्वच्छन्दतावाद नामक काव्य-प्रवृत्ति से सम्बद्ध किया है जिसमें प्रयोग को शिल्पगत से अधिक वस्तुगत समझा गया है। अज्ञेय के सम्पूर्ण काव्य में 'चिन्ता' को विशिष्ट स्थान दिया जाता है जो वस्तु एवं रूप की दृष्टि से उनकी अन्य रचनाओं से भिन्न है, जिसमें नारी और पुरुष के चिरन्तन व्यापार की अभिव्यंजना गद्य-पद्यमयी है और जो लारेंस की विचारधारा से प्रभावित मानी जाती है। इसमें अज्ञेय पुरुष और स्त्री के परस्पर यौन सम्बन्ध को पति और पत्नी के सामाजिक सम्बन्ध तक सीमित न कर चिरन्तन पुरुष और चिरन्तन नारी में 'गतिशील' सम्बन्ध को स्वीकार करने के पक्ष में हैं। नारी और पुरुष में आकर्षण एवं विकर्षण की स्थिति जिसे दोनों का संघर्ष भी कह सकते हैं 'चिन्ता' का मूल विषय है जो लारेंस की कविताओं तथा उपन्यास-कृतियों से प्रभावित है। अज्ञेय का पुरुष 'विश्व प्रिया' में असामान्य तत्त्वों से निर्मित है, किन्तु 'एकायन' में नारी का स्वरूप सहज एवं स्वाभाविक है जिसकी उद्-भावना लारेंस ने अपनी कृतियों में की है। 'एकायन' में उनके शेखर का आभास भी उपलब्ध होता है; उसका असाधारण व्यक्तित्व स्वतः इन पंक्तियों में फूट पड़ा है—

तोड़ दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान

तुम हँसो कह दो कि अब उत्सर्ग वर्जित है
छोड़ दूँ कैसे भला मैं जो अभीप्सित है
कोषवत् सिमटी रहे यह चाहती नारी
खोल देने, लूटने का पुरुष अधिकारी
+ + + +
बद्ध है कामना में क्षणिक तेरा हास
मेघ उर में ही बुझेगा दामिनी का लास
दूर रहने की हृदय में ठानती क्या हो
मत हँसो नारी, मुझे अपना वशीकृत जान।
तोड़ दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान।[1]

इस कारण 'चिन्ता' को उनके काव्य का आधार तथा उनकी जीवन-दृष्टि का केन्द्र माना गया है। कवि का समग्र व्यक्तित्व नारी सापेक्षता में ही फलीभूत होता है। 'हरी घास पर क्षण भर' की 'क्षमा की वेला' कविता में भी इस मूल-भावना की अभिव्यंजना इन शब्दों में मिलती है—

आह—
भूल मुझ से हुई—मेरा जागता है ज्ञान
किन्तु यह जो गाँठ है साँझी हमारी
खोल सकता हूँ अकेला
कौन-से अभिमान के बल पर
हाँ तुम्हारे चेतना तल पर
तैर आये अगर मेरा ध्यान।[2]

अज्ञेय ने प्रेम के जिस स्वरूप को व्यंजित किया है वह वासना से युक्त

---

१. चिन्ता, पृ० ४८, ४९।
२. हरी घास पर क्षण भर, पृ० ३५।

एवं सिक्त है, उसकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष एवं परोक्ष है, स्पष्ट एवं प्रतीकात्मक है। वह अपनी यौन-भावनाओं को प्रकृति के उपकरणों द्वारा उभारने एवं मुखरित करने में प्रयत्नशील हैं। भूमि के कंपित उरोजों पर मेघ का झुकना, लाल गुलाब की तपती एवं पियासी दो पंखुड़ियों की दो ओठों से तुलना, अयानी हरियाली का बादलों के चुम्बनों से खिल उठना, मतवाली कली का शरद की धूप में नहा कर निखर जाना आदि अनेक यौन प्रतीकों एवं बिम्बों द्वारा अपनी प्रेमानुभूति को कवि ने व्यक्त किया है। इस प्रणयानुभूति का दूसरा पक्ष विरह की स्थिति में लक्षित होता है, जिसमें प्रेम-भाव का घनीभूत होना इन पंक्तियों में व्यंजित हुआ है—

पा न सकने पर तुम्हें
संसार सूना हो गया
विरह के आघात से प्रिय
प्यारा दूना हो गया।[1]

इस रचना में प्रेम के वासनात्मक रूप के स्थान पर साधनात्मक रूप ही व्यक्त हुआ है जो छायावादी काव्य के शेष प्रभाव का आभास देता है और जिससे कवि 'महीवाल' नामक कविता में मुक्ति पा लेता है और मोह-भंग की स्थिति को क्रौंच के वल्मीक पर बैठ कर दीमकों की टोह द्वारा व्यक्त करता है।[2] अज्ञेय का व्यक्तित्व इतना अहंवादी है और उनकी जीवन-दृष्टि इतनी व्यक्तिवादी है कि वह प्रेम के साधनात्मक रूप में स्वयं अधिक काल तक तन्मय नहीं रह सकते। उनका क्षणवाद एवं भोगवाद भी इस मूल भावना से प्रेरित है। वह नारी के बन्धु होकर उसके साथ सैर को आये थे। यदि वह उसके साथ हरी घास पर क्षण

---

१. इत्यलम्, पृ० १२५।
२. इत्यलम्, पृ० ४५।

से अधिक बैठे रहे तो लोग उन्हें धुँधले में बैठे दो दुबके प्रेमी कहेंगे। यदि वे दो प्रेमी भी हैं तो इसका ज्ञान हरी घास को ही हो सकता है। इस प्रकार उनकी कविता में प्रणय की अनुभूति शारीरिक वासना, नवीन विचार-बोध तथा सौन्दर्य-बोध से युक्त है जो प्रयोगवादी काव्य की विशेषता है।

अज्ञेय के काव्य पर इलियट की इस धारणा की गहरी छाप पड़ी है कि प्रयोग उन कवियों की कृतियों में उपलब्ध होता है जो प्रौढ़ एवं विकासशील हैं, जो नयी विषय-वस्तु की ओर उन्मुख हैं या पुरानी विषयवस्तु को नये शिल्प-माध्यम से उपस्थित करते हैं। प्रयोग लयगत, बिम्बगत, प्रतीकगत, रूपगत हो सकते हैं। इलियट का मत है कि नया कवि अपनी वैयक्तिक विशिष्टता के साथ विशिष्ट युग से भी सम्बद्ध होता है। अज्ञेय ने स्वयं कहा है कि उनका सम्बन्ध द्वितीय महायुद्ध के बाद की भारतीय परिस्थिति से जोड़ा जाना चाहिए जब व्यक्ति जटिल बन गया था और उस की संवेदनाएँ उलझ गयी थीं। अज्ञेय का कवि-मानस युग की नवीन चेतना को व्यंजित करने के लिये निरन्तर आकुल और प्रयोगशील रहा है। उनके काव्य के मूल में व्यक्तिवादी चिन्तन और उससे रूपायित शैली में प्रयोगात्मक तत्त्व है। वस्तु तथा शिल्प की दृष्टि से उनके काव्य को ब्राउनिंग की बौद्धिकता, लारेंस की क्षण-वादिता, इलियट की प्रतीकात्मकता ने प्रभावित किया है। क्षणवाद की परिधि में बर्गसॉन की 'जीवन-शक्ति', सार्त्र के 'अस्तित्ववाद', और मनोविश्लेषण के 'चेतना-प्रवाह' के सिद्धांत आते हैं। वस्तु की दृष्टि से क्षणवाद का सिद्धांत भोगवाद एवं दुखवाद को पोषित करता है और शिल्प की दृष्टि से यह सिद्धान्त बिम्बवाद एवं प्रतीकवाद को प्रोत्साहित करता है। अज्ञेय के काव्य पर इस सिद्धांत की स्पष्ट छाप है। छन्द के क्षेत्र में उन्होंने सब कवियों से अधिक प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगों का विस्तार पुराने कवित्तों, घनाक्षरी छन्दों, उर्दू छन्दों आदि से लेकर लोक-

गीतों तक है। मुक्त छन्दों में लघु पंक्ति वाले मुक्त छन्दों से लेकर दीर्घ पंक्ति वाले मुक्त छंदों का प्रयोग हुआ है। कवि की अपनी प्रवृत्ति मध्य पंक्तियों वाले छन्दों की ओर अधिक है। प्रतीकों के क्षेत्र में यौन-प्रतीकों की भरमार है। इनके अतिरिक्त कवि की मानसिक दशाओं को व्यक्त करने के लिये भी प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं। उदासीन मनःस्थिति के लिये 'शिशिर', जीवन की शुष्कता को व्यक्त करने के लिये 'बालू का अँगुलियों में से यों ही बह जाना' आदि का प्रयोग मिलता है। (अज्ञेय की प्रतीक-योजना भावात्मक न होकर बौद्धिक है। इसका आभास स्वप्न और स्मरण चित्रों के क्षेत्र में भी उपलब्ध होता है। इस दिशा में कवि मनोविश्लेषण के सिद्धांतों से प्रभावित है।) उन्मुक्त अनुषंगों के आधार पर अज्ञेय की रचनाएँ पाश्चात्य रूपवाद की देन हैं। इस प्रकार की रचनाओं में जिनमें 'कंकरीट का पोर्च', 'चार का गजर', 'हरी घास पर क्षण भर' के नाम लिये जा सकते हैं, कवि की कल्पना असम्बद्ध होकर उन बिम्बों तथा प्रतीकों का संग्रह करती है जो एक दूसरे से विच्छिन्न होने के कारण दुरूह हो जाते हैं। इलियट के अनुसार यह स्थिति संक्रांति काल में उत्पन्न होती है जब कवि पुराने मुहावरे का परित्याग कर नये मुहावरे को अपनाता है और जब नया मुहावरा अभी निश्चित एवं स्वीकृत नहीं हो पाया है। साधारणीकरण की समस्या भी इस काल में जटिल बन कर आती है। श्री जितेन्द्रनाथ पाठक ने अज्ञेय के काव्य का मूल्यांकन करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि उसकी मूल भावना में कवि का अहं है। अपने अहंवाद एवं व्यक्तित्व की स्थापना में कवि संघर्षशील है। प्रेम, नारी, दर्शन, प्रकृति आदि उनके उग्र अहंवाद के परितोष के साधन तथा उपकरण मात्र हैं। आलोचक ने उनके काव्य को तीन सोपानों में विभाजित किया है—छायावाद, प्रयोगवाद और नव-स्वच्छन्दतावाद। छायावाद में भावात्मकता, प्रयोगवाद में बौद्धिकता तथा नव-स्वच्छन्दतावाद में बौद्धिक तथा अबौद्धिक

शक्तियों का संयोग एवं संश्लेषण है। आलोचक की दृष्टि में अज्ञेय के प्रयोगवाद का विकास नव-स्वच्छन्दतावाद में हुआ है जिसे नयी कविता की संज्ञा से भी अभिहित किया जाने लगा है। प्रयोगवादी काव्य-प्रवृत्ति अवरुद्ध होकर प्रपद्यवाद में सीमित हो जाती है और यही प्रवृत्ति गतिशील होकर नयी कविता में विकास पा रही है। नव-स्वच्छन्दतावाद (New romanticism) पाश्चात्य काव्य की भी नवीनतम काव्य-प्रवृत्ति है। डॉ० प्रेमशंकर ने उत्तरछायावादी काव्य-प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए इसे नव-यथार्थवाद (New realism) के नाम से अभिहित किया है जिसके दो पक्ष हैं। एक व्यक्ति-हित और दूसरा समाज-कल्याण की भावना से प्रेरित है, एक प्रयोगवाद और दूसरा प्रगतिवाद के नाम से प्रचारित किया गया है। इस प्रकार उत्तरछायावादी काव्य-प्रवृत्तियों का विश्लेषण विभिन्न दृष्टियों से हुआ है। इसके मूल में दो विभिन्न विचारधाराएँ हैं—एक व्यक्ति को केन्द्र में रख कर जीवन का चित्रण करती है और दूसरी समाज को आधार बना कर जीवन का मूल्यांकन करती है। प्रयोग दोनों के लिये महत्त्व रखता है—केवल प्रपद्यवादी कवि प्रयोग को साध्य के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी वस्तु एवं शिल्प के क्षेत्र में प्रयोग को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। यह इनमें समानता का लक्षण है। इनमें विभिन्नता जीवन-दृष्टि की विभिन्नता के कारण है। अज्ञेय का कवि प्रयोगवाद की रूढ़ परिधि से निकल कर प्रयोगशील है। उसके विकास की नवीन दिशा नव-स्वच्छन्दतावाद अथवा नयी कविता के काव्य-प्रयास में लक्षित होती है जो प्रगतिवादियों की दृष्टि में व्यक्तिनिष्ठ है और व्यक्ति-चिन्तन से अनुप्राणित है। अनेक मत-विरोधों तथा विविध वादों के संदर्भ में अज्ञेय के काव्य का स्वरूप अस्पष्ट एवं अनिश्चित है, परन्तु उसे अकाव्य की संज्ञा देना भी अनुचित जान पड़ता है। उत्तरछायावादी काल में अज्ञेय की रचनाओं तथा विचार-धाराओं के द्वारा हिन्दी काव्य की नवीन

दिशाओं का उद्घाटन अवश्य हुआ है। उनके काव्य तथा चिन्तन के माध्यम से हिन्दी कविता का पाश्चात्य काव्य-प्रवृत्तियों से प्रभावित होना स्वीकार किया जाता है।

१२. नयी कविता—

प्रयोगवादी काव्य 'तार सप्तक' में शिल्पगत था। उसमें वस्तु की दृष्टि से व्यक्ति-यथार्थ तथा सामाजिक-यथार्थ दोनों की अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल आदि की रचनाओं में 'प्रगति' अथवा सामाजिक-यथार्थ के स्वर मुख्य रूप में ध्वनित होते हैं, अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर आदि की कविताओं में प्रमुखतः व्यक्ति-यथार्थ को अभिव्यंजना मिली है। दूसरे सप्तक में आकर 'व्यक्ति-सत्य' का स्वर अधिक गंभीर एवं अधिक व्यापक हो जाता है और तीसरे सप्तक में संकलित कवियों की रचनाओं में इसको गहराने की प्रवृत्ति ही लक्षित होती है। सामाजिक-यथार्थ को भी व्यक्ति-सत्य की दृष्टि से आँकने तथा व्यक्त करने का प्रयास तीसरे सप्तक के कवियों की विशिष्टता है। व्यक्ति-सत्य को गहराने तथा सामाजिक सत्य को वैयक्तिक दृष्टि से आत्मसात् करने के प्रयास को प्रयोगवाद की अपेक्षा नयी कविता के नाम से अभिहित किया जा रहा है। अज्ञेय के अतिरिक्त जगदीश गुप्त तथा लक्ष्मीकांत वर्मा नयी कविता के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं। इसे प्रयोगवादी काव्य-प्रवृत्ति के विकसित रूप में भी ग्रहण करने की वृत्ति पाई जाती है। अज्ञेय का नयी कविता से सम्बद्ध होना उनके प्रयोगशील दृष्टिकोण का परिणाम है। इसी कारण उन्होंने दूसरे सप्तक की भूमिका में प्रयोगवाद का काव्य के वाद के रूप में विरोध किया था और प्रयोग को वाद-विशेष से मुक्त करने का प्रयत्न किया था। प्रयोगवाद रूढ़ होकर प्रपद्यवाद अथवा नकेनवाद का रूप धारण करने लगा और गतिशील होकर नयी

कविता में विकास पाने लगा है। परन्तु इनके मूल में व्यक्ति-चिन्तन, व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति-यथार्थ के विविध स्तर तथा विभिन्न धरातल हैं। इनका वैयक्तिक काव्य की उपधाराओं के रूप में मूल्यांकन करना तथा इनको 'व्यक्ति-सत्य' को व्यंजित करने वाली एक ही व्यापक काव्य-प्रवृत्ति की एकसूत्रता में बाँधना उपयुक्त जान पड़ता है। प्रयोगवाद, नकेनवाद तथा नयी कविता की रचना करने वाले कवियों की सूची विस्तृत एवं विशाल है। इसमें अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे के नाम 'तार सप्तक' से, शमशेरबहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, धर्मवीर भारती दूसरे सप्तक से, प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, केदारनाथसिंह, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना तीसरे सप्तक से और इनके अतिरिक्त जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा, बालकृष्ण राव, श्रीकांत वर्मा आदि के नाम नयी कविता के अंकों से लिये जा सकते हैं। 'नयी कविता' के अंकों की अनेक रचनाओं में प्रगतिशील स्वर भी ध्वनित हुआ है जिससे व्यक्ति-यथार्थ तथा सामाजिक-यथार्थ को समन्वित करने का प्रयास भी लक्षित होता है। परन्तु जिस प्रकार 'तार सप्तक' में प्रयोग की समानता होते हुए इन दो मूल काव्य-प्रवृत्तियों में अन्तर पाटने का प्रयास विफल सिद्ध हुआ था, उसी प्रकार नयी कविता में इनमें विरोध को शांत करने का प्रयत्न सफल नहीं हो पाया है। यह सत्य है कि आज भारतीय जीवन में राजनीतिक दृष्टि से व्यक्ति-हित तथा समाज-मंगल में समन्वय को स्थापित करने के प्रयास हो रहे हैं, परन्तु इस चेतना को गहराने तथा आत्मसात् करने के लिये अभी समय की अपेक्षा है। उपन्यास के क्षेत्र में अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र' इस दिशा की ओर संकेत अवश्य है, परन्तु इस उपन्यास में 'बूँद और समुद्र' व्यक्ति और समाज का समन्वय स्वाभाविक न होकर आरोपित प्रतीत होता है। इसी प्रकार नयी कविता की कतिपय रचनाओं में व्यक्ति-हित तथा समाज-कल्याण

में सामंजस्य की स्थिति सहज न होकर कृत्रिम है, आन्तरिक न होकर बाह्य है, गहरी न होकर सतही है। अज्ञेय तथा उनके सहयोगियों ने उत्तरछायावादी काल में वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से प्रयोग की समस्या को उठाया और उसका समाधान व्यक्ति-चिन्तन की दृष्टि से उपस्थित किया, परन्तु प्रगतिवादियों ने प्रयोग के महत्त्व को स्वीकार करते हुए समाज-मंगल की दृष्टि से काव्य-वस्तु का प्रतिपादन किया और काव्य-शिल्प की उपेक्षा की। इस मतभेद के फलस्वरूप उत्तरछायावादी काव्य-धारा विभक्त होकर दो विभिन्न सीमान्तों में प्रवाहित होने लगी। व्यक्ति-चिन्तन से अनुरंजित काव्य-धारा भी उपधाराओं का रूप धारण करने लगी और इनमें प्रयोगवाद तथा नकेनवाद का यथासाध्य स्पष्टीकरण किया जा चुका है। नयी कविता भी मूलतः व्यक्ति-चिन्तन से सम्बद्ध है। लक्ष्मीकांत वर्मा तथा उसके सहयोगी कवियों ने अपने दृष्टिकोण को तीसरे सप्तक के वक्तव्यों द्वारा और नयी कविता के आलोचनात्मक निबन्धों के माध्यम से इस काव्य-प्रवृत्ति की वस्तुगत तथा शिल्पगत विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वस्तु एवं शिल्प किस प्रकार एक-दूसरे को प्रभावित एवं रूपायित करते हैं और किस प्रकार युग-चेतना तथा कवि की जीवन-दृष्टि से निर्धारित होते हैं यह आलोचना-शास्त्र के लिये एक स्वतन्त्र विषय है। नयी कविता की वस्तुगत तथा शिल्पगत विशेषताओं का मूल्यांकन उसकी मूल विचार-धारा के संदर्भ में अपेक्षित है।

नयी कविता को एक काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्थापित करने के लिये लक्ष्मीकांत वर्मा ने नयी कविता के प्रतिमान के रूप में उसकी वस्तुगत एवं शिल्पगत विशेषताओं का विवेचन किया है। उसकी मूल विचार-धारा एवं जीवन-दृष्टि का विश्लेषण किया है और उसके सौन्दर्य शास्त्र को स्थापित करने के लिये प्रयत्न भी किया है। डॉ० जगदीश गुप्त ने नयी कविता की रचनाओं को प्रस्तारित कर नयी कविता के सम्पादन

द्वारा इस काव्य-प्रवृत्ति को स्वतन्त्र रूप देने में सहयोग दिया है। इसका प्रसार एवं प्रचार अन्य पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी हो रहा है। इसलिये उत्तरछायावादी काल में नयी कविता एक स्वतंत्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकृत होने लगी है। नयी कविता का अधिकांश बहुमुखी होने के कारण अव्यस्थित प्रतीत होता है, परन्तु इसकी अव्यवस्था में भी एक नयी व्यवस्था को पाने की आकांक्षा है। इसमें अधुनातन परिवेश की अभिव्यक्ति है और इस परिवेश का स्वरूप जटिल एवं बहुमुखी है। इसलिये इसमें अनेक स्वरों की ध्वनि तथा विविध स्तरों का आभास है। नयी कविता में बर्गसॉन के चेतनावाद, विलियम जेम्स के चेतना-प्रवाह, आइंस्टाइन के सापेक्षवाद, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि के प्रभावस्वरूप युग की जटिल चेतना तथा व्यक्ति की निबिड संवेदना को पकड़ने का प्रयास है। इसलिये लक्ष्मीकांत वर्मा ने इस परिवेश को आधुनिकता एवं समसामयिकता की संज्ञाओं से अभिहित किया है। नयी कविता में आधुनिकता का भाव-बोध है और इस भाव-बोध की अभिव्यक्ति के लिये उन प्रतीकों बिम्बों आदि का प्रयोग है जो यथार्थ जीवन की उपज हैं और जिनका सम्बन्ध उस वैयक्तिक भाव-स्तर से है जो क्षण के साथ आन्दोलित होता है। मानवीय सत्य के महत्त्व को स्थापित करने के लिये नयी कविता लघु परिवेश तथा छोटे क्षण के प्रति आस्था रखती है। इसलिये नयी कविता का उद्देश्य जीवन की नवीन परिस्थिति, उसके नवीन स्तरों एवं धरातलों को व्यक्ति-सत्य की दृष्टि से अभिव्यक्ति देना है। इस प्रकार से व्यक्ति-सत्य को रेखांकित कर इसकी मूल विचार-धारा का परिज्ञान हो जाता है। परन्तु व्यक्ति-सत्य को अति-व्यक्तिवादी विचार-धारा से भिन्न भी माना गया है। लक्ष्मीकांत वर्मा नयी कविता के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि एक ओर समष्टिवादी विचार-धारा और दूसरी ओर अतिव्यक्तिवादी विचार-धारा नव-विकास के लिये घातक हैं। नयी काव्य-चेतना दोनों की अनावश्यक तथा कृत्रिम

आकांक्षा के प्रति विद्रोह करती है।[1] समष्टिवाद से आलोचक का आशय प्रगतिवाद से है और अतिव्यक्तिवाद से उनका अभिप्राय प्रपद्यवाद से है। इस प्रकार नयी कविता को एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्थापित करने के प्रयास से उसे मतवाद के आग्रह से मुक्त किया जाता है। नयी कविता उनकी दृष्टि में सामाजिक स्तर पर भी मानव की व्यक्तिनिष्ठा को स्वीकार करती है और व्यक्ति की विशिष्टता नये भाव-स्तरों को निजी स्वर देती है। इसमें मात्र शिल्पगत प्रयोग न होकर विषय-वस्तु की नवीनता है और विषय-वस्तु मात्र चमत्कार न होकर एक साक्षात्कार किया हुआ जीवन-सत्य है, और जीवन-सत्य बाह्य आरोपित न होकर मानवीय स्तर पर अनुभूत सत्य है। जीवन-सत्य स्थिति-विशेष की अभिव्यक्ति है और यह स्थिति स्थितिशील न होकर गतिशील है।[2] इसलिये एक ओर इसमें छायावाद के उदात्त आदर्शवाद का विरोध है जिसका अमर बेल के समान अपना धरातल नहीं है और दूसरी ओर प्रगतिवाद के प्रति विद्रोह है जिसमें मानव विशिष्ट की उपेक्षा है। नयी कविता नये भाव-बोध को व्यक्त करने के फलस्वरूप सौन्दर्य-बोध के नये तत्त्वों तथा यथार्थ के नये धरातलों की खोज में संलग्न है। वह कमल के साथ कीचड़ को भी स्वीकार करती है। छायावादी के लिये जीवन का विरूप पक्ष त्याज्य है, नकेनवादी इससे रस लेता है, प्रगतिवादी इसके द्वारा करुण की सृष्टि करता है, परन्तु नयी कविता इसे औचित्य प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य का रूप भी गतिशील है, इसकी गतिशीलता प्रत्येक क्षण में अपनी सापेक्षता ग्रहण करती है। सौन्दर्य को यथार्थ से पृथक् भी नहीं किया जा सकता। असुन्दर भी सुन्दर की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सकता है। इस प्रकार सुन्दर का यथार्थ अथवा

---

१. नयी कविता के प्रतिमान, पृ० ३७।

२. नयी कविता के प्रतिमान, पृ० ३४।

सत्य से गहन सम्बन्ध होता है और सत्य जीवन की विकासशील प्रवृत्ति है। सत्य यह पृथ्वी है, सत्य इस धरती की सीमाएँ है, सत्य मनुष्य का संघर्ष है। यथार्थ को अस्वीकार करना सौन्दर्य को नष्ट करना है। सौन्दर्य को यथार्थ से संघर्ष करना पड़ता है, पुराना रूप खण्डित होता है, नया निर्माण पाता है। इस प्रकार कवि नये स्तरों की अनुभूति पाता है।[1] मानवीय स्तर पर नयी कविता न तो वस्तुस्थिति से पलायन करती है और न ही उससे मुक्ति चाहती है। वह मानव-विशिष्टता और विवेक के आधार पर उसके लिए नये स्तरों और संभावनाओं को विकसित करती है।[2] इनके महत्त्व को नयी कविता स्वीकार करती है। इसमें व्यक्ति की सामाजिक जीवन के साथ स्थापना, कलाकार के अहं के प्रति निष्ठा, मानव-विशिष्टता में विश्वास, जागरूकता तथा बौद्धिक तुष्टि के स्वर ध्वनित होते हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा 'तार सप्तक' के अधिकांश कवियों को नयी कविता में रखते हैं। इनमें व्यक्तिगत अनुभूतियों को कह सकने का साहस एवं क्षमता है। कवि अपने माध्यम से ही समस्त व्यापक जीवन देख सकने में सक्षम होता है। गिरिजाकुमार माथुर तथा नेमिचन्द्र जैन की रचनाओं में व्यक्तिगत स्वर की आत्मीयता है जो दूसरे सप्तक के कवियों में अधिक स्पष्ट होकर आत्मविश्वास के साथ मुखरित हुई है। भवानी-प्रसाद की ये पंक्तियाँ इसका मार्मिक उदाहरण हैं—

वाणी की दीनता
अपनी मैं चीन्हता
कहने में अर्थ नहीं,
मिलती है कहने में
एक तल्लीनता।

---

१. नयी कविता के प्रतिमान, पृ० १०७।
२. नयी कविता के प्रतिमान, पृ० ११६।

इस प्रकार 'तार सप्तक' का शंकाकुल स्वर दूसरे सप्तक में आत्म-विश्वास के साथ व्यक्त हुआ है। व्यक्ति की गरिमा की स्थापना भी, जो 'तार सप्तक' में अस्पष्ट थी, दूसरे सप्तक में स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है। अतः नयी कविता का मूल स्वर जीवन की विभिन्नता, अनेकरूपता को स्वीकार करता है जो व्यक्ति के 'जूझने में, टूटने में, खोजने में और पकने में विकास पाता है।' लक्ष्मीकांत वर्मा नयी कविता की निजता को स्पष्ट एवं स्थापित करने के लिये अन्य काव्य-प्रवृत्तियों की सीमाओं को इन शब्दों में उद्घाटित करते हैं—"मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अन्तिम सत्य मानता है, छायावादी अपनी अनुभूति की अयथार्थ सत्ता को अन्तिम सत्य मानता है, गीतकार हृदयवाद की तरंगों में बहना ही जीवन का सत्य मानता है, कुण्ठावादी (नकेनवादी) अपनी कुण्ठाओं में रस-विनोद लेना कविता का अन्तिम लक्ष्य मानता है, रहस्यवादी रहस्य का यशोगान करके ही तुष्टि पा लेता है। इन विचार-पद्धतियों में मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने की अक्षमता है। परन्तु नयी कविता इस उद्देश्य से अनुप्राणित है। इसमें सामाजिक दायित्व का अभाव भी नहीं है। कवि, अहंवादी है, व्यक्तिवादी नहीं है। समस्या अहं एवं समाज की नहीं है, व्यक्ति और समाज की है। अहंवादी सामाजिक दायित्व को निभाने वाला हो सकता है। इस तरह नयी कविता को व्यापक एवं गहरा अर्थ प्रदान कर इसे प्रयोगवाद से अलगाने का प्रयत्न किया जा रहा है। नयी कविता के पक्ष में लिखने वाले आलोचक अहं को विकार नहीं मानते, उसे स्वभाव मानते हैं। उनकी दृष्टि में अहं के माध्यम से ही जीवन-सौन्दर्य तथा समाज का साक्षात्कार संभव है। सामाजिक तत्त्व जीवन का अंश है और व्यक्ति-सत्य उस अंश का पूरक है। व्यक्ति-सत्य तथा समाज-सत्य में अन्तर को पाटने का यह प्रयास नयी कविता को स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्थापित करता है। इसमें आधुनिकता तथा समसामयिकता के माध्यम से व्यक्ति-सत्य तथा व्यापक

सत्य में समन्वय को स्थापित करने का प्रयत्न है। आधुनकिता से आशय देश-काल के बोध से है और समसामयिकता इस बोध को सक्रिय रूप देती है। 'आधुनिकता युग-विशेष का गुण है और समसामयिकता स्थिति-विशेष का आयाम है।' अन्य काव्य-प्रवृत्तियों में समसामयिकता का अभाव है। इसलिये इनमें मानव-सत्य के गतिशील रूप की अभिव्यक्ति उपलब्ध नहीं होती। नयी कविता ऐतिहासिक सत्य को आत्मसात् कर समसामयिक सत्य की अवहेलना नहीं करती। इसमें समूह-मानव की सापेक्षता में व्यक्ति-मानव और सामाजिक मूल्यों की सापेक्षता में वैयक्तिक मूल्यों को साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति है जो इसे स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करती है और इसके विकास की संभावनाओं को गहराती है। इस प्रकार नयी कविता को एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में प्रतिपादित किया जा रहा है।

अज्ञेय ने तीसरे सप्तक की भूमिका में नयी कविता के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वह भाषा को नयी कविता का पहला आयाम मानते हैं। वह नकेनवादियों की इस धारणा से सहमत नहीं हैं कि प्रत्येक वस्तु का अपना एक नाम होता है। नयी कविता को इतना मान्य है कि प्रत्येक शब्द के अपने वाच्यार्थ के अतिरिक्त लक्षणाएँ और व्यंजनाएँ भी होती हैं, संस्कार और ध्वनियाँ भी होती हैं। शब्द का वैयक्तिक प्रयोग भी होता है और यह प्रेरणा का माध्यम भी बनता है। नयी कविता की दूसरी समस्या सम्प्रेष्य वस्तु की है। वस्तु को विषय से अलग मानना ही उचित है। नये से नये विषय में वस्तु पुरानी हो सकती है और पुराने से पुराने विषय में वस्तु नयी हो सकती है। वस्तु सम्प्रेष्य होती है, विषय सम्प्रेष्य नहीं होता। धर्मवीर भारती के 'अंधा युग' का विषय पुराना है, परन्तु उसमें वस्तु नवीन है। विषय को वस्तु समझने की भूल अनेक कवियों तथा आलोचकों ने की है। आलोचकों पर आक्षेप करते हुए अज्ञेय का कथन है कि धातु उतना खोटा नहीं है जितनी कि

कसौटियाँ झूठी हैं। काव्य में सत्य वस्तु-सत्य का रागाश्रित रूप है। इसलिये उसमें उक्ति-वैचित्र्य की संभावना होती है। व्यक्ति की छाप से युक्त होकर ही वह काव्य का सत्य हो सकता है। लक्ष्मीकांत वर्मा ने भी इस धारणा को अपनी शब्दावली में पुष्ट किया है। एक वैयक्तिक सत्य की अभिव्यक्ति ही नयी कविता में उपलब्ध होती है। नयी कविता में उन समस्त प्रतिमानों के प्रति विद्रोह है जो व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता और उसके व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा डालते हैं। वैयक्तिक विवेक ही विघटन की स्थिति में बल देता है। इस आत्म-सत्य की उपलब्धि तथा अभिव्यक्ति धर्मवीर भारती की इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय
बड़े-बड़े महारथी
अपने अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
निहत्थी अकेली आवाज़ को
अपने ब्रह्मास्त्रों में कुचल देना चाहें
तब मैं रथा का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ।

आत्म-विश्वास के इस स्वर को अज्ञेय ने उदात्त चेतना का रूप इस प्रकार दिया है—

यह दीप अकेला स्नेह भरा।
गर्वभरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

इन पंक्तियों में कुण्ठाग्रस्त अहंवाद की अभिव्यक्ति नहीं है, परन्तु इसमें जीवन के प्रति आस्था, वैयक्तिक आत्मनिष्ठ भावना तथा मानव-क्षमता के प्रति जागरूकता की प्रतिष्ठा भी निहित है। इस प्रकार नयी कविता का केन्द्र-बिन्दु नये मूल्यों की स्थापना में व्यक्ति की सापेक्षता है। अतः नयी कविता प्रयोगवाद का विकसित रूप है। इसमें मानव-व्यक्ति को उभारने तथा उसमें आत्मविश्वास और आस्था के साथ सामाजिक दायित्व की भावना को भरने के भी अंकुर विद्यमान हैं जिससे इसके विकासशील स्वरूप का प्रमाण मिल जाता है। इस उद्देश्य को लक्ष्मीकांत वर्मा ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"आज मनुष्य पथ-प्रदर्शकों की अपेक्षा अपनी दृष्टि से काम ले, भावात्मक प्रोत्साहन की अपेक्षा विवेक से काम ले, पूर्वाग्रहों की अपेक्षा अपने अनुभव पर विश्वास करे, दूसरे की उपलब्धियों की अपेक्षा आत्मोपलब्धियों के सहारे अग्रसर हो।"[1] इस कारण नयी कविता की रचनाओं में मृत रूढ़ि का घोर विरोध है, केवल जीवन्त परम्परा को अपनाने का आग्रह है और प्रगति को आत्मसात् करने के लिये सबल अनुरोध है।

नयी कविता बीज रूप में 'तार सप्तक' के कवियों से आरम्भ होती है। परन्तु स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में इसका स्पष्ट आभास तथा इसकी निश्चित उपलब्धि तीसरे सप्तक की रचनाओं तथा 'नयी कविता' के अंकों में आकर मिलती है। 'तार सप्तक' के प्रायः सभी कवियों ने संशय, दुविधा, अनास्था की स्थिति को व्यक्त किया है। प्रगतिवादी कवियों ने भी अविश्वास, पथ की अस्पष्टता आदि का चित्रण किया है। दूसरे सप्तक के कवियों में संशय तथा अविश्वास का स्वर क्षीण पड़ गया है। कवियों ने अपना पथ प्रशस्त कर लिया है। इनमें अधिक विश्वास तथा आस्था के स्वर ध्वनित होते हैं। इन कवियों में 'तार

---

१. नयी कविता के प्रतिमान, पृ० २८५, २८६

सप्तक' से अज्ञेय, दूसरे सप्तक से धर्मवीर भारती, तीसरे सप्तक से केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, 'नयी कविता' के अंकों से जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा की गणना विशेष रूप से की जाती है। इनके अतिरिक्त अनेक कवियों ने जिनमें अजितकुमार, भारतभूषण अग्रवाल, कीर्ति चौधरी, विजयदेव नारायण साही आदि के नाम लिये जाते हैं नयी कविता का विकास एवं विस्तार किया है। इसमें चिन्ता और क्षोभ के स्वर संकटग्रस्त मध्यवर्गीय जीवन की स्थिति का उद्घाटन करते हैं। इस काव्य-प्रवृत्ति तथा काव्य-विकास में कोरी भावुकता का ह्रास तथा बौद्धिकता का विकास, अलौकिता का ह्रास तथा लौकिकता का विकास, व्यष्टि तथा समष्टि के संश्लेषण का प्रयास, नये सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति, जीवन के प्रति आस्था तथा यथार्थ के प्रति आग्रह, रूप एवं विरूप दोनों की अभिव्यक्ति, व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण आदि विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं जो इसके वस्तु-पक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं। इसके शिल्प-पक्ष में प्रतीकवाद, बिम्बवाद, रूपवाद, मुक्त छन्द की गरिमा, अर्थ की लय आदि विशेषताएँ इसके वस्तु-पक्ष से प्रभावित हैं। नयी कविता में अभिव्यक्ति कहीं दुरूह एव अस्पष्ट है, कहीं बौद्धिक तो कहीं रागात्मक है, कहीं रसात्मक तो कहीं प्रभावात्मक है, कहीं सांकेतिक तो कहीं अभिधात्मक है। इस प्रकार यह काव्य-प्रवृत्ति वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से अनेकरूपात्मक तथा विविधात्मक है जो एक ओर इसकी अव्यवस्था एवं अराजकता की परिचायक है और दूसरी ओर इसके विस्तार एवं विकास की द्योतक है।

१३. गीति-काव्य—

उत्तरछायावादी हिन्दी-काव्य की इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त, जिनमें संक्रांतिकाल की वैयक्तिक कविता और उसके बाद के प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद तथा नयी कविता का विवेचन किया गया है एक अन्य

काव्यधारा का नाम भी लिया जाता है जिसे गीतिकाव्य की संज्ञा दी जाती है। इसके नये गीति-काव्यकारों में विद्यावती कोकिल, सुमित्रा-कुमारी सिन्हा, शांति मेहरोत्रा, हंसकुमार तिवारी, गिरिधर गोपाल, रमानाथ अवस्थी, वीरेन्द्र मिश्र, जयनाथ नलिन आदि के नाम प्रमुख रूप से तथा अन्य कवियों के नाम गौण रूप से लिये जाते हैं। गीति-काव्य छायावाद की विशिष्ट देन है जिसमें भाव की गंभीरता, कल्पना की उत्कृष्टता तथा कला की गरिमा अपनी चरम सीमा को स्पर्श करती है, परन्तु उत्तरछायवादी काल में जिसने नया मोड़ लिया है और संक्रांन्ति-काल में जिसे बच्चन, नरेन्द्र शर्मा तथा अंचल आदि ने छाया-वादी रहस्यात्मक गीतिकाव्य को लौकिक रूप दिया है और उत्तरछाया-वादी काल में प्रयोगवादियों तथा प्रगतिवादियों की भाँति नये गीतकारों ने नयी चेतना को अभिव्यक्ति दी है। इस गीति-काव्य को केवल शैली की दृष्टि से एक स्वतन्त्र काव्य-धारा के रूप में स्वीकार करना अनुचित नहीं जान पड़ता, परन्तु इसके मूल में विचारधारा के आधार पर तथा इसमें व्यक्त वस्तु एवं काव्य-चेतना की दृष्टि से इसे स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना मुझे अनुचित जान पड़ता है। साहित्य की प्रवृत्तियों के वर्गीकरण का मूलाधार उनको प्रभावित करने वाली जीवन-दृष्टि तथा उनमें व्यक्त चेतना आदि ही अधिक उपयुक्त हो सकता है। यह ठीक है कि नये गीतिकाव्य का स्वरूप परम्परागत हिन्दी-गीतिकाव्य से भिन्न है। इसमें प्रेम नित्य जीवन का प्रेम है। वह न तो तलवारों की छाया में पलने वाली वीरता से उद्भूत है, न ही निर्गुण-सगुण के प्रति आत्मनिवेदन है, न ही अभिसारिकाओं की प्रणय-याचना है और न ही रहस्यलोक को आलोकित करने वाला कोमल-भाव है। इसका स्वरूप लौकिक, विश्वस-नीय तथा मानवीय है। इसकी विफल स्थिति में निराशा का गंभीर स्वर है और इसकी सफल अवस्था में उल्लास का सहज स्वर है। इसमें

व्यथा की अनुभूति पर विजय पाने की उत्कट आकांक्षा है और दुःख के उन्नयन की प्रवृत्ति है। अधिकांश गीतकारों में मानवता की भावना उनके उदार दृष्टिकोण का परिणाम है जिसमें चिन्तन की गहन मात्रा है। इन में जीवन की व्यापक उलझनों तथा कठोर संघर्ष के ओज की अभिव्यक्ति की क्षमता इतनी उपलब्ध नहीं होती जितनी कोमल भावनाओं एवं सुकुमार कल्पनाओं के वहन करने की शक्ति दृष्टिगत होती है। गीत प्रायः प्रतीक-प्रधान तथा बिम्ब-प्रधान है जो नयी चेतना को व्यक्त करने के लिये अधिक उपयुक्त है। जीवन के मनोवैज्ञानिक सत्यों को मुखरित करने के लिये मुक्तछन्द का प्रयोग अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। मुक्तछन्द अपनी अराजकता की अवस्था को पार कर चुका है और अब वह स्वयं एक संतुलित लय और संगीत-प्रवाह से युक्त होकर विकास पा रहा है। गीतिकाव्य में मुक्तछन्द-रचना छंदहीन नहीं कही जा सकती। इसे सरल समझ कर कोरी गद्य-रचना को मुक्तछन्द-रचना की संज्ञा देना अनुचित है। गीतिकाव्य में गहरी अनुभूति एवं सजग चेतना जिस भावोद्‌गार के वेग को बौद्धिक संतुलन के साथ जो एक लयमय रूप धारण करती है वह मुक्तछन्द का सहज रूप है। मुक्तछन्द ने इन कवियों का पथ नये छन्दों की रचना के लिये भी प्रशस्त कर दिया है। इस प्रकार गीतिकाव्य की धारा एक नया मोड़ लेकर अधुनातन युग-चेतना को व्यक्त करने में प्रयासशील है और इस युग-चेतना का स्वरूप व्यक्ति-यथार्थ तथा सामाजिक यथार्थ दो मूल प्रवृत्तियों अथवा विचारधाराओं में लक्षित होता है। नये गीतकारों में तारा पांडे की रचनाओं में वेदना की सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति है। नारी की विवशता कहीं त्याग, कहीं उदासी, कहीं अनुताप, कहीं आकुलता, कहीं खीज और कहीं आँसू का रूप धारण करती है। विद्यावती कोकिल ने वासना को भक्ति का अंग मानकर जीवन से भक्ति का सम्बन्ध स्थापित किया है। भक्ति में निराकार-साकार की समस्या का अभाव है। उनके

काव्य में समस्त जीवन की पूजा है और लौकिक प्रेम की अनुभूति है। महादेवी लौकिकता से अपना अंचल बचाकर निकल जाने का प्रयास करती हैं, परन्तु कोकिल लौकिक प्रेम को भक्ति का रूप देती हैं। सुमित्रा-कुमारी सिनहा अभय हो कर लौकिक प्रेम को स्वीकार करती हैं और उसकी विफल अनुभूति में निराशा एवं मरण के स्वर भी झंकृत होते हैं। सिनहा व्यक्तिगत प्रेम से व्यापक प्रेम की ओर उन्मुख होकर उसे शक्ति के रूप में उद्घाटित करती हैं। शांति महरोत्रा के गीतों का मुख्य विषय भी प्रेम है जिसका स्वरूप अन्य नये गीतकारों की भाँति व्यक्तिगत एवं लौकिक है। इन्होंने प्रेमी में सांसारिकता को देखा है और प्रेमिका में साधना की वृत्ति को आँका है। वह नारी में अगाध सहन-शक्ति का आभास पाती हैं। उनकी दृष्टि में एक सफल कवि के लिये असफल प्रेम की अनुभूति पाना आवश्यक है। हंसकुमार तिवारी के 'अनागत' गीत-संग्रह में वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से छायावादी काव्य की विशेषाएँ उपलब्ध होती हैं। बालस्वरूप राही के गीतों में जीवन के सुख-दुःख की सहज एवं सरल अभिव्यक्ति है। राम अवतार त्यागी गीत को संगीत से पृथक् करने के पक्ष में नहीं है। उनकी दृष्टि में सबसे बड़ा गीतकार महानतम भावों को सरलतम शब्दों में व्यक्त करने की क्षमता रखता है। ललित गोस्वामी ने अपने गीतों की रचना गेयता की दृष्टि से की है जिनमें स्वर के आरोह-अवरोह का आधार भारतीय संगीत-शास्त्र है। वीरेन्द्र मिश्र के गीतों में चिन्तन भी उभर कर आया है। शम्भुनाथ सिंह का गीति-काव्य में विशिष्ट स्थान है। उनके गीत-संग्रह 'छाया लोक' में छायावादी काव्य की विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। इस काव्य-संग्रह में उनके व्यक्तिगत जीवन के भाव-अभाव, आशा-निराशा, संयोग-वियोग, आनन्द-वेदना के गीत स्वरित हुए हैं और 'उदयाचल' (१९४६) में सामाजिक जीवन के धरातल पर व्यक्तिगत जीवन के विश्वास तथा समष्टिगत जीवन की प्रेरणा तथा प्रगति की भावनाएँ स्वरों में लहरा

उठी हैं। वह अपनी काव्य-चेतना को किसी वाद-विशेष की सीमा में बाँधने के विरोधी हैं। 'दिवालोक' के गीतों में कवि के वैयक्तिक सुख-दुख, हास-रुदन की अभिव्यक्ति है; परन्तु कवि अपनी वैयक्तिक चेतना की सीमाओं से संघर्ष करता हुआ लोक-चेतना को आत्मसात करने के लिये प्रयत्नशील है। इस प्रकार गीति-काव्य की धारा विविध भाव-भूमियों को पार करती हुई विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित हो रही है। इस नये गीति-काव्य को स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार न कर समस्त उत्तरछायावादी काव्य को मूलतः गीति-काव्य की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। परन्तु यह धारणा गीति-काव्य के स्वरूप तथा उसकी परिभाषा पर ही आश्रित है। यदि गीति-काव्य से आशय उस काव्य से है जो कथात्मक न होकर मुक्तक है तो इस मत को स्वीकार करने में संकोच न होगा। परन्तु गीति-काव्य को एक सीमित परिधि में बाँध कर उसे एक उपकाव्य-धारा के रूप में आँकना उपयुक्त जान पड़ता है। उत्तरछायावादी काल में गीति-काव्य में वस्तु-पक्ष प्रायः अलौकिक से लौकिक की ओर, आदर्श से यथार्थ की ओर उन्मुख रहा है। इसे अधिकाधिक मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया जा रहा है और इसमें बौद्धिकता के अनुपात की भी वृद्धि हो रही है।

१४. उपसंहार—

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता का मूल्यांकन व्यक्ति-चिन्तन तथा समष्टि-चिन्तन की जीवन-दृष्टियों के आधार पर किया गया है जो इसकी रचनाओं के वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष को निरूपित तथा रूपायित करती रही हैं। इन दो परस्पर-विरोधी जीवन-दृष्टियों के धरातल पर ही आधुनिक कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों का निश्चयन तथा इनकी उपलब्धियों तथा सीमाओं का विवेचन यथासंभव तथा यथा-

स्थान किया गया है। छायावाद से पहले किस प्रकार समष्टि-चिन्तन तथा समाज-मंगल की भावना से काव्य का भावपक्ष तथा शैली-पक्ष प्रभावित है इसका विश्लेषण इस कविता के प्रथम तथा द्वितीय उत्थान की रचनाओं द्वारा संभव हो सका है जिन्हें भारतेन्दु-काल तथा द्विवेदी-काल से सम्बद्ध किया जाता है। छायावाद में आकार समष्टि-चिन्तन तथा समाज-मंगल का दृष्टिकोण व्यक्ति-चिन्तन तथा व्यक्ति-हित में परिणत हो जाता है और इस जीवन-दृष्टि से इस काव्य का वस्तुपक्ष तथा शिल्पपक्ष रूपायित है। छायावादी काल के उपरान्त कवियों की चेतना समष्टि एवं व्यष्टि के द्वन्द्व से ग्रस्त हो जाती है। दिनकर, अंचल तथा नरेन्द्र शर्मा की रचनाओं के मूल में द्विधा की स्थिति उपलब्ध होती है और बच्चन तथा भगवतीचरण के गीतों में व्यक्ति-चिन्तन का स्वर दृढ़ है। इस संक्रान्ति काल के उपरान्त दो परस्पर विरोधी जीवन-दृष्टियाँ विभिन्न काव्यधाराओं को अनुप्राणित करती हैं। प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति समष्टि-चिन्तन से प्रेरित है और इसका स्वरूप सामान्य न होकर विशिष्ट है। यह मार्क्सवाद के जीवन-दर्शन का परिणाम है। प्रयोगवाद, नकेनवाद आदि प्रवृत्तियाँ व्यक्ति-चिन्तन की विचारधारा से प्रभावित हैं और इसका स्वरूप भी सामान्य न होकर विशिष्ट है। यह मनोविश्लेषणवाद का परिणाम है। इस प्रकार आधुनिक कविता की रचना चेतना के विभिन्न स्तरों पर सम्पन्न हुई है जिनके मूल में दो जीवन-दृष्टियाँ हैं, समष्टि-चिन्तन अथवा व्यक्ति-चिन्तन, समष्टि-सत्य अथवा व्यष्टि-सत्य, समष्टि-यथार्थ अथवा व्यक्ति-यथार्थ, समाज-मंगल अथवा व्यक्ति-हित। एक का दूसरे में नितान्त अभाव भी नहीं है और दोनों का स्वरूप जड़ न होकर गत्यात्मक है, यान्त्रिक न होकर विकास-शील है। एक व्यक्ति को केन्द्रित कर समष्टि का विवेचन एवं मूल्यांकन करती है और दूसरी समष्टि के आधार पर व्यक्ति का विश्लेषण करना संगत समझती है। प्रश्न अभाव का न होकर प्रमुखता का है। प्रथम

तथा द्वितीय उत्थान की हिन्दी कविता में समष्टि-चिन्तन की प्रमुखता है और इसका स्वरूप सामान्य है। यह विशिष्ट एवं वैज्ञानिक रूप धारण कर प्रगतिवादी काव्य के मूल में है। छायावाद में व्यक्ति-चिन्तन का स्वरूप सामान्य है और प्रयोगवाद में यह विशिष्ट रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार चेतना के इन चार विभिन्न स्तरों को प्रभावित करने वाली दो मूल जीवन-दृष्टियाँ हैं जिन में परस्पर-विरोध आदर्शवाद के धरातल पर कभी-कभी शांत होता रहा है, परन्तु इसके साथ वह विसंगतियों का जनक भी रहा है। यथार्थवादी भूमि पर इन परस्पर-विरोधी जीवन-दृष्टियों में सह-अस्तिव की स्थिति है जिसका भान विश्व के आधुनिक स्थिति-वास्तव से हो जाता है। इन दो जीवन-दृष्टियों में अन्तर को पाटने के लिये विश्व तथा भारत में अनेक प्रयास हो रहे हैं, परन्तु यह समन्वयशील न हो कर सह-अस्तिव की ओर उन्मुख है। एक ओर भारतीय संविधान में व्यक्ति के स्वातन्त्र्य को सुरक्षित रखने की धारा है और दूसरी ओर सामूहिक योजनाओं तथा अन्य नीतियों द्वारा इस स्वतन्त्रता को नियन्त्रित किया जा रहा है। नयी कविता में इन परस्पर-विरोधी जीवन-दृष्टियों को आत्मसात तथा व्यंजित करने का प्रयास लक्षित होता है, परन्तु यह प्रयास वैयक्तिक धरातल पर हो रहा है। इसके भावी विकास पर किसी निश्चित मत को प्रकट करना किसी ज्योतिषी, मनीषी अथवा आचार्य को अधिक शोभा देता है।

●

२

मैथिलीशरण गुप्त

परिवेश
काव्य-कृतियाँ
देश-भक्ति तथा रामभक्ति
भारतीय संस्कृति एवं आख्यान
साकेत
यशोधरा
द्वापर
वस्तुपक्ष एवं शिल्पपक्ष

२

मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का मूल्यांकन करने से पहले उन परिस्थितियों को जान लेना आवश्यक है जिन में कवि ने अपनी आँखें खोलीं। गुप्त का जन्म सन् १८८७ में हुआ। राजनीतिक दृष्टि से यह समय वह है जिससे एक वर्ष पहले कांग्रेस की स्थापना हुई थी और देश में राष्ट्रीय चेतना का क्रियात्मक सूत्रपात हुआ था, सामाजिक दृष्टि से सुधारवादी आन्दोलन की लहर बल पकड़ रही थी, साहित्यिक दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी भावना का विकास होने लगा था, दार्शनिक दृष्टि से रूढ़ियों के प्रति विरोध गहराने लगा था और नैतिकता का साम्राज्य स्थापित होने लगा था। यह मध्यवर्गीय समाज के विकास का काल था। इस वर्ग की बुद्धिवादी जीवन-दृष्टि नवीन मान्यताओं की स्थापना में संलग्न थी और नये पथ को प्रशस्त करने के लिये संघर्षशील थी

खड़ी बोली तथा अन्य भारतीय भाषाओं का परिष्कार एवं विकास इस नवीन चेतना का प्रतीक है और गद्य का विस्तार एवं प्रसार बुद्धिवादी तथा वस्तुपरक जीवन-दृष्टि का परिणाम है। कवियों की दृष्टि भी जीवन के नये मूल्यों तथा आदर्शों के प्रति उत्तरोत्तर उन्मुख होने लगी। इन कवियों को प्रेरणा देने का बीड़ा महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से उठाया जिनके नाम से इस काल को अभिहित किया जाता है। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, सियारामशरण गुप्त आदि ने बुद्धिवादी आदर्शों से प्रभावित होकर पौराणिक, ऐतिहासिक तथा कल्पित आख्यानों के द्वारा नवीन चेतना को अभिव्यक्ति दी जिसके मूल में समाज-सुधार, समाज-मंगल, समष्टि-चिन्तन आदि की भावनाएँ प्रमुख हैं और स्वच्छन्दतावाद, व्यक्ति-हित, व्यक्ति-चिन्तन की मान्यताएँ गौण हैं तथा समष्टि-चिन्तन से नियंत्रित हैं। इनके काव्य में स्वच्छन्दतावाद की भूमिका तैयार हो रही थी जिसका छायावादी काव्य में विकास हुआ, परन्तु द्विवेदी-कालीन काव्य का स्वरूप प्रायः मुक्तक न होकर प्रबन्धात्मक है, प्रगीतात्मक न होकर इतिवृत्तात्मक है, आत्मपरक न होकर वस्तुपरक है, व्यक्ति-चिन्तन से अनुप्राणित न होकर समष्टि-चिन्तन से प्रभावित है। यह भारतीय मध्यवर्गीय समाज के उदय एवं विकास काल की जीवन-दृष्टि है जिसके मूल में सुधारवाद तथा बुद्धिवाद की प्रेरणा है, जो सामन्ती संस्कृति की रूढ़ियों तथा मान्यताओं का खण्डन इस संस्कृति की नवीन व्याख्या से करती है। मैथिलीशरण गुप्त इस नवीन चेतना के प्रतीक हैं। इनके काव्य की उपलब्धियों तथा सीमाओं का मूल्यांकन इस धरा-तल पर अपेक्षित है। इनके काव्य के मूल स्वरूप का उद्घाटन करते हुए इसे अनेक संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। गुप्त का काव्य भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का काव्य है, प्राचीन संस्कृति का नवीन आख्यान है, पारिवारिक जीवन का व्याख्यान है, राष्ट्रीयता का आवाहन

है, करुणभाव की झंकार है तथा नारी के गौरव का गान है। इन संज्ञाओं से काव्य के वस्तु-पक्ष को स्पष्ट किया गया है, परन्तु शिल्प-पक्ष की दृष्टि से इसे प्रबन्धात्मक तथा चरितमूलक कहा गया है। इस विवेचन से गुप्त के काव्य का वस्तु-पक्ष एवं शैली-पक्ष आंशिक रूप में अवश्य स्पष्ट हो जाता है, परन्तु इसके मूल्यांकन के लिये उस समाज-मंगल तथा समष्टि-चिन्तन की जीवन-दृष्टि की प्रायः उपेक्षा की गई है जो इसके वस्तु एवं शिल्प दोनों पक्षों को रूपायित करती है और जो तत्कालीन युग-चेतना का परिणाम है। गुप्त ने अपनी समाज-मंगल, लोक-कल्याण तथा समष्टि-चिन्तन की भावना को अभिव्यक्ति देने के लिये उन प्राचीन आख्यानों का आश्रय लिया जिनमें उन्हें इस भावना की अनुगूँज सुनाई देती थी। इनकी अपनी काव्य-प्रतिभा में इतनी क्षमता नहीं थी कि कल्पना के योग से वह इस नवीन चेतना को सफल अभिव्यक्ति दे सकती। इसलिये भी कवि को पौराणिक एवं ऐतिहासिक आख्यानों का आश्रय लेना पड़ा और उनकी व्याख्या इस चेतना के अनुरूप करनी पड़ी। इस प्रकार गुप्त का काव्य मूलतः समष्टि-चिन्तन की दृष्टि से प्रभावित है और व्यक्ति-चिन्तन का स्वर जो नवीन चेतना का परिणाम है मूल स्वर के अधीन होकर ध्वनित होता है। इस गौण स्वर की झंकृति पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यानों के पात्रों की नवीन मानवीय एवं लौकिक व्याख्या में उपलब्ध होती है। इसलिये यदि गुप्त के काव्य का मूल्यांकन समष्टि-चिन्तन तथा व्यष्टि-चिन्तन के पारस्परिक सम्बन्ध तथा सापेक्षिक महत्त्व के आधार पर किया जाए तो इसका स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है।

गुप्त के काव्य के भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष की उपलब्धियों तथा सीमाओं का विवेचन करने के लिये उनकी रचनाओं से अवगत होना आवश्यक है। कवि ने गत आधी शताब्दी में ४० मौलिक तथा ६ अनूदित ग्रंथों की रचना की है जिनका यहाँ संक्षिप्त परिचय ही दिया जा सकता

है। इन ग्रंथों का वर्गीकरण विषय तथा शैली के आधार पर किया गया है। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने अपनी पुस्तक "गुप्त के काव्य की कारुण्य धारा" में इसका वर्गीकरण काव्य-स्रोत के आधार पर कर इन्हें ६ भागों में विभक्त किया है—१ राष्ट्रीय, जातीय या सामाजिक जिनमें भारत-भारती, स्वदेश-संगीत, वैतालिक तथा किसान आते हैं, २ रामचरित मूलक जिनमें साकेत तथा पंचवटी की गणना हो सकती है, ३ कृष्ण चरित मूलक जिनमें द्वापर है, ४ बौद्ध संस्कृति मूलक यशोधरा तथा अनघ हैं, ५ हिन्दू संस्कृति-मूलक रंग में भंग, हिन्दू, विकट भट, पत्रावली आदि हैं, ६ सिक्ख संस्कृति-मूलक गुरुकुल है, ७ पुराण-मूलक चन्द्रहास, शकुन्तला, तिलोत्तमा, शक्ति आदि हैं, ८ महाभारत-मूलक जयद्रथ वध, सैरंध्री, बक संहार, वन वैभव, नहुष हैं, ९ और विविध संग्रहात्मक मंगल घट तथा झंकार हैं। आलोचक के वर्गीकरण का यह आधार रचनाओं के स्रोत का परिचय तो देता है, परन्तु यह अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक है। इसमें उन रचनाओं को स्थान नहीं मिल सका जो इनके बाद की रचनाएँ हैं। इसलिये यह अपूर्ण है और अवैज्ञानिक इसलिये कि कृष्ण-चरित-मूलक तथा महाभारत-मूलक में विभाजक रेखा निराधार है। इस प्रकार डा० रामरतन भटनागर ने 'विषय के अनुसार' जिसमें 'शैली के अनुसार' भी मिश्रित है गुप्त की रचनाओं का वर्गीकरण एक ओर पौराणिक काव्य के आधार पर किया है और दूसरी ओर महाकाव्य, खण्ड काव्य, चम्पू आदि की श्रेणी में विन्यस्त कर दिया है। यह आधार भी असंगत है। डा० उमाकान्त ने इस दोष से बचने के लिये गुप्त की रचनाओं का परिचय रचना-काल के क्रम के आधार पर देना अधिक उपयुक्त समझा है।

इस दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त की पहली रचना 'रंग में भंग' है जिसका प्रकाशन सन् १९०९ में बताया जाता है। इस रचना में कवि की मूल जीवन-दृष्टि का आभास बीज रूप में मिल जाता है। इसमें गुप्त

ने बूँदी-नरेश वीरसिंह के अनुज लालसिंह की कन्या का चित्तौड़ के राणा से गठबन्धन किया है। विदा के समय मानापमान की अतिरंजित भावना के कारण राजपूतों में परस्पर कलह का चित्रण कर कवि ने इसके दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है। अतिथियों का वीरगति को पाना और नारी का सती होना परस्पर फूट का परिणाम है जो राजपूतों के गौरव के लिये कलंक रही है, परन्तु नारियों के सतीत्व को दिखाने में कवि को आनन्द आता है। इस प्रकार अतीत जीवन के प्रति गुप्त के मोह का परिचय इनकी पहली रचना में ही उपलब्ध हो जाता है। इस खण्ड-काव्य का काव्यात्मक महत्त्व न हो कर ऐतिहासिक महत्त्व ही हो सकता है। इसमें से भारत में सामयिक फूट की ध्वनि भी निकलती है। गुप्त अतीत के माध्यम से सामयिक समस्याओं पर आलोक डालते हुए उनका समाधान प्रस्तुत करने के लिये सदैव तत्पर रहे हैं जो इनकी काव्य-कला की विशेषता है। अपनी दूसरी रचना 'जयद्रथ वध' (१९१०) में गुप्त ने राजपूत इतिहास से निकल कर महाभारत के एक प्रसंग को कथानक का आधार बनाया है। इसका विषय भी आपसी फूट है जो राजपूतों की न होकर कौरव-पाण्डवों की है। इसका लक्ष्य न्याय तथा कर्त्तव्य के आदर्शों की स्थापना है जो युग की नैतिक चेतना का परिणाम है और करुणा की धारा को प्रवाहित करना है जिसे गुप्त-काव्य की मूल-भावना स्वीकार किया गया है तथा जिसका विकास इनकी आगामी रचनाओं में उपलब्ध होता है। सुभद्रा तथा उत्तरा के विलाप में इस भाव-धारा की अभिव्यक्ति उत्तरा के चरित्र में निखार लाती है। उत्तरा के लिये कवि की सहानुभूति नारी के प्रति युग-दृष्टि का परिणाम है। यह एक खण्डकाव्य है जिसमें खड़ी-बोली को काव्योचित बनाने के लिये परिमार्जित किया गया है। इसके उपरान्त 'पद्य-प्रबन्ध' (१९१२) का प्रकाशन हुआ जिसमें फुटकर कविताओं का संकलन है, जिनका उद्देश्य उपदेशात्मक है और जिनकी शैली इतिवृत्तात्मक है। इस

संग्रह को 'भारत-भारती' की कोटि में रखा गया है। भारत-भारती तथा गुप्त का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि दोनों तब तक एक-दूसरे के पर्यायी भी बने रहे हैं जब तक 'साकेत' की रचना नहीं हुई। इसका उद्देश्य अभिधात्मक शैली में भारत की शोचनीय स्थिति का चित्रण कर राष्ट्रीय चेतना को जागृत करना है। इस चेतना की परिधि हिन्दू समाज तथा संस्कृति तक सीमित है और इसकी प्रेरणा शायर हाली तथा कैफी के मुसद्दसों से प्राप्त की गई है। इस पुस्तक की प्रस्तावना में कवि ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है कि उन्होंने 'मुसद्दसे हाली' के ढंग पर हिन्दुओं के लिये इसकी रचना की थी। इस प्रकार कवि का राष्ट्रीयता-सम्बन्धी दृष्टिकोण संकुचित है और वह अभी अपने पथ की खोज में है। हाली की काव्य-पुस्तक मुसलमानों को जागृत करने के उद्देश्य से लिखी गई थी और भारत-भारती (१९१२) का लक्ष्य हिन्दुओं को उद्बुद्ध करना है—

हा लेखनी हृत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा,
दृक्कालिमा में डूब कर तैयार हो कर सर्वथा,
स्वच्छन्दता से कर तुझे करने पड़ें प्रस्ताव जो,
जग जायें तेरी नोक से सोये हुए हों भाव जो।

इस प्रकार कवि अभिधात्मक तथा उपदेशात्मक शैली में जन-साधारण में नवीन स्फूर्ति का संचार करने के लिए आकुल है, उसका हृदय आधुनिक पतन से द्रवित है, अतीत के गौरव से सिक्त है और उज्ज्वल भविष्य से अनुप्राणित है। इसके महत्त्व को राजनीतिक नेता ने जिस मुक्तकंठ से स्वीकार किया है उसी मुक्तकण्ठ से आलोचक ने इसमें काव्य के अभाव को व्यक्त किया है। गुप्त के अन्य काव्य-ग्रंथों की भाँति इसका भी ऐतिहासिक महत्त्व है। इसके अनन्तर 'शकुन्तला' का प्रकाशन सन् १९१४ में हुआ जो एक पद्य-बद्ध आख्यान है और जिस पर कालिदास का स्पष्ट प्रभाव है। इसका उद्देश्य रस की निष्पत्ति है,

परन्तु इसमें रस का परिपाक संदिग्ध है। इसे यदि कालिदास की अमर कृति का विकृत रूपान्तर कहा जाए तो अधिक उपयुक्त होगा। इसकी रचना से इतना ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि का अतीत गौरव तथा आख्यान के प्रति मोह गहरा होता जा रहा है और वह अपनी आत्मा की खोज में है। इन कृतियों का महत्त्व प्रयोगात्मक ही हो सकता है। इसी कोटि की कृति तिलोत्तमा (१९१५) है जो एक पौराणिक नाटक है, जिसके कथानक का आधार महाभारत है परन्तु जिसे विश्वसनीय बनाने के लिये गुप्त ने उस प्रसंग को अपनी रचना में समाविष्ट नहीं किया जिसके अनुसार तिलोत्तमा के रूप-दर्शन के लिये शिव के चार मुखों तथा इन्द्र के सहस्र नेत्रों की कल्पना महाभारत में की गई है। इस प्रकार के मूल आख्यान में परिवर्तन गुप्त-काव्य में किये गए हैं जो बुद्धिवादी युग-चेतना का प्रतिफल है। अगली रचना "चन्द्रहास' (१९१६) भी रूपक है जिसका आधार पौराणिक है और जिसमें नियति अथवा भाग्य की शक्ति का परिचय दिया गया है। पत्रावली (१९१६) में सात ऐतिहासिक पत्रों का संकलन है जिनका उद्देश्य राष्ट्रीय चेतना को जागृत करना है। इसके अन्तिम पत्र में अबला नारी की मुक्ति के लिये करुण पुकार है। इस दृष्टि से ये पद्यात्मक पत्र निजी महत्त्व रखते हैं। इस रचना पर माइकेल मधुसूदन की 'वीरांगना' का प्रभाव सूचित किया जाता है। इसी परम्परा में 'वैतालिक (१९१६) भारतीयों को जगाने के उद्देश्य से रचा गया है और 'किसान' (१९१६) में भी इसी लक्ष्य की पूर्ति है। 'अनघ' (१९२५) एक गीति-नाट्य है जिसका आधार बौद्ध कथानक है। इसमें गान्धीवाद की ध्वनि है। बौद्ध-मत तथा गांधी-मत में समानता का आधार मानवता है। इसलिये कवि ने इस कथानक के द्वारा सामयिक युग-चेतना को अभिव्यक्ति दी है। इसका महत्त्व काव्यात्मक न होकर ऐतिहासिक ही रह जाता है।

इन रचनाओं के सिंहावलोकन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि मैथिलीशरण गुप्त अभी अपने काव्य-पथ को प्रशस्त कर रहे हैं। इस प्रयास में उन्हें विशेष सफलता अथवा सिद्धि नहीं मिली है। इन रचनाओं में कवि की आत्मा अभी मुखरित नहीं हुई है; उसकी खोज जारी है। वह इस परिणाम पर पहुँच चुका है कि उसके काव्य का माध्यम आख्यान है, उसका विषय अतीत का गौरव है, उसका उद्देश्य राष्ट्रीयता तथा हिन्दू संस्कृति है। कवि राष्ट्रीयता का शंखनाद करने जा रहा है। इसके लिये उसने अधिकांश आख्यान पुराण तथा इतिहास से लिये हैं। युग के साथ चलने वाले कवि ने ऐसा क्यों किया है? अतीत की ओर उनकी दृष्टि इसलिये भी रही है कि सामयिक संघर्ष में उन्हें उद्‌बोधन के लिये सामग्री नहीं मिली। जयशंकर प्रसाद ने भी अतीत को अपनी कृतियों का प्रेरणास्रोत स्वीकार किया है। अतीत की कथाएँ वीरता का भाव जगाती हैं, गौरव की ललक उत्पन्न करती हैं, मृत शिराओं में स्पन्दन भरती हैं, उठने की प्रेरणा देती हैं, वर्तमान से जूझने की शक्ति देती हैं और भविष्य के लिये ठोस आधार प्रस्तुत करती हैं।[1] इसलिये कवि ने 'जयद्रथवध' की भूमिका में लिखा था—'हिन्दी में आजकल ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है जिसके द्वारा हमें अपनी पूर्व परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान होकर सब प्रकार की उन्नति करने में प्रोत्साहन मिले।' यही उपदेश 'भारत-भारती' की पंक्तियों में भी उपलब्ध होता है—

हम कौन थे क्या हो गए और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिल कर ये समस्याएँ सभी॥

इस प्रकार गुप्त के मतानुसार अतीत के प्रति उनकी विशेष ममता का

---

१ वर्तमान यह आयोजन है, जिस भावी जीवन का।
कुछ अतीत संकेत मिले तो अधिक काम इस जन का॥

कारण यह है कि उसके बिना वर्तमान में स्फूर्ति और भविष्य की दिशा का निर्देश नहीं मिल सकते। इसके अतिरिक्त इसका कारण यह भी हो सकता है कि उस समय राष्ट्रीय चेतना का संचार और राजनीतिक जागरण का प्रसार प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष के माध्यम से अधिक सम्भव था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी कठोर आगत का सामना करने की अपेक्षा स्वप्निल विगत या अनागत में रमण करना अधिक सुखद होता है। मैथिलीशरण गुप्त का काव्य उस परम्परा की कड़ी है जिसके द्वारा पुनरुत्थान को प्रश्रय मिला। हिन्दी साहित्य में इसके प्रतिनिधि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे, बँगला साहित्य में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द इसके प्रतीक थे। पुनरुत्थान का आन्दोलन बहुमुखी था और इसका स्वरूप अनेकमुखी था। इसके परिणामस्वरूप निवृत्ति का स्थान प्रवृत्ति ने लिया, नारी को गौरव-स्थान मिला, अलौकिकता के स्थान पर लौकिकता को प्रतिष्ठा मिली, मध्यकालीन अंधविश्वासों का बुद्धि द्वारा खण्डन हुआ, मानवीयता का मण्डन हुआ और नैतिकता के नये मानों की स्थापना हुई। इस पुनरुत्थान के कवि गुप्त ने भी पौराणिक कथाओं तथा देवताओं को बुद्धिवाद के नये साँचे में ढाल कर उन्हें विश्वसनीय रूप दिया।

मैथिलीशरण गुप्त ने जो देशभक्त होने के साथ-साथ रामभक्त भी हैं रामकथा में अपने काव्य के उपजीव्य को पा लिया। इनके पिता श्री रामचरण वैष्णव मतावलम्बी तथा कवि थे। रामोपासना उनकी अपनी वस्तु थी। गुप्त ने अपने पिता से रामभक्ति तथा कवित्व को विरासत में प्राप्त किया। इनकी जन्मभूमि में बुन्देला छत्रसाल और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के रक्तकणों का संचार होने से देश-भक्ति तथा वीर-पूजा के भाव व्याप्त हैं। ग्रामीण वातावरण से रुचि और नागरिक जीवन से वितृष्णा होने के कारण उनका प्रेम भारतीय संस्कृति से स्वाभाविक है। इस प्रकार उनके संस्कार रामकाव्य के प्रति उनकी सहज रुचि को पुष्ट

करने में सहायक हुए हैं। रामायण और महाभारत प्राचीन काल से भारतीय साहित्य के प्रेरणा-स्रोत भी रहे हैं। रामकथा की अनुभूति युग-चेतना के अनुरूप बदलती रही है। इसके उदाहरण प्राचीन तथा आधुनिक काल में उपलब्ध होते हैं। भवभूति के राम वाल्मीकि के राम से भिन्न हैं; तुलसी के राम इन दोनों के रामों से भिन्न हैं। वाल्मीकि के राम शंबूक का वध करते समय दुखी नहीं होते, परन्तु भवभूति के राम का शंबूक पर हाथ नहीं उठता और वह द्वन्द्व की स्थिति का अनुभव करते हैं। भवभूति से पहले महात्मा बुद्ध ने ब्राह्मणसत्ता को चुनौती दी थी और मानव की समानता का संदेश दिया था जिसका प्रभाव भवभूति की करुणा की अभिव्यक्ति में लक्षित होता है। तुलसीदास ने जिनका उद्देश्य राम को देवता के रूप में अंकित करना है शंबूक-वध और सीता-परित्याग के प्रसंगों को छोड़ ही दिया है। मैथिलीशरण गुप्त की रामकथा-सम्बन्धी पहली रचना 'पंचवटी' (१९२५) है जिसमें कवि परम्परा का पालन करते हुए चरित्र-चित्रण में आधुनिक दृष्टिकोण का परिचय देता है। इसका उद्देश्य लक्ष्मण का चरित्र-चित्रण है जिसके आधार पर इसे 'साकेत' की भूमिका कहा गया है। इसमें राम, लक्ष्मण, सीता तथा शूर्पणखा के चरित्रों को मानवीय रूप देने का प्रयास किया गया है। राम की गम्भीरता को स्निग्धता में, लक्ष्मण की उग्रता को कोमलता में, सीता की गम्भीरता को हासप्रियता में और शूर्पणखा की राक्षसता को मानवीयता तथा वाचालता में परिणत कर कवि ने एक सुखी पारिवारिक जीवन का चित्र वन में अंकित किया है जो कठोर जीवन की वास्तविकता को आँखों से ओझल कर देता है। राम, लक्ष्मण तथा सीता की रहन-सहन में पशु-पक्षी मिल कर तपोवन की छटा छहरा देते हैं। इस कृति में गुप्त का कलात्मक दृष्टिकोण उभर कर आता है। इसमें न तो उपदेश का पुट है और न ही जानकी-जीवन का जयजयकार है। यह उस समय की रचना है जब छायावादी

काव्य का उत्थान हो चुका था, काव्य में सौन्दर्यवादी चेतना की अभिव्यक्ति की स्थापना हो चुकी थी। गुप्त ने इस रचना से यह सिद्ध करना चाहा होगा कि मैं भी छायावादी सुषमा तथा सूक्ष्मता को ग्रहण कर सकता हूँ। इसके परिणामस्वरूप 'पंचवटी' में प्रकृति-चित्रण को भी स्वतंत्र अस्तित्व मिला है—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी छिटक रही है अवनी और अम्बर तल में॥
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से।
मानो झूम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से॥

इस प्रकृति-चित्रण में छायावादी शैली लक्षित होती है और इसकी भाषा में भी निखार आ गया है। इस रचना के संवादों में चंचलता है और चरित्र-चित्रण में विश्वसनीयता। मानवता की सामान्य भूमि पर इसके पात्रों की अवतारणा की गई है, परन्तु इस प्रयास से उनकी ऐतिहासिकता को भी सुरक्षित रखा गया है। गुप्त पारिवारिक जीवन तथा उसमें पारस्परिक सम्बन्धों की उज्ज्वल झलक देने में कुशलता का परिचय देते हैं। इससे संयुक्त परिवार के प्रति उनका अगाध विश्वास प्रकट होता है। इस दृष्टि से गुप्त के काव्य को पारिवारिक जीवन की गाथा के रूप में विवेचित किया गया है। इस प्रकार कवि ने अपने काव्य में देशभक्ति तथा रामभक्ति के स्वरों को प्रमुख रूप में ध्वनित किया है। इनकी आगामी दो रचनाएँ 'स्वदेश-संगीत' (१९२५) तथा 'हिन्दू' (१९२७) भारत-भारती की परम्परा में रखी जा सकती हैं। 'स्वदेश-संगीत' में, जिसका लक्ष्य उसके नाम से स्पष्ट है, ६५ कविताओं का संकलन है। इसकी मूल चेतना में जागरण का एक संदेश होते हुए भी इसकी कला में विषमता है। इन कविताओं में कवि की समन्वय-भावना, आदर्श-प्रियता तथा उपदेशवादिता के स्वर ध्वनित होते हैं। जिस कलात्मकता का परिचय कवि ने पंचवटी में दिया है, उसे 'हिन्दू'

में आकर भुला दिया है। इसका मूल स्वर 'जय हिन्दू, जय हिन्दुस्तान' के जातीय जयकार में गुंजित एवं घोषित हुआ है। इसकी वाणी में उग्रता है जो वैष्णव दृष्टिकोण की अपेक्षा शैव दृष्टिकोण की परिचायिका है। अपने मत का स्पष्टीकरण करते हुए कवि इसकी भूमिका में लिखते हैं—'सुनते हैं, वह (काव्य का) लक्ष्य है—सुन्दरम् और केवल सुन्दरम् सत्यम् और शिवम् उसके पहले की बातें हैं।'''कला में उपयोगिता के पक्षपातियों से कहा जाता है कि सच्चे सौन्दर्य का विकास होने पर अशोभन के लिए अवकाश ही नहीं रहता। फूलों में स्वभावतः सुगन्धि होती है, दुर्गन्धि नहीं। ठीक है। परन्तु सब 'फूल सूँघकर रह जाते और यह भी तो परीक्षित हो जाना चाहिए कि कहीं फूलों में तक्षक नाग तो नहीं छिपा बैठा है'। इस कथन से काव्य तथा जीवन के प्रति गुप्त का उपयोगितावादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। इनके काव्य का मूल उद्देश्य सामाजिक सुधार तथा मानव का परिष्कार है और इनके काव्य की मूल भावना समाज-मंगल तथा लोक-कल्याण से प्रभावित है। इस उद्देश्य तथा भावना में तत्कालीन मध्यवर्गीय समाज की जीवन-दृष्टि है जिसके हिन्दी-क्षेत्र में प्रतिनिधि महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनकी मण्डली है और इसका सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनकी मंडली ने किया था। इस दृष्टिकोण के आधार पर गुप्त को हिन्दू-संस्कृति का पद्यकार भी स्वीकार किया गया है।

मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रीयता तथा संस्कृति के व्यापक स्वरूप को पाने के लिये अभी प्रयासशील हैं। इनकी राष्ट्रीयता जातीयता तक सीमित रही है और संस्कृति हिन्दू-संस्कृति तक परिमित रही है। इसका अपवाद विरल है। अपनी आगामी काव्य-रचनाओं में कवि पुनः अतीत की ओर उन्मुख होता है। 'शक्ति' (१९२७) की वस्तु पौराणिक है और देव-दानव के संग्राम से सम्बद्ध है। इस आख्यान को पद्यात्मक अभिव्यक्ति देते हुए गुप्त व्यक्ति-व्यक्ति की शक्ति को संघटित कर

दानव पर विजय पाने का उपदेश देते हैं। इसमें तत्कालीन परिस्थिति की ध्वनि है। अगली तीन रचनाओं का आधार महाभारतीय आख्यान है। इस त्रिपथगा में तीन खण्ड-काव्य हैं—सैरन्ध्री (१९२७), वन-वैभव (१९२७), और बक-संहार (१९२७)। सैरन्ध्री में कीचक और द्रौपदी की कथा है जिसमें करुण भाव की अभिव्यक्ति का स्वर प्रधान है। वन-वैभव के कथानक का आधार भी महाभारतीय आख्यान है। इसमें युधिष्ठिर के चरित्र का भव्य रूप में अंकन हुआ है। वह एक धीर प्रशान्त नायक के रूप में अवतरित रहे हैं और इस रचना में उन्हें अधिक भव्य तथा उदात्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। युधिष्ठिर की वाणी गाँधी की वाणी है और वह तत्कालीन राष्ट्र की विभिन्न जातियों के लिये अनुकरणीय है। आपस की जाँच का जहाँ तक सम्बन्ध है कौरव सौ हैं और पाण्डव पाँच हैं; परन्तु यदि दूसरा जाँच करना चाहता है तो वे एक सौ पाँच हैं। इन शब्दों में हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्थापित करने के लिए उपदेश दिया गया है। इससे इतना संकेत मिल जाता है कि कवि राष्ट्रीयता के संकुचित परिवेश से निकलने के लिये प्रयत्नशील हैं। 'बक-संहार' में कुन्ती के कर्त्तव्य-पालन और वात्सल्य-भाव के द्वन्द्व का चित्रण है। ब्राह्मण परिवार की करुण दशा से द्रवित होकर अपने पुत्र को राक्षस के वध के लिये स्वीकृति अवश्य देती है, परन्तु उसके हृदय में वात्सल्य-भाव भी उमड़ने लगता है। इस द्वन्द्व में कुन्ती का मानवीय रूप निखरता है जो महाभारतीय आख्यान के विपरीत है।

जो थी शिला-सी निश्चला,
अब रुँध गया उसका गला,
वह देर तक जल-मग्न सी लेटी रही।

इस रचना में करुण, वीर, तथा वात्सल्य भावों का संमिश्रण इसके कला-पक्ष को संपन्न बनाता है। इस खंड-काव्य में आधुनिकता का स्वर कुन्ती के

द्वन्द्व में ध्वनित हुआ है जिसका महाभारत की कुन्ती में अभाव है। अगली दो रचनाओं में कवि महाभारत से इतिहास की ओर लौटे हैं। इस प्रकार महाकाव्य, पुराण तथा इतिहास में अपनी रचनाओं के लिये आख्यानों की खोज योजना-बद्ध न होकर विशृंखल है। कवि के हाथ जो आख्यान उनकी जीवन-दृष्टि तथा उद्देश्य के अनुरूप लगता है उसके आधार पर वह पद्य-रचना आरम्भ कर देते हैं। 'विकट भट' (१९२८) का प्रतिपाद्य राजपूत इतिहास की कथा है जिसमें उपदेश देने की क्षमता है। इसमें वीरता तथा करुणा का बखान है—वीरता राष्ट्र को जगाने के लिये और करुणा समाज-मंगल की अभिव्यक्ति के लिये अपेक्षित है। दूसरी रचना 'गुरुकुल' (१९२८) सिक्ख गुरुओं के जीवन-वृत्तों तथा वीर-कृत्यों का विवरण मात्र है। वीर बन्दा बहादुर का चरित्र उज्ज्वल है। गुरु गोविन्दसिंह के व्यक्तित्व ने कवि को अधिक आकृष्ट किया है। डा० उमाकान्त का मत है कि 'गुरुकुल' के प्रणयन में हृदय की सहज प्रेरणा न होकर बाह्य आग्रह है। इसलिये इसमें रस की क्षीणता तथा सूक्तियों की बहुलता है।

मैथिलीशरण गुप्त आख्यानों को अपने काव्य का आधार बना कर 'झंकार' (१९२९) में इस रीति से क्षणिक विदा लेते हैं। इसमें इनके काव्य का माध्यम आख्यान न होकर गीत है जो छायावादी शैली का परिणाम हो सकता है। इनका काव्य चरित-मूलक रहा है। इसके लिये वस्तुपरक दृष्टि अपेक्षित होती है। गीतिकाव्य में आत्मपरक दृष्टि की अपेक्षा होती है। इसलिये 'झंकार' में गीति-काव्य का स्वरूप स्वाभाविक न होकर कृत्रिम है, हृदयगत न होकर बुद्धिगत है। इस संग्रह के गीतों में तन्मयता का अभाव खटकता है। इनकी रचना से कवि ने अपनी तत्सम्बन्धी सीमा को पहचान लिया है और वह अपनी राजरचना 'साकेत' (१९३१) की ओर उन्मुख होता है जिसके चार सर्गों का प्रणयन वह सन १९१६-१७ में कर चुका था। इस महाकाव्य को अमर

कृति की संज्ञा देना तो साहस का काम है, परन्तु इसे गुप्त की श्रेष्ठ रचना बिना किसी संकोच से स्वीकार किया जा सकता है। यदि इसे ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से अमर कहा जाए तो भी यह मूल्यांकन अनुचित न होगा, परन्तु काव्यात्मक दृष्टि से इसे अमर कृति घोषित करना और असाधारण गुणों से समन्वित करना अपनी असंतुलित दृष्टि का परिचय देना और पक्षपात से काम लेना है। यह गुप्त के प्रति भी अन्याय है। इस महाकाव्य के सम्बन्ध में आलोचकों ने विभिन्न मत व्यक्त किए हैं। इसके मूल उद्देश्य, चरित्र-चित्रण, कथा-संगठन, प्रकृति-चित्रण, रस-योजना, नारी-भावना, करुण-भावना, अलंकार-विधान, छन्द-विधान आदि विभिन्न पक्षों का विवेचन हो चुका है। यह महाकाव्य है या मात्र आख्यान-काव्य, इसका नायक राम है या लक्ष्मण, इसकी नायिका सीता है या उर्मिला, इसका वस्तु-संगठन सफल है या असफल, इसमें प्रकृति-चित्रण स्वाभाविक है या रूढ़िगत, इसमें करुण-भाव की अभिव्यक्ति कलात्मक है या कृत्रिम आदि प्रश्नों पर विचार हो चुका है। इसके प्रणयन की प्रेरणा के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा महावीर-प्रसाद द्विवेदी के लेखों का उल्लेख किया गया है। एक बार रवीन्द्र ने कवियों द्वारा उपेक्षिता उर्मिला के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए एक लेख लिखा था जिसका समर्थन आचार्य द्विवेदी ने किया था। उन्होंने हिन्दी कवियों को उर्मिला विषयक काव्य लिखने के लिये प्रेरित किया था। इसके परिणामस्वरूप उनके प्रिय शिष्य मैथिलीशरण गुप्त ने उर्मिला पर चार सर्गों की रचना की थी जिन्हें विस्तृत रूप देकर 'साकेत' में उर्मिला के आँसू पोंछने का प्रयत्न किया। इस प्रकार 'साकेत' का उद्देश्य उपेक्षिता उर्मिला के विरह के चित्रण द्वारा उसके चरित्र को महत्त्व देना है। उर्मिला का चरित्र वाल्मीकि रामायण तथा तुलसी के 'मानस' में प्रायः नगण्य है और उसकी वेदना लगभग मूक है। इस कृति की पूर्ति के लिये, प्रजातंत्रात्मक युग में उपेक्षित पात्रों को उठाने

के लिये तथा नारी को गौरवान्वित करने के लिये गुप्त ने 'साकेत' की रचना द्वारा उर्मिला के चरित्र की नवीन उद्भावना की है और इसके फलस्वरूप राम-कथा को नये साँचे में ढालना पड़ा है। इस दृष्टि से यह रचना आधुनिक काव्य है जिसमें राम और लक्ष्मण त्रेताकालीन होते हुए भी आधुनिक युग के निकट हैं। कवि ने आधुनिक युग की चेतना को मुखरित करने के लिये घटनाओं के मोड़ने के स्थान पर उनकी नवीन व्याख्या की है। इस प्रयास से ऐतिहासिकता को सुरक्षित रखा गया है।

मैथिलीशरण गुप्त ने उपेक्षित उर्मिला के चरित्र को महत्त्व देने के लिये 'साकेत' की रचना की है परन्तु इस में उन्होंने राम के चरित्र की भी नवीन व्याख्या की है जो युग-चेतना के अनुरूप है। राम तो वही हैं जो वाल्मीकि-रामायण और तुलसी-मानस में मिलते हैं, परन्तु कवि उन्हें नवीन दृष्टि से देखता है। यह नवीन दृष्टि पुनरुत्थान के कवि की दृष्टि है जो अलौकिक को लौकिक रूप देती है, अवतार को मानवीय परिधान में वेष्टित करती है। इसके परिणामस्वरूप तुलसी के राम में भगवान की मानवता का चित्रण हुआ है और गुप्त के राम में मानव को भगवान के पद पर आसीन किया गया है। अवतार और युग-पुरुष में समता का भाव राम के व्यक्तित्व को नये साँचे में ढालता है। तुलसी का राम भगवान है जो भक्ति का विषय है, गुप्त का राम युग-पुरुष है जो भक्ति तथा अनुकरण का विषय है। तुलसी की राम-कथा जो भक्ति का विषय थी गुप्त में आकर एक गृहस्थ वैष्णव के काव्य की वस्तु बन गई है इसलिये गुप्त के राम स्वयं कहते हैं कि मैं विश्व को वैभव से सम्पन्न बनाने और मानव का चरम विकास करने आया हूँ। मैं मुक्ति का संदेश लेकर नहीं आया हूँ (तुलसी के राम की भाँति), मैं इस धरती को मुक्त करने आया हूँ।

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

गुप्त को अपने राम के मानव और ईश्वर होने के सम्बन्ध में दुविधा भी होती है। वह राम भक्त हैं और साथ ही नव-युग की विचारधारा से प्रभावित हैं—

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या,
विश्व में रमे हुए नहीं, सभी कहीं हो क्या?

यह दुविधा मानव को उसके चरम विकास की ओर ले जाने में बाधा नहीं डालती; परन्तु राम के चरित्र-चित्रण में अवतार तथा युग-पुरुष का सम्मिश्रण करते हुए गुप्त लिखते हैं—

जो नाम मात्र ही स्मरण महीप करेंगे,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।
पर, जो मेरा गुण, कर्म, स्वभाव धरेंगे,
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे।

इस प्रकार 'नाम मात्र' में तुलसी के युग का और 'गुण, कर्म, स्वभाव' में आधुनिक पुनरुत्थान के युग का स्वर ध्वनित होता है। गुप्त राम की उपयोगिता लोक तथा परलोक दोनों के लिये स्वीकार करते हैं, जब कि मध्यकालीन युगों में परलोक श्रेष्ठ माना जाता था। इनकी मान्यता है कि परलोक-सुधार के लिये लोक-सुधार अपेक्षित है। इनके राम देश-भक्ति से भी प्रभावित हैं—

अथवा आकर्षण पुण्य भूमि का ऐसा।
अवतरित हुआ मैं आप उच्च फल-जैसा।

भारत की पवित्रता देवताओं को भी यहाँ जन्म लेने के लिये बाधित करती रही है। वह महात्मा गाँधी के रूप में यहाँ 'सुख-शान्ति हेतु में क्रान्ति मचाने' आए हैं। इस प्रकार 'साकेत' के राम दयानन्दीय तथा गांधीय साँचों में ढले हुए हैं। वे आर्य-संस्कृति का प्रचार करने तथा

अहिंसा का संदेश देने आए हैं। गुप्त ने राम के चरित्र को तुलसी की भाँति अलौकिक गुणों से सम्पन्न नहीं किया है। उनकी शक्ति से सागर में पाषाण नहीं तैरते हैं या उनकी चरण-धूलि से अहल्या का उद्धार नहीं होता है। वे शंबूक का वध भी नहीं करते हैं और सीता का परित्याग भी। गुप्त के राम आदर्श गृहस्थ हैं। गार्हस्थ के टूटने के स्वर कवि ने सुने हैं और उसे सुरक्षित रखने की आवश्यकता उन्होंने अनुभव की है।

मैथिलीशरण गुप्त ने न केवल राम के चरित्र की नवीन व्याख्या की है, उपेक्षिता उर्मिला को भी वाणी देकर भारतीय नारी को गौरवान्वित किया है। उसके व्यक्तित्व को उभारने के लिये कवि ने विरहिणी उर्मिला के आँसुओं को सहानुभूति की आँखों से देखा है। उर्मिला के सम्बन्ध में रामकथा के कवियों की शब्द-कृपणता को अनुभव कर और उसकी मूक-वेदना से द्रवित होकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर पुकार उठे थे—'हाय, चुपचाप वेदना सहने वाली देवी उर्मिला! तुम प्रभात-काल के शुक्रतारा के समान महाकाव्य सुमेरु के शिखर पर एक ही बार दिखलाई पड़ीं, उसके अरुण के प्रकाश में तुम्हारा दर्शन फिर न हुआ। लोग यह पूछना भी भूल गए कि तुम्हारे उदय और अस्त का स्थान कहाँ है।' गुप्त ने 'साकेत' के शिखर पर इस शुक्रतारा को राम तथा सीता के आलोक में अस्त होने से बचाया है और उसकी ज्योति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। इस प्रयास में कवि कहाँ तक सफल हुआ है यह दूसरा प्रश्न है। कवि का साहस इसमें लक्षित होता है कि उसने एक नगण्य पात्र को जिसका अस्तित्व नाममात्र ही रहा हो अपने काव्य की मुख्य भूमिका में लाकर प्रतिष्ठित किया है। इसकी समस्त घटनाएँ, पात्र तथा कार्य उर्मिला के चरित्र के विकास के लिये हैं। इसी-लिये साकेत का प्रत्येक सर्ग उर्मिला की ओर उन्मुख है, किन्तु नवम सर्ग में कवि ने उर्मिला के अन्तर को खोलने में अपनी 'कला' को उँडेल दिया

है। विरहिणी नारी के हृदय को अभिव्यक्ति देने का प्रयास अनेक कवियों ने किया है। इसका कारण यह हो सकता है कि वियोग में संयोग से अधिक पवित्रता, स्थिरता और गम्भीरता होती है; वेदना की अग्नि में तप कर प्रेम की मलिनता एवं वासना बह जाती है और शुद्ध प्रेम शेष रह जाता है। कवियों ने वियोग-शृंगार का मान इसलिये भी अधिक किया है कि इसमें रसानुभूति की मात्रा अधिक रहती है। इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन है कि 'मेरे हृदय में एक विरहिणी नारी है जो अपने दुख का गीत सुनाया करती है।' यह विरहिणी अजर-अमर है, और उनके ही हृदय में नहीं सभी कवियों की आत्मा में उसका निवास है। यही विरहिणी कालिदास के हृदय में शकुन्तला, भवभूति के हृदय में सीता, जायसी के हृदय में नागमती, सूर के हृदय में राधा, इटली के कवि दान्ते के हृदय में बियट्रेस का रूप धारण करती है। गुप्त के हृदय में वह उर्मिला, यशोधरा, विष्णुप्रिया आदि बन कर आई है।

उर्मिला के विरह का चित्रण साकेत के नवम और दशम सर्ग में निरन्तर चलता है। इस महाकाव्य के निवेदन में कवि ने नवम सर्ग की रचना के विषय में लिखा है—'नवम सर्ग में तब भी कुछ शेष रह गया था और मेरी भावना के अनुसार वह आज भी अधूरा है।' इस सर्ग में केवल उर्मिला का रुदन चित्रित कर कवि के हृदय की वेदना शांत नहीं हो सकी है। इस विस्तृत विरह-वर्णन के मूल्यांकन के सम्बन्ध में आलोचकों के विभिन्न मत हैं। परम्परा की दृष्टि से इस विरह-वर्णन को उच्च कोटि का घोषित किया गया है और मनोविज्ञान की दृष्टि से इसे अस्वाभाविक बताया गया है। इस विवाद में पड़ने से पहले उर्मिला की परिस्थिति से अवगत होना आवश्यक है। प्रणय का पावन प्रसाद पाकर लक्ष्मण और उर्मिला प्रसन्न हैं। दम्पति की जीवन-धारा स्नेह की स्निग्ध एवं शीतल छाया में अबाध गति से बह रही है। यह धारा अधिक बहने से पहले सहसा अवरुद्ध हो गई—'दिन देख नहीं सकते सविशेष,

किसी जन का सुख भोग कभी।' उर्मिला नववधू है, उसकी लाज के बोल भी नहीं खुले हैं, उसकी मेंहदी का रंग भी अभी फीका नहीं पड़ा है और उसके प्रियतम उससे अलग हो जाते हैं। उसका सन्ताप साधारण नहीं है, उसका विलाप स्वाभाविक है। यदि उसके आँसू रुक जाते हैं तो वह जीवन से भी वंचित हो सकती है। इसलिये उर्मिला रोती है और रोती ही चली जाती है। नारी मनोविज्ञान भी इसका साक्षी है। गुप्त ने उसके विरह-चित्रण में परम्परा का पालन किया है। यह चित्रण लगभग सवा सौ पृष्ठों में चलता है। सभी गीत प्रायः मुक्तक हैं। विरह-ताप की अधिकता के कारण ऊहात्मक शैली का आश्रय लिया गया है। उर्मिला को पति के वियोग में भोजन रुचिकर नहीं लगता, वह विरह से दग्ध होकर प्रोषित-पतिकाओं को बुलाती है, एकाकीपन को भुलाने के लिये वह चित्रकला तथा संगीतकला सीखती है, शशक, कपोत, चकोरी, लाल, शुक, सारिका, मधुमक्खी, मकड़ी एवं कीड़ों आदि को अपना आत्मीय बनाती है। षड् ऋतुओं के चित्रण से भी विरहिणी की जीवन-दशा को व्यक्त किया गया है। गुप्त ने रूढ़िगत शैली का आश्रय लेकर विरहिणी के हृदय की दश दशाओं का भी चित्रण किया है, जिनमें अभिलाषा, उत्कण्ठा, स्मरण, गुण-कथन, इष्ट, अनिष्ट आदि आते हैं। इन दशाओं के फलस्वरूप प्रेमिका को उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, मूर्च्छा तथा मरण तक का सामना करना पड़ता है। उर्मिला के विरह में इन सभी दशाओं का चित्रण उपलब्ध होता है। यह उर्मिला के विरह-वर्णन का एक पक्ष है जिसमें परम्परावादी आलोचकों को काव्य-कौशल दृष्टिगत होता है। इसके दूसरे पक्ष में नीरसता के आधार पर इस विरह-वर्णन को कृत्रिम तथा 'साकेत' की प्रबन्धात्मकता में बाधक घोषित किया गया है। इन आलोचकों की यह धारणा है कि साकेत प्रबन्ध-काव्य है, मुक्तक काव्य नहीं। प्रबन्ध काव्य में मुक्तक काव्य की स्वच्छन्दता नहीं आ सकती। उर्मिला का निरन्तर रुदन नीरस है। करुणा की अतिशयता

भी करुणा की उत्पत्ति में बाधक होती है। कवि का ऐसा विश्वास प्रतीत होता है कि अधिक कहने से अधिक अच्छा कहा जाता है। गुप्त की यह धारणा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भ्रमपूर्ण है। उचित परिमाण में करुणा-जनक दृश्य का चित्रण हृदय को द्रवित करता है। यदि यही चित्रण अति विस्तृत हो जाता है तो चेतना मन्द पड़ जाती है और भावुकता शिथिल हो जाती है। गुप्त को उर्मिला की करुणा से मोह हो सकता है, किन्तु इस मोह को पाठक के हृदय में जगाने में वह असफल जान पड़ते हैं। कवि ने उर्मिलाविषयक समस्त उदासीनता का निराकरण करने के लिये अतिशयता से काम लिया है। वह आसन जमा कर एक मात्र इसी में रम जाते हैं और अपने काव्य-कौशल का परिचय देना चाहते हैं। वेदना तो व्यक्त हो जाती है, परन्तु काव्य कवि का साथ छोड़ देता है। इस विस्तृत चित्रण से एक तो साकेत की प्रबन्धात्मकता को ठेस लगी है और दूसरे करुणा शिथिल पड़ गई है। यदि 'सूरसागर' में गोपियों के विरह का चित्रण इससे अधिक विस्तृत है, तो 'सूरसागर' महाकाव्य नहीं है। 'सूरसागर' में एक-एक पद का रसास्वादन किया जा सकता है। गुप्त के 'साकेत' में उर्मिला के विरह-वर्णन को रंग-बिरंगे छन्दों की प्रदर्शिनी मात्र कहना अनुचित न होगा। इसका कारण यह है कि गुप्त छायावादी युग में महाकाव्य की सृष्टि करते समय प्राचीन तथा नवीन में सामंजस्य स्थापित करने में असफल रहे हैं जिसमें प्रसाद ने 'कामायनी' की रचना द्वारा सफलता प्राप्त की है। यदि नवम सर्ग की रचना स्वतन्त्र रूप से की जाती तो सम्भव है गुप्त इतना पथभ्रष्ट न होते। रुदन की अधिकता के कारण उर्मिला न तो 'पंचवटी' की सीता बन सकी है और न ही यशोधरा। यशोधरा के समान वह मानिनी भी नहीं है। वह एक असहाय अबला के समान करुणा एवं श्रद्धा की पात्री न हो कर दया की पात्री है जिसमें कला की असफलता ही लक्षित होती है। यह विचित्र प्रतीत होता है कि उर्मिला के इतने विस्तृत विरह-जीवन

में परिवार का कोई सम्बन्धी प्रवेश नहीं करता। उसके एकान्त निवास से यह आभास मिलता है वह रघुकुल की वधू न होकर कारावास में बन्द है। महात्मा गान्धी को भी उर्मिला का रुदन नहीं भाया था, परन्तु इसका कारण कलात्मक न होकर नैतिक था। कला की दृष्टि से भी गहन वेदना की अभिव्यक्ति भी विस्तृत मरुस्थल में हरियाले खण्डों के समान विरल है। पग-पग पर छन्द-परिवर्तन रस-परिपाक में बाधा डालता है। सरसता का स्थान आलंकारिक चमत्कार ने ले लिया है। इसमें कल्पनाएँ स्वाभाविक न होकर कृत्रिम हैं, अनुप्राणित न होकर रूढ़िगत हैं। साँस से आकाश में फफोले पड़ने की, बूँद का शरीर को स्पर्श करते ही भाप बनने की, मलयानिल का लू बनने की, पुष्प का लता के आँसू बनने की कल्पनाएँ विचित्र हैं। गुप्त वस्तुतः विरह के कवि न होकर मिलन के कवि हैं। इसलिये इनके काव्य में वियोग-चित्रों की अपेक्षा संयोग-चित्र अधिक सजीव हैं। इसका परिचय उर्मिला-लक्ष्मण के संवाद में मिल जाता है जिससे साकेत का आरम्भ होता है। लक्ष्मण के जागने पर उर्मिला शुक को मौन देख कर उससे पूछती है—

रे सुभाषी बोल, क्यों चुप हो रहा?

इस प्रश्न का उत्तर लक्ष्मण इन शब्दों में देते हैं जिनसे गुप्त के काव्य-कौशल की झलक पारिवारिक परिवेश के चित्रण में मिलती है—

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से,
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य यह शुक कौन है?

इस प्रकार हास-परिहास से कवि संयोग-चित्र को सजीव बनाने की क्षमता रखता है। साकेत में उर्मिला-लक्ष्मण के तीन मिलन-स्थल हैं और तीनों ही सजीव हैं। राम और सीता का एक-दूसरे की आँखों में निवास भरत-माण्डवी का संवाद, देवर-भाभी का हास्य-विनोद आदि के मिलन-चित्र

सरस हैं। [जहाँ संयोग-भाव हैं, वहाँ अभिव्यक्ति सशक्त है और जहाँ विरह-ताप का भाव है वहाँ अभिव्यक्ति अशक्त है।]

(गुप्त ने न केवल उर्मिला के चरित्र को नवीन साँचे में ढालने का प्रयास किया है, पात्रों को भी मानवीय रूप देने का प्रयत्न किया है। राम-कथा में कैकेयी का चरित्र चिरकाल से कलंकित रूप में ही अंकित किया गया है। राम ने उन्हें समझाने का भी प्रयत्न किया परन्तु तुलसी के 'मानस' में उत्तरकाण्ड तक कैकेयी का संकोच दूर नहीं हुआ—

रामहिं मिलत कइकई हृदय बहुत सकुचानि।

इसके विपरीत साकेत की कैकेयी चित्रकूट में ही अपना हृदय खोल देती है और मन्थरा के अपराध का भी परिहार कर देती है।

क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा दासी।
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।

उसकी ग्लानि बाँध तोड़ कर बह निकलती है और अनुताप की अभिव्यक्ति में उसकी आत्मा बोल उठती है —

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी'।
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार! उसे था महास्वार्थ ने घेरा'।

लक्ष्मण की मूर्च्छा का समाचार पाकर वह युद्ध में जाने के लिये तैयार हो जाती है। पति-वियोग और पुत्र-तिरस्कार के आघात पाकर वह अपने वास्तविक रूप में आती है और उसकी समस्त मलिनता धुल जाती है। कैकेयी का चरित्र सरल न होकर जटिल है, उसकी मानवीय दुर्बलताएँ उसके व्यक्तित्व में निखार लाती है। उसमें मातृत्व की भावना महत्त्वाकांक्षा को उद्दीप्त करती है। इस प्रकार गुप्त ने कैकेयी के चरित्र का विकास किया है। [कवि का उद्देश्य उपेक्षित तथा

लांछित पात्रों को मानवीय रूप देने में लक्षित होता है और यह प्रवृत्ति युग-चेतना का परिणाम है।

गुप्त की इस राजरचना का महत्त्व काव्य की दृष्टि से इतना नहीं जितना राम-कथा के पात्रों को नवीनता से युक्त करने में है। साकेत का महाकाव्यत्व संदिग्ध हो सकता है, इसके काव्यत्व पर भी प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है, इसके नायक-नायिका के सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी मत व्यक्त हो सकते हैं, इसके वस्तु-संगठन पर आरोप लगाया जा सकता है, इसके विरह-वर्णन पर आपत्ति की जा सकती है, इसके प्रकृति-चित्रण को रूढ़ घोषित किया जा सकता है; परन्तु इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि कवि ने राम-कथा को युग-चेतना के अनुरूप नवीन साँचे में ढालने का प्रयास किया है। इसलिये साकेत का ऐतिहासिक महत्त्व है, इसमें तत्कालीन युग का प्रतिबिम्ब है और यह युग सांस्कृतिक दृष्टि से पुनरुत्थान का युग है। इस युग में प्रवृत्ति-मूलक जीवन-दृष्टि का पोषण, बौद्धिक स्वतंत्रता का विकास, नैतिक साहस का उत्थान, नारी का उद्धार, राष्ट्रीयता का प्रसार और मानवता का उन्नयन हुआ है। इसके परिणाम-स्वरूप राम-कथा के उन चरित्रों को सहानुभूति की दृष्टि से देखा गया है जो परम्परा की दृष्टि से उपेक्षित, कलंकित अथवा महत्त्वहीन थे। इन पात्रों में नारियों की अधिकता है। पुनरुत्थान आन्दोलन के फलस्वरूप नारी निन्दा की पात्री तथा भोग की वस्तु न होकर पूजा की अधिकारिणी बनी और संन्यास के स्थान पर गार्हस्थ्य की महिमा बढ़ी। द्विवेदी-कालीन कवियों की नारी-भावना रीतिकालीन कवियों की नारी-भावना के विरोध का भी परिणाम थी। इसका संकेत 'भारत-भारती' में कवि कर चुके थे, शकुन्तला, तिलोत्तमा, द्रौपदी आदि में नयी नारी का आंशिक रूप व्यक्त कर चुके थे, परन्तु इनकी नारी-भावना की पूरी अभिव्यक्ति साकेत, यशोधरा और विष्णुप्रिया नामक कृतियों में उपलब्ध होती है।

उर्मिला यशोधरा तथा विष्णुप्रिया—तीनों नारियाँ अपने पुरुषों की आदर्श-सिद्धि से पीड़ित हैं। गुप्त ने उर्मिला के व्यक्तित्व को उभारने तथा निखारने पर जितनी शक्ति को लगाया है उतना उसका परिणाम नहीं निकल सका है।

मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत की रचना के उपरान्त नायिका-प्रधान आख्यान-काव्य 'यशोधरा' (१९३२) की रचना अपनी नारी-भावना को व्यक्त करने के उद्देश्य से की है। इसके मुखपृष्ठ की पंक्तियाँ नारी-जीवन-का सूत्र-रूप में उद्घाटन करती हैं—

अबला जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी

इस बार कवि ने बुद्ध-चरित के माध्यम से पति-परित्यक्ता नारी के दुःख की व्यंजना की है। यशोधरा के वियोग की अवधि भी नहीं है। उसकी वेदना का दूसरा कारण यह भी है कि गौतम अपने महान लक्ष्य की पूर्ति के लिये उससे छिप कर गए हैं—

सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये यही बड़ा व्याघात।

यह क्षत्राणी की मान-हानि है। वह प्रियतम को स्वयं सुसज्जित कर रण में भेजने की क्षमता रखती थी। इसके अतिरिक्त यशोधरा की परिस्थितियाँ उर्मिला की परिस्थितियों से भिन्न हैं। उसके पास संतोष के लिये शिशु है। वह उर्मिला की अपेक्षा अधिक गम्भीर है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि उर्मिला के आँसुओं पर आलोचकों ने जो व्यंग्य कसे थे, उनसे प्रभावित होकर कवि ने यशोधरा को अधिक सहिष्णु बना दिया है। खण्ड-काव्य में गौतम के गृह-त्याग और उनके बुद्ध अथवा तथागत होकर लौटने की कथा है। गौतम के तथागत बनने के मूल में उनकी पत्नी गोपा अथवा यशोधरा की आजीवन वेदना है। इस नारी-चरित्र के माध्यम

से कवि ने अपने दृष्टिकोण का परिचय दिया है। तथागत के लौटने पर वह उनसे मिलने नहीं जाती और कहती है—

पाना चाहे तो मुझे मुक्ति ही पावे।
मेरा तो सब कुछ वही मुझे जो भावे॥

इस प्रकार वह मुक्ति को भी तिरस्कार की दृष्टि से आँकती है और इस तिरस्कार में कवि का हृदय बोलता है। गुप्त ने नवीन चेतना को अभिव्यक्ति देने के लिये गौतम के मुख से यह कहलवा दिया है—'दीन न हो गोपे, सुनो हीन नहीं है नारी कभी'। इन शब्दों में नारी की विजय है। उर्मिला इतनी सजग एवं सचेत नहीं है जितनी यशोधरा। उर्मिला रोती अधिक है, परन्तु उसमें चिन्तन-शक्ति का प्रायः अभाव है। वह अतिशय भावुकता के कारण आँसुओं की धारा बहाना ही जानती है। इसके विपरीत यशोधरा मानिनी है, वह नारी की स्थिति पर गम्भीरता से विचार करती है—

सिद्धि-मार्ग में बाधा नारी, फिर उसकी क्या गति है?
पर, उनसे पूछूँ जिनको मुझ से आज विरति है?

इन प्रश्नों से यशोधरा की संतुष्टि नहीं होती। वह तथागत पर चोट करना भी जानती है जिसमें गुप्त की नारी-भावना का विकास लक्षित होता है। उर्मिला से यशोधरा तक की यात्रा इस विकास की द्योतक है। उर्मिला ने लक्ष्मण से केवल इतना कहा था—'मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी', परन्तु यशोधरा इतने में संतुष्ट न हो कर यह भी पूछना चाहती है कि बुद्ध के अमृत तथा यशोधरा के आँसू में किसका महत्त्व अधिक है। तथागत की गुण-गाथा में यशोधरा की करुण कहानी का हाथ है। इस प्रकार उर्मिला की अपेक्षा यशोधरा अधिक जागरूक नारी है और इसमें नारी-सम्बन्धी कवि के मानस का विकास लक्षित होता है। यशोधरा के भावों तथा विचारों में इस विकास का आभास मिलता है। कवि का उद्देश्य इस नवीन जीवन-दृष्टि का

प्रतिपादन भी है। जहाँ तक इस रचना के शिल्प का सम्बन्ध है गुप्त ने सियारामशरण के अनुरोध के फलस्वरूप इसमें गद्य-पद्य, नाटक-उपन्यास कविता-कहानी आदि सभी विधाओं का सम्मिश्रण कर दिया है। इसकी प्रगीतात्मक शैली भी छायावादी काव्य से प्रभावित जान पड़ती है। बौद्ध-सिद्धान्तों का खण्डन तथा वैष्णव-सिद्धान्तों का मण्डन गुप्त के निजी दृष्टिकोण का परिणाम है। नारी-भावना के प्रतिपादन के कारण करुणा की धारा का बहना स्वाभाविक है। इसलिए गुप्त-काव्य की मूल भावधारा को करुणा में ही आँका गया है। इस रचना को चम्पू, प्रगीतात्मक रचना, नाट्य-प्रबन्ध आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है, परन्तु इसे किसी परम्परागत विधा में बाँधने की अपेक्षा आख्यान-काव्य की सामान्य संज्ञा से अभिहित करना अधिक उपयुक्त होगा।

गुप्त की अगली रचना 'द्वापर' (१९३६) कथा-काव्य है जिसका आधार भागवत है, जिसमें नारी-भावना की अभिव्यक्ति विधृता के चरित्र द्वारा हुई है। कवि ने भागवत के आधार पर कृष्ण-चरित्र का चित्रण किया है। पात्रों के नाम पर सर्गों का विभाजन हुआ है और ये पात्र आत्म-कथा के माध्यम से अपने-अपने चरित्र की विशेषताओं का उद्‌घाटन करते हैं। कृष्ण, राधा, बलराम, यशोदा, देवकी, कंस, नन्द, कुब्जा, ऊद्धव, गोपी आदि विख्यात पात्रों के अतिरिक्त विधृता भी एक ऐसा पात्र है जो भागवत में उपेक्षित है और जिसका वर्णन केवल एक श्लोक में मिलता है। गुप्त उपेक्षित पात्रों को उठाने में सिद्धहस्त हैं और यह प्रवृत्ति उनके काव्य की रूढ़ि का रूप धारण कर चुकी है। इस विधृता के माध्यम से कवि पुरुष के अत्याचारों का विरोध करते हैं। पुरुष-पात्रों में वीरता का भाव प्रधान है और नारी-पात्रों में करुणा का। यह कृति रामचरित तथा बुद्धचरित के बाद की है। इसमें इन दोनों की विशेषताओं का नया विकास दृष्टि-गोचर होता है। अब तक उर्मिला, यशोधरा आदि ख्यात पात्रों को कवि ने सहानुभूति

दी है ; परन्तु विधृता जैसी उपेक्षिता नारी को सहानुभूति का विषय बनाना कवि की उदारता तथा युग की चेतना का परिणाम है। विधृता परित्यक्ता तथा वियोगिनी न हो कर अपने पति द्वारा निरादृता एवं पीड़िता है। वह भगवान के दर्शन पाने के अधिकार से भी वंचित है। वह पति से ताड़ित हो कर अन्त में देह-त्याग करती है। विधृता के बलिदान से कामी पति को कहना पड़ा है—

नर के बाँटे क्या नारी की नग्न मूर्ति ही आई ?
माँ, बेटी या बहिन हाय ! क्या संग नहीं वह लाई ?

विधृता की समस्या उस की समस्या नहीं है जिसका पति लक्ष्य-प्राप्ति के लिये उसका परित्याग करता है, विधृता की समस्या उस नारी की है जिसका पति अपने शंकालु तथा कामी स्वभाव के कारण पत्नी को संशय की दृष्टि से देखता है और उसे भगवान की भक्ति से रोकता है। नारी अबला तो पहले भी थी, परन्तु वह पति के अविश्वास की मारी नहीं थी। लक्ष्मण को उर्मिला पर पूरा विश्वास था, गौतम की यशोधरा के प्रति पूरी आस्था थी; परन्तु विधृता की परिस्थिति इन नारियों से भिन्न है। इसलिये वह कहती है—

हा अबला ! आ, अरी अनादर, अविश्वास की मारी,
मर तो सकती है अभागिन, कर न सके कुछ नारी।

इस नारी को आत्मघात का आश्रय लेना पड़ा है। इसमें नारी के विद्रोह का स्वर ध्वनित हुआ है। यह नारी-भावना के विकास का अगला चरण है। नारी युग-चेतना के परिणामस्वरूप सहानुभूति तथा समानता के भाव से संतुष्ट न होकर अपना अधिकार माँगती है। वह इस से वंचित होकर आत्महत्या कर लेती है। गुप्त ने नारी-भावना को व्यक्त करने के अतिरिक्त अन्य पात्रों को भी नया रूप दिया है। कुब्जा राधा की सौत न हो कर अनन्य सेविका है, राधा स्वकीया है, गोपियाँ उसकी सखियाँ हैं। कवि बहुपति तथा बहुपत्नी की परम्परा से सहमत नहीं है। इसलिये

इन्होंने प्राचीन आख्यानों की नवीन व्याख्या और विख्यात पात्रों की नवीन उद्भावना की है। इसके मूल में नारी की पुकार है जो पुनरुत्थान युग की देन है। इस युग में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का स्वर गुंजित होने लगा था; परन्तु प्रारम्भिक अवस्था में व्यक्ति-चिन्तन का स्वर समष्टि-चिन्तन के आधीन था। इसका विद्रोहमूलक पक्ष उभर रहा था जिसके फलस्वरूप विधृता की आत्मा स्वामी से हुंकार कर कहती है—

अविश्वास हाँ, अविश्वास ही नारी के प्रति नर का,
नर के तो सौ दोष क्षम्य हैं स्वामी है वह घर का।
जाती हूँ, जाती हूँ अब मैं और नहीं रुक सकती।
इस अन्याय समक्ष मरूँ मैं, कभी नहीं झुक सकती॥

यशोधरा भी मानिनी थी, वह भी तथागत को मिलने के लिये घर से बाहर नहीं निकली। बुद्ध स्वयं उसे मिलने के लिये उसके भवन में पधारे थे। विधृता का आक्रोश अत्यन्त तीव्र है, वह टूट सकती है पर वह पुरुष के सामने झुकने के लिये तैयार नहीं है। वह मरण को जीवन की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर समझती है। इनमें युग की नारी का विद्रोहात्मक दृष्टिकोण झलकता है। 'द्वापर' में चरित्र-विकास की अपेक्षा युग की समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति अधिक है। राधा के माध्यम से क्रान्ति का भी संदेश दिया गया है। क्रान्ति को दैनिक जीवन का अंग स्वीकार किया जाए—इस पर बल दिया गया है। इसमें पुनरुत्थान युग की प्रायः सभी समस्याओं को स्पर्श करने का प्रयास है। इसका उद्देश्य प्राचीन आख्यान की काव्यात्मक अभिव्यक्ति न हो कर नवीन-चेतना का संचार करने में लक्षित होता है। गुप्त की क्रान्ति की निजी सीमा है और उनकी नवीन-चेतना की अपनी परिधि है। इनके काव्य में परम्परा तथा प्रगति, प्राचीन तथा नवीन आदि का सम्मिश्रण ही उपलब्ध हो सकता है।

इस रचना के उपरान्त गुप्त के 'सिद्धराज' का (१९३६) जिसका

इतिवृत्त ऐतिहासिक है, जिसमें चरित्र-चित्रण आदर्शवाद के धरातल पर हुआ है वस्तु की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, परन्तु शिल्प की दृष्टि से अतुकान्त होने के कारण इसका आंशिक महत्त्व है। इसके माध्यम से कवि ने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति का सजीव चित्रण कर अपने विचारों को यथास्थान व्यंजित किया है। इसी प्रकार 'मंगलघट' (१९३७) का भी काव्य की दृष्टि से महत्त्व न हो कर गीति-रचना की दृष्टि से आंशिक महत्त्व है। इसके शीर्षक से ही कवि की समष्टिमूलक जीवन-दृष्टि का परिचय मिल जाता है। गुप्त की अगली रचना 'नहुष' का आधार पौराणिक आख्यान है। इसमें वृत्रासुर-वध के कारण इन्द्र के जल-समाधि लेने पर नहुष के इन्द्र के सिंहासन पर आसीन होने और वहाँ शची के साथ अमानवीय आचार करने पर उसके पतित होने का चित्रण है। शची की सुषमा उसे विमुग्ध कर देती है कि वह यह भूल जाता है कि ऋषि उसे पाताल में भी गिरा सकते हैं। शिथिल गति से जाते ऋषियों को कामातुर नहुष ने कहा—'सर्प सर्प : बढ़े चलो बढ़े चलो !' उसने पदाघात द्वारा अगस्त्य मुनि को भी उत्तेजित किया। परिणाम यह हुआ कि ऋषि के शाप से वह साँप की योनि में पतित हुआ। इस प्रसंग का महाभारत में उद्देश्य युधिष्ठिर को कष्ट-सहन का उपदेश देना है। इन्द्र और इन्द्राणी को भी विपत्ति का सामना करना पड़ा था। इसमें जीवन के उत्थान तथा पतन का विवेचन है। इस रचना की विशेषता यह है नहुष के शापित होने पर भी उसमें उत्थान का पूरा निश्चय है। इसकी दूसरी विशेषता शची के चरित्र में लक्षित होती है। वह एकपति-निष्ठा के आदर्श की प्रतीक है। गुप्त ने अपने दृष्टिकोण का परिचय इन पंक्तियों में दिया है—

गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी।
मैं ही तो उठा था आप, गिरता हूँ जो अभी॥
नर हूँ पुरुष हूँ मैं चढ़ के रहूँगा मैं।

इस प्रकार के उपदेश गुप्त आख्यानों के माध्यम से अपने काव्य में देते आए हैं। 'नर हो न निराश करो मन को' आदि उनकी पंक्तियाँ काव्यात्मक उक्तियाँ न होकर उपदेशात्मक तुकबन्दियाँ हैं। इस उपदेश को देने के लिये कवि 'नहुष' में आख्यान की आत्मा को ही बदल देते हैं। नहुष की व्यक्तिगत उन्नति के स्थान पर कवि राष्ट्र अथवा समष्टि की उन्नति की कामना करते हैं—

उठना तुझे ही नहीं एकमात्र रीते हाथ,
मेरा देवता भी और ऊँचा उठे मेरे साथ।

इन पंक्तियों में युग की ध्वनि है जो गुप्त के काव्य का मूल स्वर है। इनका काव्य व्यक्ति-हित की मान्यता से प्रभावित न होकर समष्टि-मंगल की भावना से अनुप्राणित है। गुप्त की अगली रचना 'कुणाल-गीत' (१९४२) जो लोक-कथा पर आधारित है इस समाज-कल्याण की जीवन-दृष्टि से प्रभावित है। कुणाल के व्यक्तित्व में लोक-मंगल की भावना को भर कर उसके चरित्र को निखारा गया है। इसके शिल्प-पक्ष में गीति-शैली तथा कथा-शैली का समन्वय है। इसलिये डा० उमाकान्त ने इसे प्रगीतात्मक खण्ड-काव्य की संज्ञा दी है। 'अर्जन और विसर्जन' (१९४२) में दो खण्डकाव्य संकलित हैं। पहले में आशा के और दूसरे में निराशा के स्वर ध्वनित हुए हैं। इनका काव्यात्मक महत्त्व न होकर ऐतिहासिक महत्त्व ही कहा जा सकता है। गुप्त-काव्य की सूची को विस्तार देने में इनका विशेष स्थान है। इसी प्रकार 'काबा और कर्बला' (१९४२) में दो खण्डकाव्यों का संग्रह है जो मुस्लिम इतिहास से सम्बद्ध है। इसका उद्देश्य स्पष्ट है—'अपने देश में आन्तरिक सुख-शान्ति के लिये हमको हिलमिल कर रहना होगा, एक-दूसरे के प्रति उदार और सहिष्णु होना होगा, एक-दूसरे से परिचय और प्रेम बढ़ाना होगा'। गुप्त का हृदय हिन्दू-संस्कृति में इतना रमा हुआ है कि वह मुस्लिम-संस्कृति से सम्बद्ध आख्यानों को बौद्धिक सहानुभूति ही

दे पाये हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता की सामयिक समस्या का समाधान कवि ने भावात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। इसी भाँति 'विश्व-वेदना' (१९४२) में भी सामयिक समस्या नाशकारी दूसरे महायुद्ध पर कवि के उद्‌गारों की अभिव्यक्ति है। कवि की वेदना तथा विश्व की वेदना एक होकर व्यक्त हुए हैं।

मैथिलीशरण गुप्त साकेत, यशोधरा, द्वापर आदि की रचना के उपरान्त अपनी मूल धारा से विच्छिन्न होकर उपधाराओं में अपनी श्रान्त काव्य-शक्ति का उपयोग करते हुए जान पड़ते हैं। इन उपधाराओं में 'अजित' (१९४६), 'प्रदक्षिणा' (१९५०) 'पृथिवी पुत्र' (१९५०) आदि की गणना की जा सकती है। 'अजित' में आत्मकथा के सूत्रों को खोजने का प्रयास किया गया है, 'प्रदक्षिणा' का उद्देश्य रामभक्ति है, 'पृथिवी पुत्र' में तीन संवाद हैं। इन रचनाओं में न कोई नवीनता है और न ही कोई मौलिकता है। अवकाश के क्षणों को भरने के लिये कवि-कर्म का परिणाम इनकी सृष्टि में मिलता है। गुप्त 'हिडिम्बा' (१९५०) में पुनः महाभारत की ओर उन्मुख हुए हैं। वे रामायण का तो पूरा उपयोग कर चुके हैं, परन्तु महाभारत की संभावनाएँ अभी शेष हैं। महाभारत में हिडिम्बा का चरित्र अमानवीय है, वह राक्षसी है, वाचाल है। उसके मुख से अश्लील भावों को अभिव्यक्ति मिली है। गुप्त ने उसके चरित्र का परिष्कार किया है और उसे मानवीय तथा विश्वसनीय रूप दिया है। वह अन्ततः नारी है, उसके भी हृदय है, उसमें भी आत्म-ग्लानि है। इसलिये हिडिम्बा को मानवीय धरातल पर चित्रित करना कवि को अभीष्ट है। इस अन्तराल में 'अंजलि और अर्घ्य' (१९५०) में राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के निधन पर कवि अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर महाभारत का गुप्तीकरण अथवा साकेतीकरण करने में संलग्न हो जाते हैं। 'जयभारत' (१९५२) एक विशालकाय प्रबन्धकाव्य है जो महाभारत की कथा पर आधारित है

इस प्रयास में उपेक्षित पात्रों का उद्धार, दूषित पात्रों का परिष्कार, आख्यानों का संस्कार, समाज-मंगल के दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा, पारिवारिक सम्बन्धों की स्थापना, भारतीय संस्कृति का आधुनिक संस्करण आदि अनेक तथा विविध स्वर एक-साथ ध्वनित होते हैं। कवि ने समस्त महाभारत को आधुनिक युग-चेतना के साँचे में ढालने का साहस अवश्य किया है, परन्तु इस साहस के औचित्य के सम्बन्ध में अन्तिम शब्द अभी अपेक्षित हैं। गुप्त ने महाभारत को जयभारत में रूपांतरित करने से भारत की जय का जयकार तो किया, परन्तु इस जयकार में महाभारत की महानता का लोप हो गया है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने महाभारत का रूपान्तर गद्य में किया था, उनके शिष्य गुप्त ने इसका रूपान्तर पद्य में कर डाला है। गुप्त वस्तुतः यमुना के कवि न होकर गंगा के कवि हैं, कृष्णचरित के कवि न हो कर रामचरित के कवि हैं, स्वच्छन्दता के कवि न होकर मर्यादा के कवि हैं। इसलिये वह रामायण के आख्यान से जितना तादात्म्य स्थापित कर सके हैं, उतना महाभारत से नहीं। इनकी आगामी रचनाओं में 'युद्ध' 'राजा-प्रजा' (१९५६) तथा 'विष्णु प्रिया' (१९५७) हैं। इनमें 'युद्ध' जयभारत का एक अध्याय हैं, 'राजा प्रजा' में राजतन्त्र- तथा प्रजातंत्र-सम्बन्धी कवि के निजी विचार हैं। गुप्त ने अपने बद्धमूल संस्कारों के कारण राजतंत्र में विश्वास रखने पर भी प्रजातंत्र के पक्ष में इसलिये लिखा है कि यह युग के अनुकूल है। इस चिन्तन-प्रधान काव्य में कवि का हृदय राजतंत्र में है और उनकी बुद्धि प्रजातंत्र में। कवि की नवीनतम रचना 'विष्णु प्रिया' उपेक्षित नारी के विद्रोह की अभिव्यक्ति है। इसमें चैतन्य महाप्रभु की गृहिणी की पुकार है। विष्णुप्रिया को उर्मिला, यशोधरा तथा विधृता की परम्परा में रखा जा सकता है। विष्णुप्रिया करुणा की सजीव प्रतिमा है और करुणा की शक्ति से पुरुष के पाषाण हृदय को द्रवित करना चाहती है। यह कवि का अहिंसावादी उपाय है

जो गांधी-नीति से प्रभावित है। इस सम्बन्ध में विष्णुप्रिया का कथन है—

मैं हूँ परित्यक्ता वधू, भिक्षु हुए पति की

परन्तु मात्र सहानुभूति से नारी की समस्या का समाधान नहीं हो पाया—

छाया घनतम अंधकार है, बहती विषम बयार है,
सब की सहज अनुभूति है, इतना ही आधार है।

इतने आधार से उसकी संतुष्टि नहीं हो सकी है। अब नारी विद्रोह करने के लिये विवश है। इस विद्रोह के स्वर को विष्णुप्रिया के द्वारा गुंजित किया गया है—

व्यथित हो रहा मेरे कारण सारा स्त्री-संसार है,
मुझ पर कृपा, कोप स्वामी पर करता बारंबार है।
कहता है नारी पर नर का कितना अत्याचार है।
लगता है, विद्रोह मात्र ही अब इसका प्रतिकार है।

इन शब्दों में गुप्त स्पष्ट रूप में तो नहीं किन्तु संकेत रूप में नारी को विद्रोह करने के लिये अनुमति देते हैं। यह परम्परावादी कवि के साहस का द्योतक है। इस प्रकार विवशताओं से घिरी, शास्त्र के आदर्शों से जकड़ी, समाज के बन्धनों से ग्रस्त, पुरुष की उपेक्षा से दलित भारतीय नारी को वाणी देने के लिये गुप्त का काव्य-प्रयास निजी महत्त्व रखता है।

मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-कृतियों के इस विस्तृत विवेचन का उद्देश्य इनके काव्य के वस्तुगत तथा शिल्पगत पक्षों का मूल्यांकन करना है। गुप्त प्रधानतः गीतकार न होकर आख्यानकार हैं। इन्होंने दो महाकाव्यों तथा उन्नीस खण्डकाव्यों की रचना की है। यशोधरा, द्वापर, कुणाल-गीत आदि भी आख्यानात्मक काव्य है। इसलिये गुप्त के काव्य का मूलाधार पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यान हैं। इनके काव्य का

क्षेत्र विस्तृत है और इनकी काव्य-शैलियाँ भी विविध हैं। यह ठीक है कि इन्होंने प्रबन्ध, मुक्तक तथा गीति-काव्य तीनों की रचना की है। मुक्तक के क्षेत्र में इनकी सिद्धि पर प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है, गीति-काव्य के क्षेत्र में इनकी सफलता को संदेह की दृष्टि से आँका जा सकता है; परन्तु प्रबन्धकाव्य के क्षेत्र में इन्हें असफल नहीं कहा जा सकता। आधुनिक युग की आवश्यकताओं के फलस्वरूप इनके प्रबन्ध-काव्य के स्वरूप का रूपान्तरित होना भी स्वाभाविक है। इसलिये इनके प्रबन्ध काव्यों में कथानकों का स्वरूप प्रायः सुगठित न होकर शिथिल है। इन प्रबन्ध-काव्यों में मार्मिक स्थल संवादों के रूप में उपलब्ध होते हैं। जयद्रथ-वध में उत्तरा-विलाप, पंचवटी में लक्ष्मण-शूर्पणखा संवाद, द्वापर में विधृता का संलाप, यशोधरा में गोपा तथा पिता का संवाद, साकेत में लक्ष्मण-उर्मिला के संवाद आदि में गुप्त ने अपने काव्य-कौशल का परिचय दिया है। इनके काव्य की वस्तुगत तथा शैलीगत उपलब्धियों के सम्बन्ध में भारी मतभेद पाया जाता है। इनके काव्य की सीमाएँ नितान्त स्पष्ट हैं। इनकी रचनाओं के मूल में कवि की शिवमूलक अथवा समष्टिमूलक जीवन-दृष्टि है जिससे इनके काव्य का स्वरूप रूपायित है। इस जीवन-दृष्टि ने इनके काव्य को लक्षणामूलक तथा व्यंजनामूलक के स्थान पर अभिधामूलक रूप दिया है। इस कारण इनका अधिकांश काव्य तुकान्त है। खड़ीबोली में गुप्त के काव्य की रचना इस जीवन-दृष्टि का परिणाम है। अपने काव्य को साधारणीकृत करने के लिये कवि ने इन उपकरणों को अपनाया है। पुनरुत्थान के युग में साहित्यकार की दृष्टि समष्टि-चिन्तन तथा लोगमंगल की भावना से अनुप्राणित थी। गुप्त ने इस चेतना को अभिव्यक्ति देने के लिये रामायण, महाभारत तथा पुराण को अपने काव्य का आधार बनाया और इसकी नवीन व्याख्या की। इस काव्य-वस्तु के चयन के लिये भारतीय संस्कृति के चरमोन्नति के काल को आधार बनाना स्वाभाविक

था। इस नवीन व्याख्या में गुप्त का निजी दृष्टिकोण झलकता है और यह दृष्टिकोण निवृत्तिमूलक न होकर प्रवृत्तिमूलक है। लोकमान्य तिलक ने भी गीता की व्याख्या इस रूप में करना अधिक उपयुक्त समझा था। इस प्रकार गुप्त भारतीय संस्कृति के केवल आख्याता न होकर उस पर अपना रंग चढ़ाते हैं। इनके काव्य में प्राचीनता तथा नवीनता के समन्वय को देखा गया है, परम्परा तथा प्रगति के सामंजस्य को खोजा गया है। एक ओर वर्णव्यवस्था, आश्रम धर्म तथा संयुक्त परिवार के प्रति आस्था रखते हैं और दूसरी ओर वह नारी-स्वातंत्र्य के समर्थक जान पड़ते हैं। वह नारी के उज्ज्वल रूप की अवतारणा के पक्ष में हैं जो त्याग, तप, बलिदान की अग्नि में निखरा हुआ है। इनकी प्रजातंत्र की अपेक्षा राजतंत्र के प्रति अधिक ममता है। इनके काव्य में भाव-चित्रण का उद्देश्य भी भाव का भोग न होकर उसका उन्नयन है। इस उन्नयन में कवि की समष्टिमूलक जीवन-दृष्टि है। मैथिलीशरण गुप्त की जीवन-दृष्टि मूलतः मध्यवर्ग की चेतना के उस स्तर से प्रभावित है जो सामन्ती संस्कृति के भावात्मक विरोध से सम्बद्ध है। इसका भावात्मक विरोध करने के लिये साहित्यकार अतीत से प्रेरणा ग्रहण करता है और भारतीय संस्कृति की नवीन व्याख्या करने के लिये अधीर हो उठता है। इस पुनरुत्थान के युग में व्यक्ति-चिन्तन, व्यक्ति-हित तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य से प्रभावित चेतना का उदय हो रहा था जिसके स्वर नारी-स्वातंत्र्य, राष्ट्रीयता, निवृत्ति का खण्डन, प्रवृत्ति का मण्डन आदि में ध्वनित होने लगे थे। परन्तु इस व्यक्तिमूलक चेतना का विकास छायावादी और विशेषतया उत्तरछायावादी काव्य में हुआ। गुप्त का काव्य प्रेमचन्द के कथा-साहित्य, महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा रामचन्द्र शुक्ल के आलोचना-साहित्य की भाँति समाज-मंगल की भावना अथवा समष्टिमूलक चिन्तना से अनुप्राणित है जिसके आधार पर इनके काव्य के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष का मूल्यांकन अपेक्षित है। इस जीवन-दृष्टि के आधार पर

प्राचीनता के प्रति इनके आग्रह और नवीनता के प्रति इनकी उत्सुकता को आँका गया है। इनके काव्य में परम्परा और प्रगति का जो सम्मिश्रण उपलब्ध होता है इसमें परम्परा की अधिकता और प्रगति की न्यूनता का कारण भी कवि की इस जीवन-दृष्टि में खोजा जा सकता है। गुप्त का समष्टि-चिन्तन विशिष्ट न होकर सामान्य है, वैज्ञानिक न होकर भावात्मक है। इस भावात्मकता में बौद्धिकता का पुट अवश्य पाया जाता है; परन्तु कवि तथा युग की आदर्शवादिता इसे अधिक उभरने नहीं देती। मैथिलीशरण गुप्त का समष्टि-चिन्तन, जो इनके काव्य की मूल भावना है, प्राचीन आख्यानों तथा चरित्रों की नवीन व्याख्या के माध्यम से व्यक्त हुआ है। गुप्त को पारिवारिक जीवन का कवि भी कहा गया है और यह परिवार संयुक्त परिवार है जिसके मूल में भी समष्टि-मंगल की ही भावना है। इसलिये गुप्त के काव्य की उपलब्धियों तथा सीमाओं का मूल्यांकन इनकी इस मूल विचारधारा तथा जीवन-दृष्टि के आधार पर करना उचित एवं उपयुक्त समझा गया है।

३

जयशंकर प्रसाद

परिवेश
जीवनी
काव्य-कृतियाँ
कानन कुसुम, करुणालय
प्रेम-पथिक, झरना
आँसू, लहर
कामायनी—एक मूल्यांकन

३

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद संक्रांति-काल के कवि थे। इस काल के कवि को एक ओर तो प्राचीनता की प्रतिष्ठा से संयत विद्रोह करना पड़ा है और दूसरी ओर नवीनता का नियंत्रित रूप अपनाना पड़ा है। इसलिए उसे सामान्य कवि से अधिक परिश्रम और साधना करनी पड़ी है। सामान्य कवि तो परम्परा का पालन मात्र करते रहते हैं; परम्परा का राजपथ उनके लिए प्रशस्त रहता है और वे निश्चिन्त उस पथ पर चलते रहते हैं। इसके विपरीत संक्रांति-काल के कवि का पथ विकट होता है। वह युग-निर्माता होता है; अतः उसे स्वयं एक समन्वित पथ प्रशस्त करना पड़ता है। प्रसाद ऐसे ही कवि थे। उनके समय में हिन्दी साहित्य में विचित्र उथल-पुथल थी। भारतेन्दु काल का अन्त हो चुका था और द्विवेदी काल का आरंभ होने वाला था। इस संक्रांति-काल

में काव्य के उपकरणों को बदलने का प्रयास हो रहा था। भाषा, भाव, छंद आदि की प्राचीन प्रणाली को छोड़ने और उसकी नवीन रूप में स्थापना करने में कवि प्रयत्नशील थे। सब से अधिक जटिल प्रश्न काव्य-भाषा का था। भारतेन्दु ने खड़ी-बोली को तो अपना लिया था; परन्तु ब्रजभाषा का परित्याग भी नहीं किया था। उन्होंने ब्रजभाषा को अपनाया ही नहीं, उसको नवयुग के भावों और विचारों को अभिव्यक्ति देने का माध्यम भी बनाया और कहा कि गद्य के लिए खड़ी-बोली भले ही अपना ली जाये, पद्य के लिए ब्रजभाषा ही उपयुक्त है। यही विचार भारतेन्दु-काल में प्रधान रहा और द्विवेदी-काल तक बना रहा। ब्रजभाषा के एक-छत्र साम्राज्य की जड़ों को हिलाने के लिये द्विवेदी ने पद्य और गद्य की भाषा की एकता पर बल दिया। हिन्दी में इस आंदोलन का प्रभाव बढ़ा और खड़ी-बोली को अपनाया जाने लगा। ब्रजभाषा का प्रभुत्व कम होने का एक कारण यह भी था कि उसमें शृंगार रस की रचनाएँ होती थीं। ये रचनाएँ प्रायः उसी कोटि की थीं, जैसी कि बिहारी, पद्माकर आदि की होती थीं। उनमें समस्या-पूर्तियों का मूल्य अधिक था। द्विवेदी को खड़ी-बोली को स्थापित करने में सब से बड़ी सहायता इस बात से मिली कि उन्होंने शृंगार के विरोध में कवियों को खड़ा कर दिया। उस काल में राष्ट्रीयता और सामाजिकता का प्रश्न भी था। द्विवेदी ने कविता की शुद्धि का कार्य किया और उससे शृंगार का बहिष्कार कर दिया। उनके युग को पवित्रतावादी काल इसीलिए कहा जाता है कि उसमें नारी का चित्रण यथासंभव ऐसा किया जाता था जिसमें शृंगार का अभाव हो। एक युग से चली आती काव्य-परंपरा से शृंगार का बहिष्कार कर देने से कविता में उपदेशक का स्वर ही ध्वनित होने लगा जिसका परिणाम यह निकला कि कविता रस से वंचित होने लगी। प्रसाद इस संक्रान्ति-काल के कवि थे। उनका जन्म काशी में हुआ। अतः भारतेन्दु काल के समस्त संस्कार उन्हें

विरासत में मिले थे। उन्होंने लिखना भी ब्रजभाषा में आरम्भ किया था। समस्या-पूर्ति से लेकर सभी प्रकार की रचनाएँ उन्होंने ब्रजभाषा में लिखीं। उनके काव्य में नवीन भावनाओं की भी अभिव्यक्ति होने लगी। जब प्रसाद ने देखा कि ब्रजभाषा में उस शक्ति अथवा क्षमता का अभाव है जिससे नवीन चेतना की अभिव्यंजना हो सके तब वह खड़ी-बोली में लिखने लगे और उन्होंने अपनी ब्रजभाषा की माधुरी को खड़ी बोली के साँचे में ढाला। यही कारण है कि वह मैथिलीशरण गुप्त से, जो द्विवेदी के शिष्य हैं, भिन्न पथ के पथिक रहे और छायावाद का नेतृत्व कर सके। भारतेन्दु-काल के अवशिष्ट संस्कार पाकर द्विवेदी की इतिवृत्तात्मक कविता की आलोचना कर उन्होंने छायावादी कविता को सूक्ष्म विधान दिया।

प्रसाद का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में सन १८८९ में हुआ। उनके पितामह बाबू शिवरत्न साहू बड़े उदार व्यक्ति थे और सुँघनी साहू के नाम से विख्यात थे। उन्होंने पान में खाने वाली सुरती गोली का अविष्कार किया था, जो काशी की देन है। वह कवियों, भाटों और विद्वानों के भक्त थे और उनका बड़ा सम्मान करते थे। लोग उनकी उदारता के कारण उनको महादेव कहकर पुकारा करते थे। प्रसाद के पिता देवीप्रसाद भी ऐसे ही दानी और विनीत स्वभाव के व्यक्ति थे। विद्वानों और गुणियों का जमघट उनके यहाँ बराबर लगा रहता था। प्रसाद का ऐसे परिवार में जन्म तथा पालन पोषण हुआ। ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्हें अपनी माता के साथ धारा क्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, ब्रज और अयोध्या आदि की यात्रा करने का अवसर मिला। अमरकंटक पर्वत-माला के बीच नर्मदा में चाँदनी रात में उन्होंने नौका-विहार किया। उस प्राकृतिक दृश्य का उनके हृदय पर अद्‌भुत प्रभाव पड़ा और कविता में प्रकृति की सौन्दर्य-राशि एक कौतूहल का सृजन करने के लिए सदैव के लिए उनकी

आत्मा में समा गई। उन्होंने पुरी, महोदधि और भुवनेश्वर की भी यात्रा की। इस यात्रा में वे समुद्र की विशालता और गंभीरता के परिचय में आए और अमरकंटक की यात्रा में पर्वतीय दृढ़ता और उच्चता के संपर्क में। उनकी कविता में प्रकृति की इन विराट शक्तियों से प्रेरित भावनाओं के फलस्वरूप गम्भीरता और विशालता दोनों मिलती हैं। संभवतः 'कामायनी' में समुद्र का जो वर्णन है, वह पुरी के समुद्र-दर्शन के प्रभाव में ही लिखा गया है। प्रसाद ने जो कुछ लिखा घर ही बैठ कर लिखा है, वह भ्रमण बहुत कम कर सके। परन्तु वह कल्पना के धनी थे और उससे अपनी इस कमी को दूर करने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई। बारह वर्ष की अवस्था में पिता और पन्द्रह वर्ष की अवस्था में माता का देहांत हो जाने से प्रसाद स्कूली शिक्षा पाने से वंचित हो गए। उन्होंने घर पर संस्कृत और अंग्रेजी का अध्ययन किया। दीनबन्धु ब्रह्मचारी संस्कृत के धुरंधर विद्वान थे। उनसे वेद और उपनिषद का ज्ञान प्राप्त करने के कारण प्रसाद का दृष्टिकोण दार्शनिक हो गया। यह उनके भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग का भी कारण है। प्रसाद का पारिवारिक जीवन उनके काव्य-विकास में साधक एवं बाधक बन कर आया। उनके घर पर समस्या-पूर्ति का वातावरण छाया रहता था। उनके यहाँ कवि आते थे और आधी-आधी रात तक कवित्तों की झड़ी लगी रहती थी। प्रसाद ने भी छिप-छिप कर समस्या-पूर्ति करना आरम्भ किया। इसे देख कर उनके बड़े भाई ने पहले तो उन्हें रोकने की चेष्टा की, परन्तु जब कवियों ने प्रसाद के प्रयासों की प्रशंसा की तो उन्हें लिखने की आज्ञा मिली। सत्रह वर्ष की अवस्था में बड़े भाई भी चल बसे और प्रसाद अकेले रह गये। कुटुम्बियों ने उन्हें परेशान किया। परन्तु वह घबराए नहीं और बराबर संघर्ष करते रहे। इसी बीच उन्होंने अपने तीन विवाह किये। कौटुम्बिक षड्यंत्रों और विशेष रूप से ऋण के कारण प्रसाद सदैव चिंतित रहा करते थे, परन्तु उनकी मुख-मुद्रा कभी मलिन नहीं होती थी।

उनके साहित्यिक जीवन में भी उन्हें अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा। 'सरस्वती' द्वारा उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिला। इसलिए उन्होंने अपने भानजे द्वारा 'इन्दु' मासिक पत्र निकलवाया जिसमें उनकी रचनाएँ निरन्तर निकला करती थीं। उस पत्र को वे आर्थिक सहायता भी देते थे। इस पत्र का उनके साहित्यिक जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। प्रसाद गंभीर और शांत प्रकृति के थे। कभी किसी कवि-सम्मेलन या सभा-सोसायटी में नहीं जाते थे। शायद ही उन्होंने किसी कवि-सम्मेलन में कविता पढ़ी हो। वह कटु से कटु आलोचना का भी कभी उत्तर नहीं देते थे। वह निरन्तर साहित्य-साधना में व्यस्त रहते थे और दलबन्दी से दूर रहा करते थे। उनकी छोटी सी मित्र-मण्डली थी। उसी में वह हँसते और खुल कर बात करते थे। वह साहित्यिक वृत्ति के व्यक्ति थे, शिव के उपासक थे, मांस-मदिरा से सदैव दूर रहते थे, स्वाभिमानी और विनम्र थे। वह नियमित रूप से प्रतिदिन पाँच-छह घंटे पौराणिक और ऐतिहासिक ग्रंथों का अध्ययन करते थे। युग की समस्याओं को वह गम्भीरता से सुलझाने की सोचते रहते थे। उनकी मृत्यु राज-यक्ष्मा से सन १९३७ में ४८ वर्ष की अवस्था में हुई।

प्रसाद के जीवन को देखने से यह जान पड़ता है कि वह मूक साधक थे और भारतीय संस्कृति के उद्धार के लिए सजग कलाकार की भाँति प्रयत्नशील थे। बाह्य प्रभाव से अलग रह कर भारतीयता की नवीन व्याख्या करने के लिए उन्होंने अपने नाटकों का आश्रय लिया। उन्होंने अपने नाटकों में भारतीय संस्कृति के उन कालों का चित्रण किया जब वह अपने पूर्ण विकास पर थी। सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए उन्होंने उपन्यासों को माध्यम बनाया। वर्तमान जीवन की विकृति उनके उपन्यासों में भली-भाँति चित्रित की गई है। आन्तरिक भावनाओं और मानसिक उथल-पुथल की छोटी-छोटी लहरों को उन्होंने अपनी कहानियों में प्रदर्शित किया। भावात्मक कहानी उनकी अपनी वस्तु थी।

अपने निबंधों में उन्होंने साहित्यिक विषयों के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण का निरूपण किया। इस प्रकार नाटककार, कथाकार, निबन्धकार इन सभी रूपों में उनका विशिष्ट महत्त्व है। उन्होंने अपनी कविता द्वारा छायावाद को सशक्त एवं सम्पन्न बनाया है।

प्रसाद के काव्य की मूल विशेषताओं को जानने से पहले उनकी कृतियों से अवगत होना अपेक्षित है। अब तक की प्रकाशित रचनाओं का क्रम इस प्रकार है—चित्राधार, काननकुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्त्व, प्रेम-पथिक, झरना, आँसू, लहर, कामायनी तथा गीत। इनके मूल्यांकन से ही प्रसाद के काव्य-विकास का स्वरूप स्पष्ट हो सकता है। प्रसाद की प्रारंभिक रचनाओं का संग्रह 'चित्राधार' में उपलब्ध होता है। इसमें उनकी बीस वर्ष तक की अवस्था की लिखी हुई कविताओं का संग्रह है। यह केवल आंशिक रूप में ही सत्य है। इसका प्रथम संस्करण सन १९१९ में प्रकाशित हुआ था। इसमें प्रसाद की दस पुस्तकों का संकलन था। इसका दूसरा संस्करण नवीन रूप में निकला जो संक्षिप्त था। अब यही संस्करण उपलब्ध है। इसमें कुछ तो चम्पू, नाट्य-कथाएँ तथा प्रबन्ध हैं और कुछ कविताएँ हैं जिन्हें आख्यानक-काव्य तथा मुक्तक-काव्य—इन दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। इनकी भाषा ब्रज है। इस प्रकार प्रसाद ने अपने काव्य-जीवन का श्रीगणेश खड़ी-बोली की अपेक्षा ब्रज-भाषा में लिख कर किया था। आख्यानक कविताओं की संख्या तीन है और मुक्तक कविताओं की संख्या साठ से अधिक है। आख्यानक कविताओं में अयोध्या का उद्धार, वन-मिलन तथा प्रेम-राज्य नामक रचनाएँ आती हैं। इनके विषय भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध हैं जिससे कवि का इस संस्कृति के प्रति घनिष्ठ अनुराग स्पष्ट हो जाता है। 'अयोध्या का उद्धार' में राज्य के विभक्त होने के कारण अयोध्या को श्रीविहीन रूप में चित्रित किया गया है; 'वन-मिलन' में शकुन्तला, दुष्यन्त तथा मेनका का वन में मिलन अंकित किया गया है;

'प्रेम-राज्य' में ऐतिहासिक घटना के आधार पर प्रेम के राज्य को राजा के पुत्र चन्द्रकेतु और सेनापति की पुत्री ललिता के प्रणय द्वारा स्थापित किया गया है। इस रचना के अन्त में कवि प्रेम तथा कल्याण का संदेश देता है। इन आख्यानों के विश्लेषण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद अभी अपने पथ को प्रशस्त करने में संलग्न हैं, अपने दृष्टिकोण की खोज में व्यस्त हैं। वह मूलतः प्रेम तथा सौन्दर्य के गायक हैं और अपने स्वर को सम्पन्न बनाने के लिये साधना में लीन हैं। इस काव्य-संग्रह में मुक्तक रचनाओं को 'पराग' तथा 'मकरन्द-बिन्दु'—इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है। 'पराग' में प्रकृति को आलम्बन मान कर उसमें कहीं-कहीं मानवीय भावों का आरोप भी किया गया है और 'मकरन्द-बिन्दु' में कविताओं तथा पदों का संग्रह है। 'चित्राधार' का महत्त्व प्रसाद के प्रयोगात्मक पक्ष को स्पष्ट करने में लक्षित होता है। इसमें संकलित रचनाएँ उस काल की लगभग सभी शैलियों का उद्घाटन करती हैं। एक ओर इनमें परम्परा का पालन है तो दूसरी ओर इनमें नवीनता के प्रति आग्रह है। प्रसाद संस्कृत, अंग्रेजी, रीतिकालीन तथा भारतेन्दु-कालीन प्रकृति-चित्रण से परिचित हो चुके थे। उन्होंने एक ओर अलंकार-प्रियता तथा इतिवृत्तात्मकता का परिचय दिया है तो दूसरी ओर सांकेतिक अभिव्यक्ति को अपनाया है। इस प्रकार संक्रांतिकाल के कवि होने के परिणामस्वरूप वह परम्परा एवं प्रगति दोनों को अपनाते हुए अपने काव्य-पथ को प्रशस्त करते हैं। उनके प्रकृति-चित्रण में दो मूल भाव लक्षित होते हैं—रति और जिज्ञासा। रति को उनके हृदय-पक्ष से और जिज्ञासा को उनके बुद्धि-पक्ष से सम्बद्ध किया जाता है। इन दोनों भावों में प्रमुखता सौन्दर्य-रति की है। कवि 'सांध्यतारा' में प्रकृति की सुषमा पर मुग्ध हो कर कहता है—

तारा तुम तारा अति सुन्दर लखात।
तुम्हें देखिबे को नहिं आनन्द समात॥

इस प्रकार विसर्जन नामक रचना में कवि प्रश्न-शैली द्वारा अपनी जिज्ञासा-भावना व्यक्त करता हुआ भी सौन्दर्य-रति को ही अभिव्यक्ति देता है—

तारागन क्यों गगन में
हंसत मन्दहिं मन्द।
क्यों मलिन कर कांति
ह्वैके धावते हौ चन्द।

इन पंक्तियों में एक ओर रीतिकालीन शृंगार का परिष्कार उपलब्ध होता है और दूसरी ओर द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता का बहिष्कार दृष्टिगत होता है। इनके स्थान पर छायावादी संकेतात्मकता तथा लाक्षणिकता को अपनाया गया है। दूसरे खण्ड 'मकरन्द-बिन्दु' की कविताएँ रीतिकालीन काव्य-साँचे में ढली हुई हैं। इस प्रकार 'चित्राधार' में दोनों प्रकार की कविताएँ संकलित हैं—आख्यान तथा मुक्तक, रीतिकालीन तथा छायावादी, इतिवृत्तात्मक तथा संकेतात्मक। इनमें ब्रज-भाषा तथा खड़ी-बोली का भी सम्मिश्रण है। इसलिये 'चित्राधार' की सीमाओं तथा उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हुए इस परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि इसका महत्त्व काव्यात्मक न हो कर प्रयोगात्मक है। इसमें कामायनीकार अपने शिशु रूप में लक्षित है जिसका विकास अभी अपेक्षित है, जिसमें प्रतिभा बीज रूप में झलकती है। इसमें आख्यान तथा मुक्तक का स्वतंत्र अस्तित्व 'कामायनी' में आकर एकरूप हो जाता है। इस भाँति 'चित्राधार' प्रसाद के भावी विकास का द्योतक है।

प्रसाद की खड़ी-बोली की रचनाओं का प्रथम संग्रह 'कानन-कुसुम' में उपलब्ध होता है। उनके काव्य के विकास तथा इतिहास के क्रम में इसे दूसरा स्थान दिया गया है जो वस्तुतः भ्रामक है। इनके प्रथम और द्वितीय संग्रहों की कविताओं का रचनाकाल पाँच वर्षों के लिये एक समान है। कवि की खड़ी बोली की प्रथम ज्ञात कविता का नाम 'चित्र' है

जिसका 'इन्दु' में १९१० में प्रकाशन हुआ था। इस काव्य-संग्रह के प्रथम संस्करण में ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों की रचनाएँ थीं। इसके अतिरिक्त शैली की दृष्टि से भी इस संकलन में रीतिकालीन, भारतेन्दु-कालीन, द्विवेदीकालीन तथा छायावादी कविताएँ एक साथ उपलब्ध थीं। 'कानन-कुसुम' का दूसरा संस्करण सन १९१८ में प्रकाशित हुआ जो प्रथम संस्करण से भिन्न था और जो 'चित्राधार' के अन्तर्गत था। इसका तीसरा संस्करण जो अब उपलब्ध है स्वतंत्र रूप में सन १९२९ में प्रकाशित हुआ। इसमें केवल खड़ीबोली की रचनाओं को उनके संशोधन तथा परिष्कार के साथ संकलित किया गया। इसकी कविताएँ आख्यानक, प्रकृति-विषयक, प्रेम-विषयक तथा भक्ति-विषयक हैं। कुछ रचनाएँ सामयिक तथा महापुरुषों की प्रशस्तियाँ हैं। इस प्रकार कवि ने इसमें रंगीन और सादे, गन्धयुक्त और गन्धविहीन, 'मकरन्द से भरे हुए और पराग से लिपटे हुए' सभी प्रकार के कुसुमों का संकलन किया है। आख्यानक कविताओं की रचना में कवि का नवीन दृष्टिकोण झलकता है। कथा के निरूपण में इत्तिवृत्तात्मकता के स्थान पर सांकेतिकता है जो इन आख्यानकों को द्विवेदीकालीन आख्यानकों के स्वरूप से अलग कर देती है और छायावादी निरूपण के निकट ला देती है। प्रकृति-चित्रण दो रूपों में हुआ है—एक पृष्ठभूमि के रूप में और दूसरा स्वतंत्र रूप में। प्रकृति-चित्रण जहाँ पृष्ठभूमि के रूप में हुआ है, जैसे चित्रकूट आदि में, वहाँ परम्परा का पालन है, परन्तु उसका चित्रण जहाँ स्वतंत्र रूप में हुआ है वहाँ रहस्य का पुट है। इस चित्रण में कवि प्रकृति में उस सत्ता की खोज में है जो जीवन और जगत को संचालित करती है। इसका आभास 'सरोज', 'रजनीगन्धा' आदि कविताओं में मिलता है। भक्ति-विषयक कविताओं में रहस्य की अभिव्यक्ति तथा उपदेश की गंध है। इनमें तन्मयता का अभाव है, तुकबन्दी की बौछाड़ है। खड़ीबोली का स्वरूप अव्यस्थित है, व्याकरण-विरुद्ध है। इस प्रकार 'कानन कुसुम' का काव्य वस्तु

छायावादी काव्य का विकसित रूप 'प्रेमपथिक' में झलकता है। इसके दो रूप आज उपलब्ध हैं—एक ब्रज भाषा का जो पुराना है और दूसरा खड़ीबोली का जो नया है। इसके कुछ भाग ब्रजभाषा में सन १९०९ में प्रकाशित हुए थे। खड़ी बोली में इसकी भूमिका सन १९१३ में लिखी गई है। प्रेम-पथिक का आधार एक व्यापक विषय है जिसका निरूपण अनेक भाषाओं में उपलब्ध होता है। किसी के प्रेम में योगी होना और प्रकृति के एकांत वातावरण में कुटी बना कर जीवन-यापन करना कथानक का आधार है। इस रचना की प्रेरणा कवि ने श्रीधर पाठक के 'एकान्तवासी योगी' से प्राप्त की होगी और जो अंग्रेजी के कवि गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का हिन्दी रूपान्तर है। प्रसाद इस रचना से परिचित थे। इन दोनों रचनाओं में साम्य तथा वैषम्य भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोणों में अन्तर का परिणाम है। भारतीय संस्करण में प्रेम के स्वरूप का निरूपण करते हुए कवि ने कल्पना की है कि किस प्रकार दो मित्रों के पुत्र-पुत्री में परस्पर प्रेम है, किस प्रकार मरने से पहले एक अपना पुत्र मित्र को सौंप जाता है, किस प्रकार वह अपनी पुत्री का विवाह एक दूसरे युवक से कर देता है, कैसे पहला युवक प्रेम में विफल होकर तपस्वी बन जाता है। संयोग-वश एक कुटी में उसकी एक तापसी-बाला से भेंट होती है जो उसकी प्रेमिका निकलती है। इस काल में वह भी विधवा हो चुकी थी। उसका त्राण एक वृद्ध ने किया और कुटी उसका दान थी। इस तरह की कथा 'हरमिट' में भी उपलब्ध होती है। इसमें एडविन वैरागी है और अंजलैना प्रेम-पथिक है जिसने पुरुष का रूप धारण किया हुआ है। यह अन्तर प्रधान न होकर गौण है, सूक्ष्म न होकर स्थूल है, मौलिक न होकर सामयिक है। 'हरमिट' का अन्त सुखान्तकी है और 'प्रेम-पथिक' का प्रसादान्तकी है। इस में किशोर का कथन है कि मानवीय प्रेम को सीमित न कर व्यापक रूप देना अभीष्ट है। वह अपना 'हृदय' चमेली के 'हृदय' से मिला कर, जीवन में सरिता

बनकर सागर में लीन होने के लिये अधीर है। इसके विपरीत 'हरमिट' में एडविन और अंजलैना अन्त में एक-दूसरे के बाहुपाश में आबद्ध हैं। इनमें प्रेम का पाश्चात्य निरूपण है। प्रसाद के किशोर और चमेली हृदय से हृदय मिला कर भगवान के चरणों में अर्पित हैं। भारतीय दृष्टि से विफल प्रेम की परिणति विश्वात्मा के प्रति प्रायः समर्पण में दिखाई जाती है। इस प्रकार इस रचना में भारतीय कवि की जीवन-दृष्टि का विकास पाया जाता है। जीवन के मूल तत्त्वों पर विचार करते हुए कवि ने प्रेम और सौन्दर्य का निरूपण कर जीवन और जगत में समन्वय स्थापित किया है। यही प्रसाद का 'इदं में अहं का समन्वय' है। विश्व के अणु-अणु, कण-कण में सौन्दर्य है। मानव उस सौन्दर्य-सागर की बूँद मात्र है। इसलिये मानव तथा प्रकृति दोनों को उसमें लीन होना है।

आत्मसमर्पण करो विश्वात्मा को पुलकित हो कर
प्रकृति मिला दो विश्वप्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है।

इस आदर्शवादी प्रेम के प्रतिपादन में दो प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। एक ओर प्रसाद रीतिकालीन रूढ़िबद्ध प्रेम का विरोध करते हैं और दूसरी ओर वह द्विवेदीकालीन प्रेम के इतिवृत्तात्मक चित्रण का परित्याग करते हैं। इस परिस्थिति में कवि के लिये इतना ही संभव था कि वह प्रेम के आदर्शवादी स्वरूप का निरूपण कर सके। यह स्वरूप पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी स्वरूप से किंचित भिन्न है। प्रेम का पाश्चात्य स्वरूप मानवीय एवं आवेगमय है, परन्तु प्रसाद के प्रेम-निरूपण में शुद्ध सात्विकता है जो शैवदर्शन तथा सूफ़ी भावना से प्रभावित है। भारतीय परिवेश में अभी प्रेम की स्वच्छन्द स्वरूप में अभिव्यक्ति स्वस्थ नहीं स्वीकार की जाती थी। इसलिये 'प्रेमपथिक' में प्रसाद की आदर्शवादी प्रेम-कल्पना अन्त में रहस्यमयता का भी सृजन करती है—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं है।

प्रसाद ने प्रेम तथा काम में अन्तर को स्पष्ट करते हुए अपने दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय दिया है—'यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है और प्रेम से यह शब्द अधिक व्यापक भी है।'[1] इस प्रकार वह प्रेम को काम के व्यापक रूप में निरूपित करने के पक्ष में जान पड़ते हैं। यह काम या प्रेम ही ईश्वर की अभिव्यक्ति का सब से बड़ा व्यापक रूप है। इसलिये प्राचीन भारतीय साहित्य में काम की एक देवता के रूप में पूजा तथा अभिव्यक्ति होती रही है। इस रचना में कवि वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से छायावादी काव्य के अत्यन्त निकट आ चुका है। इसका छन्द-विधान अतुकान्त एवं स्वच्छन्द है, इसका अलंकार-विधान लाक्षणिक है, इसका वस्तुपक्ष प्रेम, सौन्दर्य तथा आनन्द के आदर्शवादी स्वरूप से रूपायित है। यह दृष्टिकोण कवि की व्यक्तिगत अनुभूति तथा गम्भीर चिन्तन का परिणाम है। प्रसाद ने वस्तु एवं शैली की दृष्टि से अपना काव्य-पथ प्रशस्त कर लिया है जो उन्हें 'कामायनी' तक पहुँचाने की क्षमता रखता है।

इस विकास का स्पष्ट परिचय 'झरना' में आकर उपलब्ध होता है जिसमें लगभग १९१४ से १९१७ तक की कविताएँ संकलित हैं और जिसका स्वतंत्र रूप में प्रकाशन १९२८ में हुआ था।[2] आज के उपलब्ध संस्करण की कविताओं का रचना-काल १९१३ से १९२८ तक फैला हुआ है।[3] इस गीतिकाव्य में कवि ने नया मोड़ लिया है। 'प्रेमपथिक' तक भाषा, छन्द तथा भाव की दृष्टि से उनका प्रयोग-काल चलता रहा है। उन्होंने अपनी दिशा को आज निश्चित कर लिया है। इसमें श्रेष्ठ और साधारण दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। इसका कारण यह है कि कवि ने

---

१. प्रसाद : काव्य और कला, पृ० ४७

२. प्रेमशंकर : प्रसाद का काव्य, पृ० २०३

३. भोलानाथ तिवारी : कवि प्रसाद, पृ० ७०

इसे यौवन-काल में लिखा है जिस समय मन स्थिर एवं संयत नहीं होता। यौवन में उठने वाली भावनाएँ व्यक्ति के मानस को मथ डालती हैं। उस समय संयम और असंयम का युद्ध होता है, वासनाएँ मन में आती हैं और कवि उनसे ऊपर उठना चाहता है, लेकिन उसका मन बराबर चंचल बना रहता है।[1] इतना होते हुए भी कवि में आत्म-प्रकाशन की इच्छा बड़ी तीव्र है। इस आत्म-प्रकाशन के लिए उसने अपनी भावना को उन्मुक्त होकर उड़ान भरने दिया है। वह प्रकृति के प्रांगण में विहार करती रही है और मानवीय भावनाओं को वाणी देती रही है। छायावाद का वास्तविक आरम्भ प्रायः इसी कृति से माना जाता है। इसमें भाषा का आडम्बर नहीं है, केवल भाव-प्रकाशन पर अधिक बल दिया गया है, और वह भी सूक्ष्म पर, स्थूल पर नहीं। किरण, बिखरा हुआ प्रेम, विषाद, बालू की बेल आदि कविताएँ छायावादी काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट मानी जाती हैं। किरण को कवि ने नववधू के रूप में चित्रित किया है और उसे अलंकारमयी भाषा में प्रकट किया है, लेकिन वह अपने में इतनी पूर्ण रचना है कि स्वयं उसका सौन्दर्य उसके भीतर नहीं समा पाता। कवि को किरण किसी के अनुराग में रँगी दिखाई देती है। यह धरा पर झुकी प्रार्थना के सदृश और मधुर मुरली की भाँति मौन ही नहीं है, अज्ञात विश्व की विकल वेदना-दूती के समान भी है और स्वर्ग के सूत्र के समान स्वर्ग-लोक और भूलोक को मिलाती है।[2] 'विषाद'

---

१. करता हूँ जब कभी प्रार्थना
कर संकलित विचार,
तभी कामना के नूपर की,
हो जाती झंकार।

२. धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश
मधुर मुरली सी फिर भी मौन

प्रतीकात्मक रचना है, जिसमें शून्यता, शुष्कता आँसू, बेचैनी को व्यक्त करते हुए विषाद का चित्र अंकित है। कवि को विषाद प्रकृति के करुण काव्य के समान वृक्ष-पत्र की मधु छाया में अमृतमयी नश्वर काया में लिपटा हुआ अचल पड़ा दिखाई देता है और कवि चाहता है कोई उसे छेड़े नहीं। कवि ने इस रचना में अपने ही हृदय की झलक दी है। 'झरना' के सम्बन्ध में एक आलोचक ने लिखा है कि 'झरना' स्पष्टतः कवि के आरंभिक यौवन काल की रचना है, जब निराशा में भी एक आशा का और मन में एक पीड़ा का मादक आनन्द है। यहाँ यौवन आँखों के जल से आशा की क्यारियाँ सींचता है कि कभी प्रेम की मालती जीवन-कुंज पर खिलेगी। यहाँ पीड़ा में यौवन का स्वर है। कवि के हृदय में एक ज्वाला है, पर वह उसे कहाँ ले जायेगी इसका ठीक निश्चय वह नहीं कर पाता। 'झरना' में अभिव्यक्ति की निराली छटा है और सूक्ष्म भावनाओं के विविध रूप तथा आशा-निराशा, हर्ष-शोक, आसक्ति-विरक्ति की व्यक्तिगत अनुभूति है। इसके गीतों में तरुण कवि के भावुक जीवन की झलक है। इससे पहले कवि की दृष्टि आख्यानक रचनाओं पर अधिक थी, परन्तु 'झरना' में उसका उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति है। इसके गीतों में प्रेम-परक व्यक्तिगत भावनाओं का स्वर प्रमुख है। इसलिये 'झरना' को 'प्रेम का झरना' की संज्ञा देना अनुपयुक्त न होगा। प्रेम के जिस आदर्शवादी स्वरूप का

किसी अज्ञात विश्व की विकल
वेदना दूती-सी तुम कौन,
स्वर्ग के सूत्र सदृश, तुम कौन
मिलाती हो उससे भूलोक
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध,
बना दोगी क्या विरज विशोक?

निरूपण प्रसाद ने 'प्रेम-पथिक' में किया था उसके स्वानुभूत तथा मांसल स्वरूप की अभिव्यंजना 'झरना' में उपलब्ध होती है। इसमें प्रेम का आधार लौकिक है; कवि किसी के प्रेम में आबद्ध है। इस प्रेम का आलम्बन अभी तक उनके अभिन्न मित्रों तथा आलोचकों की आँखों से ओझल रहा है। कवि अपनी प्रिया पर इतना मुग्ध है कि वह स्वयं को उस पर निछावर कर देता है—

हृदय ही तुम्हें दान कर दिया
\+ + +
तुम्हारा कहो न अब क्या रहा?
तुम्हारा सब कब का हो रहा।

इस आत्मसर्पण के उपरान्त उसका स्वप्न टूट जाता है। उसके जीवन में अतीत की सुखद स्मृतियाँ ही शेष बच रही हैं।[1] अब उसे प्रियतम प्रकृति में अणु-अणु, कण-कण में झलकता दिखाई देता है। जहाँ 'प्रेम-पथिक' में प्रेम की विफलता पर कवि ने आध्यात्मिक आवरण डाल दिया है, वहाँ वह 'झरना' में हृदय की निराशा को प्रकृति के सौन्दर्य से ढाँप लेता है, अपनी आन्तरिक वेदना को शांत करने के लिए चहुँ ओर प्रसारित करता है। प्रकृति उसके प्रियतम का शृंगार करती है और उसका आभास देती है। इस प्रकार 'झरना' में व्यक्त प्रेम का रूप अधिक स्वाभाविक, सजीव तथा मांसल होते भी अन्ततः प्रकृतिमय तथा छायावादी बन जाता है। इस कारण 'झरना' में पहली बार रहस्यवाद का अस्पष्ट स्वर ध्वनित होता पाया जाता है। अन्त में कवि ने

---

१. किसी हृदय का यह विषाद है
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है। झरना पृ० १७

प्रेम के लौकिक आधार को अलौकिक स्वरूप देकर छाया-वादी काव्य-शैली का ही अनुसरण किया है।

इस प्रकार की अभिव्यक्ति 'आँसू' में भी मिलती है जिसका पहला संस्करण लौकिक आधार पर था, परन्तु जिसके दूसरे संस्करण को कवि ने अलौकिक धरातल दिया है। इसमें अनुभूति की तीव्रता, जिसका संकेतमात्र 'झरना' में था, नई उद्भावनाओं के साथ मिलती है। इस काव्य की विशेषता उसके आत्म-परक होने में है। शुद्ध विप्रलंभ शृंगार का यह अनूठा काव्य है, जिसमें आँसू के माध्यम से कवि ने अपनी वेदना को व्यक्त किया है। इसमें 'प्रेम-पथिक' की आदर्शमयी प्रेम-व्याख्या नहीं है। 'झरना' में कवि ने विफल प्रणय का प्रसार किया था और स्वयं को उसमें डुबो दिया था। वही स्मृति[1] कवि को 'आँसू' लिखने के लिए प्रेरित करती है। यह कवि ने विवश होकर लिखा है और विवश होने का अर्थ है कि कवि चाहता नहीं था, परन्तु फिर भी उसे लिखना पड़ा है। जो व्यथा प्रेयसी की ओर से विरह के रूप में उसे मिली थी और जो दुःख अतीत वैभव के भग्नावशेष के लिए उसे था, वही व्यथा, वही दुःख 'आँसू' में उमड़ पड़ा है। वह स्वतः उमड़ा है, कवि को उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ा। प्रसाद की इस कृति ने हिन्दी कविता में युगान्तर उपस्थित कर दिया। इसके छन्द का नाम ही 'आँसू' छन्द रखा गया जिसका अनुकरण भी उस काल में बहुत हुआ। इसमें प्रसाद ने मानवीय जीवन की वेदना को आह और आँसुओ में बाँध दिया है। यह आध्यात्मिक या रहस्यवादी कविता नहीं

---

१. जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन में आँसू बन कर
वह आज बरसने आई।

है। कहीं-कहीं प्रसाद ने अपने प्रेमी का विराट रूप में प्राकृतिक उपकरणों के साथ जो चित्रण किया है उसके आधार पर इसे अलौकिक कहा जाता है। यह प्रसाद के लौकिक प्रेम की वियोगात्मक अभिव्यक्ति है, जिसे कवि ने कला के आवरण में बड़ी कुशलता से सजा कर रख दिया है। प्रसाद ने स्पष्ट ही अपने यौवन में किसी से प्रेम किया था, जिसके वियोग की व्यथा में उनके हृदय का करुण क्रन्दन 'आँसू' में साकार हो गया है।[1] कवि ने निःसंकोच भाव से विलासी जीवन का वैभव दिखा कर उसके अभाव में आँसू बहाए हैं और अंत में जीवन की वास्तविकता से समझौता कर लिया है। यही 'आँसू' की मूल भावना है। कवि के जीवन में शिशु-मुख पर घूँघट डाले और आँचल में दीप छिपाये कोई कौतूहल-सा आया था। उनके सौन्दर्य पर कवि मुग्ध हो गया था। उसने परिरम्भ कुम्भ की मदिरा पान की थी, निश्वास मलय के झोंके खाये थे और मुख चन्द्र की चाँदनी के जल से मुख धोकर प्रातःकाल नेत्रोन्मीलन किया था।[2] वह कवि के जीवन में मादकता की भाँति आया था और संज्ञा की भाँति चला गया।[3] उसी के लिए कवि को इतनी पीड़ा है कि वह अपने को रोक नहीं पाता और उसके हृदय में रह-रह कर उस गत वैभव की स्मृति जाग उठती है। उसके हृदय में

---

१. घन में सुन्दर बिजली-सी, बिजली में चपल चमक-सी
आँखों में काली पुतली-सी, पुतली में श्याम झलक सी
प्रतिमा में सजीवता-सी, बस गई सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में।

२. परिम्भ कुम्भ की मदिरा, निश्वास-मलय के झोंके
मुख-चन्द्र चाँदनी जल से, मैं उठता था मुख धोके।

३. मादकता-से आए वे, संज्ञा से चले गए थे।

आकाश में नक्षत्रों की भाँति स्मृतियों की बस्ती बस गई है।[४] कवि इन आँसुओं को व्यापकता प्रदान करता है और वह चाहता है कि उसके व्यक्तिगत आँसू विश्व को भी सरस कर दें और उसके हृदय की ज्वाला विश्व को प्रकाश दे दे।[५]

इस प्रकार 'आँसू' एक ऐसा स्मृति-काव्य है, जिसमें विरह व्यक्ति के हृदय से निस्सृत हो कर विश्व-मानव के हृदय को छूने की ओर उन्मुख है। भौतिक-सौन्दर्य की ओर उसका खिंचाव है और उसके पश्चात उसमें निराशा के कारण जो तीव्रता आ गई है वह तीव्रता कहीं-कहीं आध्यात्मिक आभास भी देने लगती है। परन्तु उसमें लौकिकता का स्वर ही प्रमुख है। 'आँसू' से ध्वनित होता है कि प्रसाद मूलतः प्रेम तथा सौन्दर्य के कवि हैं और वह मानवीय भावनाओं को ही चित्रित करते हैं। प्रकृति भी यदि चित्रित होती है तो केवल उन मानवीय भावनाओं की सफल अभिव्यक्ति के लिए ही होती है। प्रसाद की लौकिकता भी अलौकिकता से अधिक सुन्दर है क्योंकि उसमें संकीर्णता या अश्लीलता का समावेश नहीं है। इस विरह-काव्य, स्मृति-काव्य अथवा गीति-काव्य का मूल्यांकन करने के लिये इसके भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष का विवेचन अपेक्षित है। इसके भाव-पक्ष में प्रेम तथा वेदना की अनुभूति है, नारी तथा प्रकृति-सौन्दर्य की छटा है, प्रेम तथा वेदना के स्वरूप पर गम्भीर चिन्तन है, व्यक्तिगत वेदना को व्यापक तथा मंगलमय रूप देने की कामना है, नियतिवाद का निरूपण है और इसके कला-पक्ष में गीति की सृष्टि है, सूक्ष्म प्रतीक-विधान है, लाक्षणिक तथा संकेतात्मक

---

४. बस गई एक बस्ती है, स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र लोक फैला है, जैसे इस नील निलय में।

५. सब का निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन सा, आँसू इस विश्व-सदन में।

भाषा है, आँसू छन्द की रचना है, अनूठा कल्पना-विलास है तथा चित्रात्मक शब्द-चयन है। वेदना की अभिव्यक्ति 'आँसू' का प्राण है। कवि प्रेयसी के रूप पर रीझ-रीझ उठता है, एक विरही अथवा वियोगी के समान सिसक रहा है। वह अतीत की मधुर स्मृतियों के सजीव चित्रण द्वारा अपनी घनीभूत वेदना को अभिव्यक्ति देता है। वह स्वीकार करता है कि प्रेम में उसे विफलता का मुख देखना पड़ा है—

जल उठा स्नेह, दीपक-सा
नवनीत हृदय था मेरा
अब शेष धूम रेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा।

इस अन्धकार में उलझ कर रह जाना तो एक सामान्य व्यक्ति की जीवन-स्थिति हो सकती है, परन्तु प्रसाद के लिये यह स्थिति जड़ है। वह इससे उलझ कर बाहर निकलना चाहता है, अपनी व्यक्तिगत वेदना को समष्टिगत रूप देना चाहता है। वेदना की अनुभूति शाश्वत है, परन्तु इसकी अभिव्यक्ति अनेक रूपों में उपलब्ध होती है। पंत ने असफल प्रेम की अभिव्यक्ति आँसू की बालिका तथा 'ग्रन्थि' में कर उसका समाधान सुख-दुख के मधुर मिलन में पाया है; महादेवी ने अतृप्त प्रेम की अभिव्यक्ति अपने समस्त गीति-काव्य में कर वेदना को वरदान के रूप में स्वीकार किया है; निराला ने व्यक्तिगत वेदना को समष्टिगत करुणा में रूपांतरित किया है। बौद्ध-दर्शन में वेदना की समस्या का समाधान विरक्ति की भावना में उपलब्ध होता है, सांख्य दर्शन में यह मायावाद बन कर आता है, सूफी इसका समाहार अलौकिक शक्ति में खोजता है, अद्वैतवादी इसका समाधान जीवन की अस्थिरता में पा लेता है। प्रसाद का वेदना-दर्शन इन आध्यात्मिक तथा दार्शनिक समाधानों से भिन्न कोटि का है। इसमें वैराग्य की छाया नहीं है। प्रसाद की जीवन-दृष्टि शैवमत के आनन्दवाद से अनुप्राणित है। इसके

परिणामस्वरूप वह सुख-दुख को नियति का खेल स्वीकार करते हैं। इसलिये वह वेदना को वरदान के रूप में ग्रहण करते हैं। वेदना के पंक में ही आनन्द का कमल विकसित होता है। प्रसाद का नियतिवाद निश्चय ही भाग्यवाद नहीं है। उनके प्रेम का धरातल लौकिक तथा मानवीय है; उसकी परिणति भी लौकिक तथा मंगलमय है—

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
सुख-दुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

इस प्रकार 'आँसू' में वेदना का व्यक्तिगत स्वरूप व्यापक रूप धारण करता है। इसके आरम्भ में हृदय रो रहा है और इसके अन्त में बुद्धि सान्त्वना दे रही है। निराशा से आरम्भ होकर 'आँसू' का अन्त आशा तथा मंगल-कामना में होता है। रूप-चित्रण में कवि ने प्रकृति के उपकरणों को माध्यम बनाया है। विलास तथा वासना का चित्रण सजीव रूप में हुआ है।

शशि मुख पर घूँघट डाले, आँचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में कौतूहल-से तुम आए।

परन्तु प्रसाद की नारी वासना का प्रतीक तथा उद्दीपन का साधन बन कर नहीं रह जाती। कवि ने नारी-सौन्दर्य को उदात्त गुणों से युक्त करने का प्रयत्न किया है। 'आँसू' की नारी 'कामायनी' की श्रद्धा के समान शक्ति-रूपा तो नहीं पर वह अपने प्रेमिका-रूप में मांसल अवश्य है। इसके अतिरिक्त वह उनके कवि और काव्य की प्रेरणा है। इस रचना का भाव-पक्ष तथा कलापक्ष छायावादी काव्य की विशेषताओं से युक्त है। इसमें विरहानुभूति का स्वरूप मूलतः व्यक्तिगत है जिसे युग-चेतना के कारण सामान्य रूप देने का प्रयास किया गया है। कवि की प्रेमानुभूति इतनी स्वाभाविक है और अभिव्यक्ति इतनी मार्मिक है कि आदर्शवाद तथा

रहस्यवाद के झीने आवरण के डाले जाने पर भी इसमें से वेदना का लौकिक आलम्बन झलकता है और व्यक्तिगत स्वर ध्वनित होता है। इस प्रकार 'आँसू' की परकीया नायिका अनाम होते हुए भी रूप से युक्त है, सामान्य होते हुए भी विशिष्ट है, प्रतीकात्मक होते हुए भी कवि की अपनी प्रेमिका है। प्रसाद की इस जीवन-घटना की उनके सामाजिक, पारिवारिक वातावरण तथा वैयक्तिक संस्कारों के कारण उन्मुक्त अभिव्यक्ति का मिलना कठिन था। इसलिये उन्हें अपनी वेदना की समस्या का समाधान उसके उन्नयन में खोजना पड़ा। इस कारण उनकी घनीभूत वेदना का प्रसार होता है, जीवन की विषमताओं का सामंजस्य नियतिवाद में उपलब्ध होता है। कवि 'आँसू' की वेदना को जो सत्य एवं सुन्दर है शिव का रूप देते हैं। पंत तथा महादेवी ने भी सुख तथा दुख का समन्वय मंगल के रूप में किया है और छायावादी काव्य की यह विशेषता है। प्रसाद, निराला तथा पंत के काव्य में निराशा का अवसान आशा में होता है; परन्तु कालान्तर में व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि के अधिक पुष्ट होने के कारण महादेवी के काव्य में निराशा अथवा वेदना की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक गहन एवं चिर है।

प्रसाद 'लहर' (१९३३) में आकर आशा के स्वर को अधिक स्पष्ट एवं विशद रूप में ध्वनित करते हैं। इसकी पहली कविता 'लहर' में जिसके आधार पर इस संग्रह का नामकरण किया गया है, इस स्वर की प्रतीकात्मक झंकृति है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मत है—'लहर से कवि का अभिप्राय उस आनन्द की लहर से है, जो मनुष्य के मानस में उठा करती है और उसके जीवन को सरस करती रहती है।' कवि का कथन है—

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
इस सूखे तट पर छिटक छहर।
यह खेल खेल ठहर ठहर।

इस प्रकार कवि अपने व्यक्तिगत नीरस जीवन को सरस करने के लिये आनन्द की लहर को ठहराने के लिये पुकारता है। वह आत्म-चिन्तक भी हो गया है और विद्रोही भी। 'अशोक की चिन्ता', 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'प्रलय की छाया' तथा 'अरी वरुणा की शांत कछार', आदि कविताएँ उसके विद्रोही स्वभाव की सूचना देती हैं, जो मुक्त छंद में होने पर भी प्रवाह-पूर्ण हैं और वस्तु की दृष्टि से अतीत इतिहास के उज्ज्वल कणों को समेटे हुए हैं। इतिहास के इन प्रस्तर-खण्डों से खेलने के साथ ही कवि का प्रेम भी स्वर्गीय हो उठा है। अपने गीतों में उसने आत्मा का संगीत भर कर प्रेम की नयी योजना प्रस्तुत की है। आज उस के प्रेम के आलंबन में भी विशदता आ गई है और वह अज्ञात के प्रति किंचित उन्मुख हो गया है। उसने अतीत को आग्रह-पूर्वक चित्रित किया है। 'उस दिन जीवन के पथ में' जो प्रेमी मिला था और यौवन में उसके जीवन में जिस सुन्दर का आगमन हुआ था और जिसकी स्मृति में वह 'आँसू' की माला गूँथ चुका था उसकी स्मृति आज भी गई नहीं है और वह उसकी आँखों के शैशव को अब भी नहीं भूलता।[1] इसमें उसे आलोक का भी पथ मिलता है और वह जीवन में नये प्रभात को जगाता है और विषाद और वेदना से आनन्द और सुख की ओर बढ़ता है।[2] इसके लिए वह संघर्ष से दूर

---

१. तुम्हारी आँखों का बचपन
खेलता था जब अल्हड़ खेल,
अजिर के उर में मेरा कुलेल,
हारता था हँस हँस कर मन,
आह रे वह अतीत जीवन।

२. अब जागो जीवन के प्रभात
वसुधा पर ओस बने बिखरे

ऐसे लोक में जाना चाहता है, जहाँ शांति मिल सके। अपने नाविक से वह याचना करता है कि उसे भुलावा देकर वह उस लोक में ले चले।[1] यद्यपि वह धीरे से पुकार उठता है कि 'मुझको न मिला रे कभी प्यार' तथापि वह प्रेम को नहीं छोड़ना चाहता, प्रत्युत वह तो चाहता है कि वह उसके जीवन और विश्व के कण-कण में व्याप्त हो जाय।[2] इस काव्य-संग्रह में प्रणय-गीतों की संख्या सब से अधिक है, प्रणय की अभिव्यक्ति कभी प्रत्यक्ष रूप में है तो कभी परोक्ष रूप में हुई है। कवि की प्रणयानुभूति अतीत में हो चुकी है; परन्तु उसकी मादकता अब भी शेष है। इसमें प्रेम के उस स्वरूप को निखारा गया है जो दिया जाता है, लिया नहीं जाता। प्रेम के प्रति चार विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं—प्रेम दिया जाता है लिया नहीं जाता; प्रेम लिया जाता है दिया नहीं जाता; प्रेम दिया जाता है और लिया भी जाता है और प्रेम न लिया जाता है और न ही दिया जाता है। अन्तिम स्थिति तो मानवीय न होकर योगीय है।

हिमकन आँसू जो क्षोभ भरे
ऊषा बटोरती अरुण गात
अब जागो जीवन के प्रभात।

१. ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अंबर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

२. मेरी आँखों की पुतली में, तू बन कर प्राण समा जा रे।
जिससे कन-कन में स्पन्दन हो, मन में मलयानिल चंदन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो, वह जीवन गीत सुना जा रे।

प्रसाद की दृष्टि से शुद्ध प्रेम दिया जाता है, परन्तु लिया नहीं जाता।

पागल रे! वह मिलता है कब?
उसको तो देते ही हैं सब।

प्रेम में प्रतिदान नहीं मिलता। कवि अपने व्यक्तिगत प्रेम को समष्टिगत करुणा में रूपांतरित कर देता है। इन प्रणय-गीतों में आन्तरिक अनुभूति के साथ एक व्यापक दृष्टिकोण है जो उनके आगामी काव्य-विकास का द्योतक है। चिन्तनशील कवि 'आँसू' की घटना से प्रेरणा ग्रहण करता है। वह यौवन की आँधी का सामना कर चुका है। उसकी व्यक्तिगत अनुभूति 'कामायनी' के जीवन-दर्शन की ओर उन्मुख होने लगती है। वह अपने क्षितिज को विस्तार देना चाहता है—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ?
इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस जलधि रहे चिर-चुंबित
मेरे क्षितिज उदार बनो।

कवि का विषाद दूर हो चुका है, उसकी विकल वेदना शान्त हो चुकी है, उसका अहं सीमित परिधि से बाहर निकल कर युग को एक नये जागरण का संदेश देना चाहता है जिसकी कल्पना कवि एकान्त में करेगा। इसलिये वह नाविक से भुलावा दे कर एकान्त में ले जाने का निवेदन करता है। वह जीवन के प्रभात का जागरण लाने के लिये गीत गाता है और बीती विभावरी को जागते हुए देखता है। व्यष्टि से समष्टि तक पहुँच कर वह कहता है—

मेरा अनुराग फैलने दो
नभ के अभिनव कलरव में

इस प्रकार 'लहर' की अधिकांश कविताओं में प्रसाद की जीवन-दृष्टि की प्रतिध्वनि है जिसका चरम विकास 'कामायनी' में होता है। कवि के समष्टि-चिन्तन का वास्तविक आधार व्यक्ति-चिन्तन है। उनके समष्टि-

मंगल के मूल में व्यक्ति-हित है जो छायावादी काव्य का मूल स्वर है। प्रसाद 'लहर' की रचनाओं में न तो अन्ततः रहस्यवादी हैं और न ही मूलतः पलायनवादी कहे जा सकते हैं। वह आनन्दवाद में ही युग की समस्याओं तथा जीवन की विषमताओं का समाधान खोजते हैं जिसकी प्रतीकात्मक तथा काव्यात्मक अभिव्यक्ति 'कामायनी' में उपलब्ध होती है। वह सुख-दुख, विरह-मिलन, हृदय-बुद्धि आदि के सामंजस्य द्वारा जीवन में समरसता का संदेश देते हैं जो आनन्दवाद पर आधारित है।

प्रसाद की अन्तिम रचना 'कामायनी' छायावादी काव्य की राजरचना स्वीकार की जाती है। इसका सृजन कर कवि को संतोष हुआ था। इस महाकाव्य तथा रूपक-काव्य के वस्तु-पक्ष तथा कला-पक्ष का निरूपण तथा मूल्यांकन अनेक दृष्टियों से हो चुका है। इसके विविध पक्षों का विवेचन प्रसाद के काव्य-विकास के संदर्भ तथा स्वतंत्र छायावादी काव्य के रूप में अनेक आलोचकों ने विभिन्न दृष्टियों से किया है जिससे आधुनिक हिन्दी काव्य में इसका महत्त्व स्पष्ट एवं स्थापित हो जाता है। इसका प्रथम संस्करण १९३५ में प्रकाशित हुआ था और इसके दूसरे संस्करण में कवि ने कुछ संशोधन किये थे। प्रसाद की समस्त साहित्यिक साधना तथा दार्शनिक चिन्तन का समाहार 'कामायनी' में उपलब्ध होता है। इसमें मानव इतिहास तथा विकास को काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिली है। इसके वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष का विश्लेषण करने से पहले इसके कथानक से अवगत होना अपेक्षित है। इसके कथानक को 'कामायनी' में पन्द्रह सर्गों में विभक्त किया गया है जो इस प्रकार हैं—चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य, आनन्द। आरम्भ में हिमालय के ऊँचे शिखर पर मनु एक शिला पर बैठे दिखाई देते हैं। वह नीचे जल-प्रवाह देख रहे हैं। उनकी आँखें आर्द्र हैं और वह चिन्ता-मग्न हैं। उन्हें देव-सृष्टि के नाश और गत वैभव के ध्वंस की चिन्ता है। वह विभिन्न प्रकार से बुद्धि, मनीषा, मति,

आशा आदि चिन्ता के रूपों में विचरण करते हुए चिन्ता को कोसते हैं। कवि ने देव-सृष्टि के ध्वंस का मनु द्वारा अत्यंत सुन्दर वर्णन कराया है। चिन्ता के बाद स्वाभाविक रूप से आशा का उदय होता है। जल-प्लावन शांत होता है, वनस्पतियाँ वायु में लहराती हैं, हिम पर ऊषा की सुनहली किरणें पड़ती हैं और मनु के मन में भी आशा का उदय होता है। संकट के घिरने की चिन्ता उसके हटने से आशा में बदलती है। मनु को जीवन में ममता और उत्साह की अनुभूति भी सताती है। वह एक गुफा बना कर उसमें रहते हैं, सागर के किनारे अग्निहोत्र करते हुए तप करते हैं और इसके द्वारा देव-संस्कृति को जीवित करने के लिये कटिबद्ध होते हैं। वह यह सोच कर कि मेरी ही तरह और भी कोई सुरक्षित रह सकता है अवशिष्ट अग्निहोत्र कहीं दूर रख आते हैं। उसी अन्न को देख कर कामगोत्रजा कामायनी अथवा श्रद्धा किसी व्यक्ति की उप-स्थिति का अनुमान लगाती है और उसे खोजती हुई आती है। वह मनु के हृदय में जीवन के प्रति श्रद्धा जगाती है। श्रद्धा के बाद काम का उदय होता है—इच्छा प्रबल होती है। मनु के मन में वासना का उदय होता है और मनु देवताओं के गत संस्कारों से जड़ीभूत उस काम की तृप्ति चाहते हैं। काम की भविष्य वाणी होती है जिसमें वह श्रद्धा को अपनी पुत्री बताता है और मनु के मन में उसके प्रति तीव्र आकर्षण उत्पन्न करता है। मनु का मन राग-विराग से भर जाता और उसमें वासना का वेग बढ़ता है। वह श्रद्धा की ओर आकृष्ट हैं और स्वयं को भूल जाते हैं। वह श्रद्धा को अपना बनाना चाहते हैं। वासना के उदय होने पर नारी में लज्जा का आना स्वाभाविक है। श्रद्धा के हृदय में लज्जा का भाव जगता है। यह सर्ग कवि की कल्पना का चरम रूप प्रदर्शित करता है। नारी के इस गुण की महत्ता और आवश्यकता पर कवि ने स्वयं कुछ न कह कर भावना का ही रूप अंकित किया है जिससे समस्त स्वतः स्पष्ट हो जाता है। इसके बाद मनु कर्म में प्रेरित होते हैं और

बलि दी जाती है। श्रद्धा को यह हिंसा रुचिकर नहीं है। वह हिंसा का विरोध करती है और मनु के प्रति विरक्त भी होती है; परन्तु नारी की दुर्बलता है कि वह पुरुष को समर्पण किए बिना रह नहीं सकती। श्रद्धा भी उसका शिकार होती है और वह एक दिन भावी जननी हो जाती है। मनु शिकार में व्यस्त रहते हैं, श्रद्धा भावी शिशु के ध्यान में। वंचक पुरुष इसे उचित नहीं समझता और शिशु के प्रति ईर्ष्यालु होकर समर्पणशील नारी का परित्याग कर चल देता है। सारस्वत प्रदेश में आकर वह अपने को इड़ा (बुद्धि) के प्रति समर्पित करता है। इड़ा उसे बुद्धि-पाश में उलझाती है और उससे नया राज्य-तंत्र बनवाती है, जिसमें मनु श्रद्धा-विहीन होकर अपना मन खो देते हैं और इड़ा पर ही अधिकार करना चाहते हैं। इड़ा इसका विरोध करती है, परन्तु मनु उच्छृंखल हुए बिना नहीं मानते। आपस में विरोध होता है। शिव का प्रलय-नेत्र खुलता है। स्वप्न में श्रद्धा मनु और इड़ा के संघर्ष का दर्शन करती है और वह संघर्ष सच निकलता है। श्रद्धा आती है और मनु को सारस्वत नगर में संज्ञाहीन पाती है। अपने उपचार से मनु को संज्ञा में लाती है। मनु को सहसा संघर्ष से विरक्ति हो जाती है और निर्वेद के अतिरेक में वह यहाँ से भाग निकलते हैं। श्रद्धा अपने पुत्र मानव को इड़ा को सौंप देती है और फिर मनु की खोज करती है। एक झाड़ी में उन्हें पाकर वह मनु को सँभालती है और समझाती है। मनु को यहीं शिव के विराट रूप के दर्शन होते हैं। आगे चल कर जीवन का रहस्य खुलता है और उन्हें इच्छा, क्रिया और ज्ञान के प्रतीक-रूप में तीन गोलक दिखाई देते है। इच्छा का लोक रागारुण है और उसमें स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का क्रिया-कलाप होता है। कर्म का लोक श्यामल है, जहाँ संघर्ष और संग्राम है। ज्ञान का लोक रजत है। श्रद्धा मनु को इन तीनों का रहस्य समझाती है और इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समन्वय पर बल देती है। इनके समन्वय में श्रद्धा की मुस्कान की किरण काम करती है।

इसके आगे मनु आनन्द लोक में पहुँच जाते हैं जहाँ मानव और इड़ा भी आ जाते हैं। उस लोक में जड़ और चेतन मिल कर एक हो जाते हैं और अखण्ड आनन्द के आलोक का सर्वत्र संचार हो जाता है। इसमें ही 'कामायनी' का उद्देश्य एवं संदेश सन्निहित है।

इस महाकाव्य में प्रसाद ने दार्शनिक तत्त्व को अपने काव्य का आधार बनाकर शैव मत के आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है। जीवन की विभेद तथा विषमता भरी राह में समरस होकर चलना ही आनन्दवाद का मूल भाव है। बुद्धि संघर्ष की ओर ले जाती है और श्रद्धा के सहारे ही समरसता प्राप्त की जाती है। यही 'कामायनी' का उद्देश्य है। इसके नायक आदि मानव के उत्थान-पतन का चित्रण करते समय कवि ने उसके द्वारा अपने चिन्तन को व्यक्त किया है। इस चिन्तन के माध्यम से जीवन की समस्याओं का उद्घाटन तथा समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस में मानव जाति के इतिहास तथा भावी विकास का संकेत है। मनु वास्तव में देवताओं के ही वंशज हैं, किन्तु उनके माध्यम से मानवता का विकास होता है। मानवता देवताओं के भोग-विलास का परित्याग कर विकास के पथ पर गतिशील है। मनु के मन में एकान्त के कारण जिन मानसिक वृत्तियों का उदय होता है कवि ने उनका सूक्ष्म विश्लेषण किया है। वह कह उठता है—

कब तक और अकेले कर दो मेरे जीवन बोलो।
किसे सुनाऊँ कथा कहो मत, अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।

जन्म के बाद पहला भाव चिन्ता का जगता है। इसे 'विश्व का प्रथम मनोमय व्यापार' कहा गया है। मानव के समस्त विकास के मूल में चिन्ता का भाव है। चिन्ता का जन्म अभाव से होता है। इसलिये कवि ने चिन्ता को अभाव की 'चपल बालिका' कहा है। कवि का चरम उद्देश्य मानव को चिन्ता से आनन्द तक ले जाना है। इस यात्रा में मानव को जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और जिन

अनुभूतियों को पाना पड़ता है, उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति 'कामायनी' में उपलब्ध होती है। प्रसाद स्वयं इन परिस्थितियों तथा अनुभूतियों से गुज़र चुके हैं। इसलिये वह मानव को चिन्ता से आनन्द तक ले जाने की क्षमता रखते हैं। कवि ने स्वयं चिन्ता की स्थिति को अनुभव किया है और इस स्थिति से निकल कर आशा को पाया है। आशा ही जीवन को गतिशील बनाती है। इसके उपरान्त मानव में विश्वास या श्रद्धा का जन्म होता है। मन के दो पक्ष हैं—हृदय और बुद्धि। हृदय का प्रतीक श्रद्धा और बुद्धि का प्रतीक इड़ा है। मानव मन का प्रतीक मनु है जिसके माध्यम से मन की विविध स्थितियों का उद्‌घाटन होता रहता है। श्रद्धा मनु अथवा मानव मन को क्रियाशील बनाती है। श्रद्धा एक आन्तरिक भाव है जो सब भावों के मूल में है। इसके आन्तरिक स्वरूप को कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

तुमुल कोलाहल कलह में,
मैं हृदय की बात रे मन।

इसका बाह्य रूप भी उतना ही मोहक है जितना इसका आन्तरिक स्वरूप मनहर है। श्रद्धा का शरीर ऐसा था मानो कुसुमों से भरी लता हो, श्याम बादल चाँदनी से लिपटा हो—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।

इस प्रकार श्रद्धा के बहिरंग तथा अन्तरंग में साम्य के चित्रण द्वारा कवि नारी को उसके उदात्त रूप में उद्‌घाटित करता है। श्रद्धा 'आँसू' की नारी का उन्नयन है एवं उदात्तीकरण है। श्रद्धा के साथ ही काम का उदय होता है जिसे कवि व्यापक रूप में ग्रहण करते हैं। स्वयं श्रद्धा काम-गोत्रजा कामायनी है। प्रसाद काम को कामना के रूप में लेते हैं जो

वैदिक मनोविज्ञान से प्रभावित है और मन को आनन्दमय बनाता है। काम की वासना में परिणति स्वाभाविक है। कामना के पंकिल में पड़ कर ही कमल का विकास होता है। नारी और पुरुष वासना के वात-चक्र में फँस कर ही संज्ञा से वंचित होते हैं और एक-दूसरे के बाहुपाश में आबद्ध हो जाते हैं। वासना के उदय होने पर नारी का लज्जा से गड़ जाना भी स्वाभाविक है। यह लज्जा दीनता की भावना का परिणाम न हो कर काम को दीप्त करने का साधन है। वह अपना परिचय इन शब्दों में देती है—

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ
मतवाली सुन्दरता पग में
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ

इस प्रकार लज्जा तथा श्रद्धा के संवाद से कवि ने नारी-मनोविज्ञान को चित्रात्मक अभिव्यक्ति दी है। इस निरूपण में भारतीय नारी का स्वरूप ही स्पष्ट होता है। इसमें छायावादी नारी का गौरव भी ध्वनित होता है। छायावादी कवि का नारी के प्रति दृष्टिकोण यह है—'तुम रूपवती होने के कारण दिव्य हो। इसलिये तुम्हें कल्पना के मन्दिर में स्थापित कर तुम्हारी पूजा होगी।' इसमें प्रसाद की रोमांटिक जीवन-दृष्टि का परिचय मिल जाता है।

इस प्रकार श्रद्धा मनु के जीवन में एक नवल और मादक भाव को जन्म देती है जिससे प्रेरित हो कर वह सोमपान करते और श्रद्धा को भी करवाते हैं। उनकी भौतिक वृत्ति उन्हें पतन की ओर ले जाती है। मनु का जीवन अभाव तथा अतृप्ति की भावनाओं से ग्रस्त है। उसके जीवन का विकास नहीं हो पाया है। उसे अभी लम्बी यात्रा करनी है। इस यात्रा के चरणों में 'कामायनी' का चिन्तन भासित होता है। काम, वासना, कर्म का परिणाम ईर्ष्या में होता है। श्रद्धा को भावी सन्तान की

चिन्ता है, मनु उस पर एकाधिकार चाहते हैं। भावी सन्तान के कारण श्रद्धा का प्रेम विभक्त होने वाला है। इसलिये मनु ईर्ष्या की जलन को सहन नहीं कर पाते और श्रद्धा का परित्याग कर वहाँ से चल देते हैं। मानव मन अपने अभाव की तुष्टि बुद्धि द्वारा करता है। इसलिये मनु का इड़ा के पास पहुँचना स्वाभाविक है। यह भी जीवन की आवश्यक वृत्ति है। इड़ा बुद्धि की प्रतीक है और सारस्वत प्रदेश बौद्धिक विकास एवं भौतिक उत्कर्ष का प्रतीक है। इस भौतिक वैभव से भी मनु का मन शांत नहीं होता। इड़ा की अवतारणा में प्रसाद ने जीवन के बुद्धिपक्ष को निरूपित किया है और इस पक्ष की सीमाओं को भी उद्घाटित किया है। वह मनु को मदिरा पान कराती है और वह इससे तृप्त नहीं हो रहे हैं। मनु का हृदय अब भी रिक्त है। मानव का हृदय बौद्धिक विकास से नहीं भर सकता। मनु उसे अपनी रानी बनाने का संकेत करते हैं। इड़ा मनु के इस भाव से चकित हो उठती है। इड़ा मनु की प्रजा है और प्रजा के लिये मनु का यह भाव शोभा नहीं देता। मनु का कथन है—'तुम प्रजा नहीं, मेरी रानी हो मेरा प्रणय स्वीकार करो'। वह वासना से उत्तेजित होकर इड़ा का आलिंगन करते हैं। भयंकर कोलाहल से दिशाएँ गूँज उठती हैं और शिव का ताण्डव होता है। यह विकराल दृश्य श्रद्धा की आँखें खोल देता है। इसकी कल्पना कथानक को गति देने के लिये की गई है। मनु तथा प्रजा के संघर्ष में आधुनिक युग-चेतना की अभिव्यक्ति है, हिंसा के दुष्परिणामों का चित्रण है। मनु पराजित हैं। सारस्वत नगर में विषाद की कालिमा का संचार होता है; मनु में विरक्ति की भावना जगती है और इड़ा में ग्लानि की। इस मानसिक स्थिति में मनु को पुनः श्रद्धा के रूप में नयी चेतना प्राप्त होती है। वह मनु के लिये स्वाति की बूँद बन कर आती है—

हृदय बन रहा सीपी सा
तुम स्वाति की बूँद बनीं।

मानस शतदल भूल उठा था
तुम उसमें मकरन्द बनीं।

मनु को अपनी भूल पर घना अनुताप था। वह वहाँ से भी भाग गए। श्रद्धा पुनः मनु की खोज में संलग्न थी। उसने मनु को पा लिया। अन्तिम तीन सर्गों में मनु के आध्यात्मिक विकास का चित्रण किया गया है जिसकी अन्तिम स्थिति आनन्द है। कवि ने मानव-मन का विश्लेषण निरूपण तथा विकास आधुनिक मनोविज्ञान तथा भारतीय दर्शन के आधार पर किया है। यह कामायनी का चिन्तन-पक्ष अथवा वस्तु-पक्ष है। इस चिन्तन-पक्ष के मूल में समरसता का सिद्धान्त है जिसका निरूपण 'कामायनी' का लक्ष्य है। समरसता से आशय विरोधी शक्तियों में सामंजस्य की स्थापना है। समरसता के सिद्धान्त का विस्तृत निरूपण शैव-दर्शन में किया गया है। इसके अनुसार सुख-दुख, पाप-पुण्य में मौलिक अन्तर नहीं रह जाता। शिव अमृत और विष दोनों को एक साथ पान करते हैं। प्रसाद की जीवन-दृष्टि इस शैवमत से प्रभावित है। उनकी धारणा है कि समरसता व्यष्टिगत तथा समष्टिगत समस्याओं का समाधान करने की क्षमता रखती है। इसलिये मनु तथा समस्त प्रजा को अखण्ड आनन्द की अनुभूति पाने के लिये सारस्वत प्रदेश का परित्याग कर कैलाश तक जाना पड़ा है जहाँ समरसता का वातावरण है, सामंजस्य की स्थिति है। इस छायावादी समाधान में पलायनवादी वृत्ति का भी विश्लेषण किया गया है। प्रसाद ने व्यक्ति और समाज, प्रकृति और पुरुष, पुरुष और नारी, बुद्धि और हृदय, ज्ञान और कर्म आदि में परस्पर-विरोध को शान्त करने के लिये समरसता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और आनन्दवाद को प्रतिष्ठित किया है। आनन्द की स्थिति मूलतः आत्मगत एवं व्यक्तिगत होती है जिसका निरूपण प्राचीन दार्शनिक ग्रंथों में विभिन्न दृष्टियों से किया गया है। प्रसाद 'कामायनी' में आनन्द की स्थिति को मनु तक सीमित नहीं रखते। उसे

व्यापक रूप देने के लिये समस्त सारस्वत समाज को आनन्द की अनुभूति करवाते हैं। इस प्रकार कवि ने आत्मगत आनन्द का समाजीकरण करते हुए उसे पलायनमूलक रूप दिया है। यदि आनन्द की अनुभूति मनु तक सीमित रखी जाती तो इसका निरूपण अधिक स्वाभाविक होता। मनु मानव-मन के प्रतीक हैं और मनु की आनन्दानुभूति मानव-जाति की आनन्दानुभूति बन सकती थी। इसकी व्यापकता में भी कोई अन्तर न पड़ता। शैवागम के आनन्द की कल्पना निवृत्तिमूलक न होकर प्रवृत्तिमूलक है, वैराग्यमूलक न होकर जीवन को अपनाने के पक्ष में हैं। इसलिये समस्त सारस्वत समाज को अपना प्रदेश छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार 'कामायनी' के चिन्तन-पक्ष अथवा वस्तु-पक्ष का उद्देश्य मनु को चिन्ता की अवस्था से आनन्द की स्थिति तक ले जाना है और इस स्थिति को पाने के लिये मनु तथा मानव को जिन भौतिक तथा मानसिक यातनाओं को सहन करना पड़ता है उनकी रूपकात्मक अभिव्यक्ति इस महाकाव्य में उपलब्ध होती है।

इस वस्तु-पक्ष को व्यक्त करने के लिये प्रसाद ने ऐतिहासिक पात्रों का चयन किया है, प्रतीक-विधान को अपनाया है, लाक्षणिक भाषा का प्रयोग किया है जो कवि के व्यक्तित्व से अनुप्राणित है। कथा तथा चरित्र-चित्रण के अधिकांश का आधार पौराणिक अथवा ऐतिहासिक है। इसमें कल्पना के अंश का योग कवि की निजी देन है। जल-प्लावन की घटना, मनु, श्रद्धा तथा इड़ा के चरित्र, सारस्वत प्रदेश, शिव-ताण्डव, त्रिपुर का उल्लेख आदि का आधार पौराणिक अथवा ऐतिहासिक है। इन घटनाओं तथा चरित्रों को समन्वित रूप देने के लिये दार्शनिक सिद्धान्तों तथा मनोवैज्ञानिक सत्यों को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने के लिये कवि ने कल्पना का आश्रय लिया है। इन कल्पित प्रसंगों में मनु की चिन्ता तथा आशा, श्रद्धा की प्रेरणा काम-वासना तथा लज्जा, मनु की ईर्ष्या, इड़ा के सहयोग से सारस्वत प्रदेश की भौतिक

उन्नति जिसमें आधुनिक वैज्ञानिक विकास का स्वर ध्वनित होता है, श्रद्धा का स्वप्न, मनु की ग्लानि, श्रद्धा का त्याग, इड़ा में परिवर्तन, कैलाश-यात्रा आदि आते हैं। इन ऐतिहासिक, पौराणिक तथा कल्पित प्रसंगों तथा पात्रों को संश्लिष्ट रूप देने में कवि की प्रतिभा का परिचय मिलता है। प्रसाद की दृष्टि में महाकाव्य का साध्य रस की निष्पत्ति है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिये इन चरित्र और व्यक्ति वैचित्र्यों को रस का साधन मानता है, साध्य नहीं। रस में चमत्कार ले आने के लिये इनको बीच का माध्यम सा ही मानता आया है।[1] प्रसाद ने भारतीय दृष्टिकोण को अपनाया है और 'कामायनी' में उनकी दृष्टि रस पर ही रही है। रस के साधारणीकरण में पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं को महत्त्व नहीं दिया जा सकता; चरित्र केवल प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। मनु, श्रद्धा, इड़ा आदि के माध्यम से कवि किसी अन्य लक्ष्य को पाना चाहता है। इसलिये 'कामायनी' में चरित्र-चित्रण अपने सीमित रूप में सफल होते हुए भी प्रतीकात्मक है। मनु मानवता का प्रतीक है। अपने ऐतिहासिक कलेवर में भी वह संघर्षशील व्यक्ति का प्रतीक है। उसका क्रिया-कलाप चिन्ता से ले कर आनन्द तक मानव के अनुरूप है। उसके मन का विश्लेषण तथा उसकी मानसिक वृत्तियों का निरूपण उसे मानवीय रूप देता है। उसकी समस्याएँ आधुनिक मानव की समस्याएँ हैं। इस प्रकार उसमें आधुनिक युग-चेतना भी ध्वनित होती है। श्रद्धा का चरित्रांकन भी प्रतीकात्मक है। कवि ने श्रद्धा के चरित्र को समस्त आंतरिक गुणों से मण्डित कर उसे महती चेतना तथा शक्ति का रूप दिया है। वह प्रसाद की आदर्श नारी की कल्पना है। उसमें तितली का साहस देवसेना का त्याग, अलका की शक्ति, मधूलिका का प्रेम, सालवती का सौन्दर्य एक-साथ घनीभूत हो उठे हैं। वह हृदय-पक्ष की प्रतीक है। वह

---

१ प्रसाद : काव्य और कला, पृ० ५४.

मनु की प्रेयसी, पत्नी, गुरु तथा सहचरी है। उसके चरित्र का स्वरूप उदात्त है। इसी भाँति इड़ा बुद्धि-पक्ष की प्रतीक है। मानव मन के उभय पक्ष का निरूपण श्रद्धा तथा इड़ा के माध्यम से किया गया है। श्रद्धा तथा मनु का पुत्र मानव भी भावी मानव का प्रतीक है। कामायनी को प्रतीकात्मक एवं अन्योक्तिमूलक काव्य होने के कारण रूपक-काव्य की भी संज्ञा दी जाती है। इसमें सांकेतिक अर्थ को व्यंजित करने वाले पात्रों का और घटनाओं एवं प्रसंगों का समावेश भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुआ है। मनु तो स्पष्ट ही मननशील, संकल्प-विकल्प से युक्त मन या चेतना का प्रतीक है। श्रद्धा हार्दिक विश्वास एवं आस्तिकता से युक्त होने के कारण हृदय की प्रतीक है और इड़ा को बुद्धि का प्रतीक स्वीकार किया गया है। इनके अतिरिक्त किलात और आकुलि आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। श्रद्धा का पशु जिसका वध होता है एक निरीह एवं शोषित प्राणी का प्रतीक है, सोमलता भोग का प्रतीक है, जलप्लावन को माया का प्रतीक माना जा सकता है, त्रिकोण या त्रिपुर इच्छा, क्रिया और ज्ञान के प्रतीक हैं, सोमलता से आवृत वृषभ भोग से युक्त धर्म का प्रतीक है, मानसरोवर समरसता का और कैलाश शिखर आनन्दमय कोश का प्रतीक है। इस प्रकार कामायनी में प्रतीक-विधान उसकी शैलीगत अथवा कलागत विशेषता है। प्रसाद की काव्य-कुशलता तथा मौलिकता ऐतिहासिक पात्रों तथा घटनाओं के द्वारा आधुनिक जीवन की समस्याओं के उद्घाटन तथा उनके सामाधान को प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत करने में लक्षित होती है। महाकाव्य की दृष्टि से 'कामायनी' की रचना भारतीय तथा पाश्चात्य महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणों के आधार पर हुई है। इसका कथानक उतना विस्तृत नहीं है जितना महाकाव्य के लिये अपेक्षित माना गया है। छायावादी कवि प्रसाद को कथानक के बाह्य विस्तार में उतना रस नहीं मिलता जितना भावना-व्यापार के विश्लेषण तथा जीवन-समस्याओं

के विवेचन में उपलब्ध होता है। इसमें प्रकृति-चित्रण जो महाकाव्य का आवश्यक अंग स्वीकार किया जाता है 'बिम्ब ग्रहण प्रणाली' के रूप में अधिक हुआ है। प्रकृति के रमणीक तथा भयानक दोनों रूपों के संश्लिष्ट चित्र उपलब्ध होते हैं, प्रलय-वर्णन तथा ताण्डव-नृत्य के दृश्य का चित्रण भयानक की कोटि में आते हैं और 'आशा' सर्ग में प्रभात का वर्णन, 'वासना' सर्ग में सांध्य-वर्णन प्रकृति के रमणीक रूप का चित्रण है। इन चित्रों में प्रकृति के सजीव रूप का अंकन हुआ है। प्रकृति का उद्दीपन रूप में भी चित्रण हुआ है जिसका उदाहरण श्रद्धा एवं मनु के मिलन के दृश्य में मिलता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का उपयोग वातावरण की सृष्टि के लिये भी हुआ है। प्रकृति का प्रतीकात्मक प्रयोग भी 'कामायनी' में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। इसमें बाह्य साम्य की अपेक्षा आन्तरिक साम्य को व्यक्त किया गया है जो छायावादी शैली की एक विशेषता है। इस प्रकार 'कामायनी' की रचना महाकाव्य की दृष्टि से एक ऐसे धरातल पर हुई है जिसमें भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों शैलियों का समन्वित रूप लक्षित होता है। आधुनिक महाकाव्य में कथा का अधिक विस्तार न होते हुए भी अपनी लघु सीमा में मानवता के व्यापक रूप को एक भव्य शैली में उद्घाटित करने की क्षमता इस में रहती है। इस क्षमता के आधार पर 'कामायनी' छायावादी युग का एक प्रतिनिधि महाकाव्य है। यह महाकाव्य होते हुए भी एक रूपक-काव्य भी है जिसमें सांकेतिक अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले प्रतीकात्मक पात्रों तथा अन्योक्ति-मूलक प्रसंगों का समावेश है। इसे रूपक-काव्य की संज्ञा देने के सम्बन्ध में मतभेद भी पाया जाता है। महाकाव्य तथा रूपक-काव्य में अन्तर को स्पष्ट करते हुए एक पाश्चात्य आलोचक का मत है कि रूपक-काव्य की रचना महाकाव्य के लक्षणों से युक्त हो सकती है, परन्तु रूपक-काव्य के पात्र अमूर्त भावों के प्रतीक होते हैं। कामायनी के पात्र केवल अमूर्त भावों के प्रतीक न होकर निजी

मानवीय अस्तित्व भी रखते हैं। इस दृष्टि से 'कामायनी' को रूपक-काव्य की संज्ञा से अभिहित करना सर्वथा युक्तिसंगत नहीं माना जाता। इस रचना को किसी भी संज्ञा से अभिहित किया जाए, इसमें भारतीय संस्कृति का निरूपण उसके व्यापक एवं समन्वयशील रूप में अवश्य हुआ है। इसी कारण इसमें लौकिकता तथा पारलौकिकता, भोग तथा त्याग, बुद्धि तथा हृदय, श्रेय तथा प्रेय, जड़ तथा चेतन, इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान आदि का सामंजस्य लक्षित होता है। इस प्रयास में एक ओर भारतीय चिन्तन का अनुसरण है और दूसरी ओर कवि की मौलिक जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति है। यह जीवन-दृष्टि छायावादी चेतना से अनुप्राणित है। प्रेय और श्रेय, व्यक्ति-हित तथा समाज-मंगल, बुद्धि तथा हृदय आदि के समन्वय में कवि का मौलिक चिन्तन एवं युग-चेतना का आभास है। 'कामायनी' में समन्वय-भावना की प्रेरक शक्ति श्रद्धा है। वह अपने उदात्त एवं सौम्य व्यक्तित्व द्वारा अन्य सभी पात्रों के हृदय को मुग्ध कर उनमें समरसता का संचार करती है। श्रद्धा द्वारा प्रतिपादित सामरस्य का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र है जिसमें जीवन को आनन्दमय बनाने की शक्ति है।

इस प्रकार 'चित्राधार' से लेकर 'कामायनी' तक प्रसाद प्रेम तथा सौन्दर्य के कवि हैं। इन रचनाओं में कवि का जीवन-बोध तथा सौन्दर्य-बोध छायावादी चेतना से अनुप्राणित है। आदि से अन्त तक उनके काव्य में प्रेम का स्वर ध्वनित होता है। इसका स्वरूप स्वच्छन्द, उदात्त एवं आदर्शमूलक है। प्रेम के प्रति यह दृष्टिकोण कवि को गतिशील बनाए रखता है। इसकी अभिव्यक्ति 'प्रेमपथिक' में ही उपलब्ध हो जाती है—

किन्तु न परिमित करो प्रेम,
सौहार्द, विश्वव्यापी कर दो।

प्रसाद वासनामय प्रेम की अनुभूति पा कर, इसमें विफलता की वेदना को

अनुभव कर इसका परिष्कार एवं संस्कार करते हैं। इसलिये वे दो व्यक्तियों के प्रेम को वासना के आधार पर चित्रित नहीं करते। वह प्रेम को दो हृदयों के मधुर-मिलन के रोमांटिक रूप में अंकित करते हैं। प्रसाद के काव्य में प्रेम-भावना का स्वरूप व्यक्ति-हित से समष्टि-मंगल की ओर उन्मुख है। कवि ने इस भावना को दो व्यक्तियों में प्रणय तक सीमित नहीं रखा है। मनु को प्रेम करने वाली श्रद्धा समस्त मानवता से प्रेम करती है। प्रसाद के स्वच्छन्द प्रेम की परिणति करुणा में होती है। प्रेम का स्वरूप व्यक्तिगत तथा करुणा का स्वरूप समष्टिगत होता है। प्रसाद का दृष्टिकोण मूलतः आदर्शवादी तथा आनन्दवादी है। इसलिये इन्होंने प्रेम-भावना को भी इसी साँचे में ढाला है। इस प्रकार प्रसाद के काव्य में छायावाद के लगभग सभी लक्षण उपलब्ध होते हैं। इसमें सौन्दर्य के प्रति अनुराग, प्रेम के प्रति उल्लास, नारी के प्रति श्रद्धा, प्रकृति के प्रति ममता, मानव के प्रति आस्था, वेदना के प्रति मोह, जीवन के प्रति विश्वास आदि के स्वर इसके वस्तु-पक्ष को सूचित करते हैं और रूढ़िगत छन्द-विधान एवं अलंकार-विधान के प्रति विद्रोह तथा नवीन प्रतीक-विधान एवं लाक्षणिक शब्दावली के प्रति आग्रह इसके शिल्प-पक्ष को इंगित करते हैं। इनके मूल में जीवन का नया बोध है जो मानव की मुक्ति-कामना से अनुप्राणित है। इसलिये प्रसाद के काव्य का मूल्यांकन छायावाद के धरातल पर ही अपेक्षित है।

४

सुमित्रानंदन पंत

परिवेश
काव्य-कृतियाँ
प्रकृति-चित्रण
वस्तु-पक्ष
कला-पक्ष
मूल जीवन-दृष्टि

४

सुमित्रानन्दन पंत

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस विद्रोह और राष्ट्र-प्रेम को ले कर साहित्य-सृजन किया था, उसके कारण भारतीयता की भावना ने साहित्य में व्यापकता तो प्राप्त कर ली लेकिन उनके असमय निधन से उनके द्वारा प्रशस्त पथ को निश्चित दिशा न मिली। यही कारण है कि उनके कुछ ही दिन बाद उनका मंडल अपना कार्य करके विश्राम लेने लगा और उनकी सर्वांगीण सुधार-वृत्ति का आंदोलन साहित्य में शिथिल पड़ गया। लेकिन साहित्य में अपनी जितनी शक्ति वह लगा चुके थे, उससे भविष्य में विकास की आशा तो हो ही चुकी थी। महावीरप्रसाद द्विवेदी के आने पर भारतेन्दु की भावनाएँ साहित्य में नये रूप में व्यक्त होने लगीं। उनका काल राष्ट्रीय संरक्षण तथा पुनरुत्थान का काल था, जिसमें भारतीयों को अपनी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के संयत विकास की

बड़ी आवश्यकता प्रतीत हुई। भारतेन्दु ने जो बहुमुखी प्रगति की धारायें बहाई थीं उनको संयत करना द्विवेदी का काम था। उन्होंने गद्य की भाषा को ही व्यवस्थित नहीं किया, वरन पद्य की भाषा में भी सुधार एवं संशोधन किया। खड़ी-बोली पद्य की भाषा हो गई और द्विवेदी की देख-रेख में मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी आदि ने खड़ी बोली की काव्यात्मक क्षमता को बढ़ाने की चेष्टा की। इन कवियों के प्रयत्न से खड़ी-बोली का स्वरूप निखरा और उसका आकर्षण भी बढ़ा, लेकिन आचार्य द्विवेदी नैतिकता के पक्षपाती थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में भी नैतिकता का स्वर था, फलतः साहित्य में भी उसकी आवश्यकता पड़ी। इस नैतिकता के आधार पर उन्होंने भारतेन्दु-कालीन सरसता का एक प्रकार से बहिष्कार-सा कर दिया। कविता से रस का बहिष्कार द्विवेदीकाल की विशेषता थी। यह प्रतिक्रिया थी उस रीतिकालीन काव्य-प्रणाली के प्रति जो भारतेन्दु-काल में भी अपना प्रभाव बनाए हुए थी। भारतेन्दु ने अपनी राष्ट्रीयता के साथ उसे सुरक्षित रखा था—कुछ परिष्कार-परिमार्जन के साथ। द्विवेदी ने उसे पसंद न किया और एक डिक्टेटर की भाँति काव्य-जगत में शुद्ध नैतिकता का समावेश किया। कवियों को द्विवेदी की सद्भावना पर अगाध श्रद्धा थी। बात मान ली गई और काव्य में इतिवृत्तात्मक कविता का जन्म हुआ। इतिवृत्तात्मक का अर्थ है—किसी प्रकार की कल्पना या भावुकता का रंग चढ़ाये बिना सीधे-सादे शब्दों में अपनी बात रख देना। अधिकतर द्विवेदी-काल का काव्य पद्य है, जिसमें कवित्व कहीं-कहीं उपलब्ध है। कारण, उसमें कवियों को नैतिक बन्धन थे। ऐसे बंधनों में कविता का विकास कठिन हो जाता है।

कुछ भावुक युवक जो अंग्रेजी-शिक्षा प्राप्त थे और पाश्चात्य विचारों के भी संपर्क में आ चुके थे, द्विवेदी-कालीन कविता में इस शासन को हृदय से स्वीकार न कर सके। वे यह तो मानते थे कि शृंगार

रस में राधा-कृष्ण को ले कर जो रीति-काव्य में घिसी-पिटी तुकबन्दियाँ और चमत्कार-प्रदर्शन होता है, उसका अन्त हो जाना चाहिए; लेकिन वे यह नहीं मानते थे कि शृंगार का एकदम बहिष्कार कर दिया जाये। जीवन के इतने बड़े अंग की ऐसी उपेक्षा उन्हें असह्य थी, वे द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मक कविता से भी असंतुष्ट थे, उन्हें उसमें कोई रस या रुचि न थी। वे चाहते थे कि यदि इस इतिवृत्तात्मक कविता में प्राण डाल दिये जायें, स्पन्दन भर दिया जाय तो काव्य सम्पन्न हो जाएगा। यह विचार उन्होंने किया और विषय, भाव, भाषा और शैली के तत्त्वों का गहरा मन्थन करने के बाद नवनीत-स्वरूप उस कविता को जन्म दिया जिसे छायावाद कहते हैं। उन्होंने स्थूलता को नमस्कार किया और सूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त करने लगे। वे जानते थे कि समाज में इस विद्रोह का स्वागत न होगा, परन्तु तो भी वे भाषा और काव्य को नई गति तथा दिशा देना चाहते थे। छायावाद का अर्थ अन्तर्मुखी वृत्तियों का ऐसा चित्रण है, जो नवीन प्रतीकों तथा बिम्बों के द्वारा हुआ है। अन्तर्मुखी वृत्तियाँ भी बाह्य परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकतीं, परन्तु इन कवियों ने एकान्त-निष्ठ हो कर अपनी वैयक्तिक स्थितियों को ही व्यक्त किया। अकेलेपन में प्रकृति के अतिरिक्त कोई साथी नहीं मिला। इसलिये प्रकृति का सहज सहयोग इन्हें मिला और इनकी कविता में उसका स्थान महत्त्व-पूर्ण हो गया। महत्त्वपूर्ण ही नहीं उनकी कविता में प्रकृति स्वयं साकार हो कर बैठ गई। कवि युवक थे, उत्साह और युवकोचित प्रेम-भावना उनमें विद्यमान थी। प्रकृति के साथ वह भी मिल गई। प्रेम-भाव की तृप्ति समाज में कठिन थी, क्योंकि समाज की मर्यादा उसमें बाधक थी। वह प्रेम-भावना अतृप्त वासना बन कर काव्य में मुखर होने लगी। उसके साथ निराशा भी थी। लेकिन जब एक कल्पित प्रेमिका को इन कवियों ने आत्म-समर्पण किया तो वह निराशा भी आशा में बदल गई और उल्लास और

भव्यता के भाव उनकी वाणी में स्वतः व्यंजित होने लगे। प्रकृति, अतृप्त वासना और मानसिक संघर्ष को व्यक्त करने के लिये उन्हें कला को भी नया रूप देना पड़ा। बंगाल में रवीन्द्र नाथ यही कर चुके थे। विश्व कवि से अधिक प्रेरणा-स्रोत दूसरा मिल नहीं सकता था। कुछ सीधा रोमांटिक काव्य का भी प्रभाव पड़ा, उसकी भी अभिव्यंजना-शैली को इन्होंने ग्रहण किया। बँगला और अंग्रेजी के प्रभाव से नयी भाषा, नये छन्द, नये अलंकार ले कर उन्होंने अपने काल्पनिक संसार की रचना की। उस जगत में प्रकृति का नया रूप हो गया, वह नयी सजधज से आई, जैसा साहित्य के इतिहास में कभी नहीं आई थी। मन का जगत भी नये परिधान में आविष्ट हो कर बाहर आया। प्रकृति के साथ मानो जगत का यह नया रूप ही हिन्दी-काव्य में छायावाद कहलाया। रीतिकालीन शृंगारी कविता से इसमें भिन्नता यह थी कि इसमें उतना खुलापन न था, जितना उसमें था। इसमें प्रच्छन्न शृंगार था, जिसमें भव्यता अधिक थी। इतिवृत्तात्मक कविता के प्रेमी और उस काल की यह अटपटी व्यंजना ब्रजभाषा के रसिकों की समझ में नहीं आती थी, इसमें अस्पष्टता भी थी। उन्होंने इसमें काव्य की काया न देखी, छाया देखी और इसका नाम किसी प्रकार छायावाद ही पड़ गया।

इस छायावादी कविता को जिन कवियों ने आगे बढ़ाया इनमें पंत का प्रमुख स्थान है। छायावाद का आरम्भ जयशंकर प्रसाद के 'झरना' काव्य-संग्रह से पहले भी माना जाता है, परन्तु सुविधा की दृष्टि से वही इसके प्रवर्तक कहे जाते हैं। पंत ने छायावाद की कला को सब से अधिक निखारा है। इनके अतिरिक्त सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और महादेवी वर्मा ने इस कविता में पौरुष और करुणा की धारा बहाई है। इस प्रकार छायावादी काव्य के प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी—ये चार उज्ज्वल नक्षत्र हैं, उनके प्रकाश में अन्य कवियों ने अपने काव्य-साधना

के पथ को पार किया है। वे चारों ही अपनी नवीन भाषाभिव्यंजना, नवीन विचार-प्रणाली, नवीन भाषा-शैली और नवीन कला-कौशल के कारण शीर्ष स्थान पाने के अधिकारी हैं। इनका विरोध भी बहुत हुआ है; लेकिन अध्ययन की गम्भीरता और व्यक्तित्व की धीरता के बल पर वे बराबर आगे बढ़ते आए हैं। आरोपों और आक्षेपों के प्रहार सहने वाले इन कवियों ने छायावादी काव्य को व्यापक एवं सम्पन्न बनाया है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों साहित्यों के मूल तत्त्वों के विवेचन-विश्लेषण के बाद इन्होंने अपने काव्य का शृंगार किया है और खड़ी बोली को मृदुता और माधुर्य के साथ वह भावाभिव्यंजकता दी है, जिसका द्विवेदी-काल में प्रायः अभाव था।

इन कवियों में पंत का विशेष महत्त्व है। उन्हें प्रकृति का सुकुमार कवि भी कहा जाता है। वास्तव में पंत को यह विशेषण देना संगत है, क्योंकि वह उन्मुक्त प्रकृति के अंचल में जन्मे, पले और बड़े हुए हैं, जिससे उनकी अंतःप्रकृति भी कोमल और स्निग्ध हो गई है। उनका जन्म मई १९०० में कूर्मांचल के सुन्दरतम प्रदेश कौसानी नामक गाँव में हुआ था, जो अलमोड़ा ज़िला में है। बचपन में ही इन्हें माता की स्नेहमयी गोद से वंचित होना पड़ा। फलस्वरूप व्यक्तित्व में संकोच-शीलता आ गई। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण ने इसमें साथ दिया और बचपन से ही कवि एकान्तशील हो गया। स्कूली शिक्षा के प्रति विशेष रुचि नहीं रही क्योंकि वह उनके चिन्तन को गति नहीं दे सकी और महात्मा गांधी के भाषण से प्रभावित होकर एफ० ए० से ही पढ़ना छोड़ दिया। लेकिन संस्कृत, बँगला और अंग्रेजी के गम्भीर अध्ययन ने दीवारों की बंद शिक्षा का अभाव ही नहीं पूरा किया वरन नवीन उद्-भावनाओं के लिए भी पथ प्रशस्त किया। बचपन से ही कवितायें लिखने लगे। विषय होते थे 'कागज-कुसुम', 'सिगरेट का धुआँ' जैसे बिलकुल निराले। पन्द्रह वर्ष की आयु में 'हार' नामक उपन्यास भी लिखा था,

जिसकी हस्त-लिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी के संग्रहालय में है और जिसका अब प्रकाशन भी हो चुका है। पहली कविता 'स्वप्न' थी जो 'सरस्वती' में छपी थी। सब से पहले उच्छ्वास (१६२२) और इसके बाद उनका प्रसिद्ध काव्य-संग्रह पल्लव (१६२६) निकला जिसने नवयुग उपस्थित कर दिया। उससे पहले वह 'वीणा' और 'ग्रन्थि' भी लिख चुके थे। 'वीणा' में आरम्भिक प्रकृति-प्रेम की कवितायें हैं और 'ग्रन्थि' में एक प्रेम-कथा है। 'पल्लव' के बाद ही कवि के पिता का देहांत हो गया और जीवन में अभाव ही अभाव हो गया। इसी समय उनको बीमारी ने भी आ घेरा। प्रकृति-प्रेम से कवि में जीवन के सुख-दुख की ओर देखने की प्रवृत्ति जगी। दुख का अनुभव हुआ पर स्वस्थ होने से आशा भी जगी और उसके बाद 'गुंजन' (१६३२) का प्रकाशन हुआ जिसमें जीवन की—मानव-जीवन की—आशामयी अभिव्यक्ति है। मानव-जीवन की मंगलमयी कल्पना 'ज्योत्स्ना' (१६३४) नाटक में हुई। कवि को अपनी वास्तविक दृष्टि मिल गई और कल्पना के स्वर्ग को छोड़ कर कवि धरती पर उतरा। 'युगांत' में, जो सन ३६ में प्रकाशित हुआ, प्राचीनता के प्रति विरक्ति और नवीनता के प्रति आग्रह है। उसमें मानव का रूप और निखरा। उसके पश्चात 'युगवाणी' (१६३६) और 'ग्राम्या' (१६४०) का प्रकाशन हुआ। इसके उपरान्त कवि मौन नहीं है, उसने नया मोड़ लिया है। उनकी विचारधारा जो उनके काव्य के तीसरे चरण में अभिव्यक्ति पा रही है अरविन्द के जीवन-दर्शन से प्रभावित है। इन रचनाओं में पंत की अध्यात्मवादी जीवन-दृष्टि झलकती है। इनका संकलन स्वर्णकिरण (१६४७), स्वर्ण-धूलि (१६४७), युगपथ (१६४६), उत्तरा (१६४६) अतिमा (१६५५) आदि काव्य-संग्रहों में किया गया है जिनमें प्रधानतः दिव्य-जीवन की चेतना व्यक्त हुई है। इस प्रकार 'पल्लव' से ले कर 'अतिमा' तक पंत के काव्य-विकास की रूपरेखा को प्रकृति से मानव, मानव से

जन-जीवन, जन-जीवन से दिव्य-जीवन और दिव्य-जीवन नव-मानव की शब्दावली में प्रस्तुत किया जाता है। कवि ने स्वयं अपने काव्य-विकास को स्पष्ट करने के लिये इसी भाषा को अपनाया है। इसके मूल में कवि का समन्वयवादी दृष्टिकोण बतलाया जाता है जो रसायन की भाँति परस्पर-विरोधी विचारधाराओं में अन्तर को पाटने और विरोध का परिहार करने में सफल कहा जाता है।

पंत मितभाषी हैं, जन-भीरु हैं, और स्वभाव से संकोचशील हैं। व्यक्तित्व बड़ा सौम्य और आकर्षक है। घुँघराले रेशम-से लंबे-लंबे बाल, स्वच्छ और स्निग्ध आँखें, गंभीर और सरल मुखाकृति, आकर्षण के साधन हैं। उनकी वेशभूषा अत्यंत सादी होने पर भी उसमें सुरुचि का प्रमुख स्थान है। कुरूपता से उन्हें चिढ़ है, सौंदर्य से प्रेम। स्वाभिमानी और आत्म-विश्वासी होने के साथ-साथ जीवन में संयम के पक्षपाती हैं। अविवाहित रहने और जीविका के लिए चिन्ता न करने तथा कभी-कहीं कभी-कहीं अस्थिरता से घूमते रहने पर भी उनकी संयत जीवन-प्रणाली में अन्तर नहीं आ पाया है।

पंत की कविता का सब से बड़ा तत्त्व है—उनका प्रकृति-प्रेम। जन्म-भूमि का पर्वतीय दृश्य और उस पर बचपन से मातृहीन होने से एकान्त-चिन्तन ने पंत को प्रकृति का चिर-सहचर बना दिया है। हिन्दी में ऐसा कोई कवि नहीं है जिसने इस प्रकार प्रकृति को अपना कर, जीवन का अंग बना कर रखा हो। 'पल्लव', 'वीणा', 'ग्रन्थि' तक तो कवि ने अपने सौन्दर्य-प्रेम और प्रकृति-प्रेम को मिला ही दिया है। 'गुंजन' में, जहाँ वि मानव-जीवन के प्रति दार्शनिक प्रवृत्ति परिलक्षित है और 'युगान्त' से आगे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तक, जिनमें वस्तु-जगत ने उनके भाव-जगत पर विजय पा ली है, सर्वत्र प्रकृति का अनोखा प्रभाव पड़ा है। प्रभाव ही नहीं कवि को कविता लिखने की प्रेरणा भी प्रकृति से मिली है। प्रकृति के रूपों के क्षण-क्षण बदलते रंगों—आकारों ने ही कवि को

सौंदर्य के प्रति प्रेम और जिज्ञासा की दृष्टि दी है। आरम्भ में तो कवि का प्रकृति के प्रति इतना आग्रह था कि उसे नारी-सौंदर्य भी उतना आकर्षक नहीं लगता था जितना कि प्रकृति-सौन्दर्य। 'वीणा' की एक कविता में कवि ने अपनी इस भावना का परिचय यों दिया है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन ?

प्रकृति का यह आकर्षण कवि को आरंभ से ही अपनी ओर खींचता रहा है। यही कारण है कि प्रकृति ने ही उनके काव्य को वह रूप-रंग दिया है जो अन्य-कवियों से उन्हें अलग कर देता है। प्रकृति के स्वतंत्र परन्तु संयत, नियंत्रित, नियमित वातावरण ने ही उनके छंदों और भाषा का परिष्कार करके उनकी कला का भी निर्माण किया है। प्रकृति के सम्बन्ध में कवि का कथन है—'कविता करने की प्रेरणा मुझे सब से पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँख मूँद कर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में दूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील धूमिल कूर्मांचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत-मुकुट हिमांचल को धारण किए हुए हैं और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाए हुए हैं किसी भी मनुष्य को अपने महान नीरव सम्मोहन के आश्चर्य में डुबाकर, कुछ काल के लिए भुला सकती हैं। और शायद यह पर्वत प्रान्त के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन

के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह निश्चय रूप से, अवस्थित है।'[1]

इससे स्पष्ट है कि कवि के भीतर प्रकृति-प्रेम ने ही एक 'अज्ञात आकर्षण' को जन्म दिया और उस 'अज्ञात आकर्षण' ने 'अव्यक्त सौन्दर्य' को। इसीलिए कवि का हृदय उस सौन्दर्य के भीतर अपने को खो देने को उत्सुक रहता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति ने ही 'विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य भावना' भी दी है, जिसने उसे चिन्तक बना दिया है। कवि के कथन से एक और बात स्पष्ट होती है। कवि के शब्दों में केवल आश्चर्य और कौतूहल की व्यंजना ही प्रकृति के माध्यम से हुई है।

पंत ने प्रकृति से अपना नाता जोड़ लिया है और शैशव से ही उसे वह विभिन्न रूपों में दिखाई देती रही है। प्रकृति से निकट का परिचय होने के कारण कवि की दृष्टि में संवेदनशीलता आ गई है और इसके कारण वह प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और उससे जो सन्देश मिलता है उसे भी ग्रहण कर लेता है। उसकी विशेषता यह है कि कवि प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र अंकित करता है। पर्वत-प्रदेश में पावस ऋतु का सौंदर्य अंकित करते हुए कवि उसके क्षण-क्षण बदलते रूप का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत कर देती है। पहाड़ों के बीच घिरे हुए पानी में फूलों से भरे पहाड़ों की परछाईं पड़ रही है। साधारण-सी बात है। लेकिन कवि ने इस साधारण सी बात को एक रूपक में बाँध दिया है, और वह पहाड़ सजीव हो उठा है, जिसके ऊपर खिले फूल उसके खुले हुए नेत्र हो गए हैं और नीचे भरा हुआ पानी का ताल दर्पण हो गया है, जिसमें वह बार-बार अपना मुँह देख

---

१. आधुनिक कवि, भूमिका, पृ० ७

रहा है।[1] उस दृश्य को यों प्रकट करने में उसका स्वरूप आँखों के आगे खड़ा हो जाता है। चित्रों की ऐसी अशेष राशि कवि के काव्य में बिखरी पड़ी है।

पंत की प्रकृति के साथ जो यह मैत्री है, उसका कारण यह है कि वह अपनी भावनाओं को उसके माध्यम से भली भाँति व्यक्त कर सकते हैं। इससे उनके चित्रों में सजीवता और सौन्दर्य आ जाता है और उनकी भावनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। कवि चाहता है कि प्रेयसी के 'ध्यान' करने और उसकी सुधि आने की बेला में उसकी जो मानसिक दशा होती है, उसका चित्रण करे। उसके पास उस मानसिक दशा को व्यक्त करने के लिए प्रकृति के अतिरिक्त और कोई माध्यम नहीं है। वह ध्यान के लिए तड़ित की तड़प लेता है। ध्यान आने और बिजली के सहसा चमकने में समानता है। बिजली की कड़क में जुगुनू जैसे अधीर हो जाते हैं वैसे ही प्रेयसी का ध्यान आते ही कवि के प्राण भी बेचैन हो उठे हैं। इसलिये प्राण और जुगुनू की यहाँ समानता है। इस प्रकार एक मानसिक भावना को व्यक्त कर दिया है। अब सुधि को लीजिए। सुधि बातों की आती है और बातों में सुखद स्वर की मिठास होती है। सुधि आने पर वे बातें ही दुहर-सी जाती हैं—उसी प्रकार जैसे शुक

---

१. पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश—
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल।

एक ही बात को सुखकर स्वर में दुहराता है। सुधि और शुक की यहाँ समानता है। इससे दूसरी मानसिक भावना मूर्त हो जाती है।[1]

कभी-कभी कवि ने यह भी किया है कि अपनी भावनाओं को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करने के बदले प्रकृति को ही भावनाओं के माध्यम से व्यक्त किया है—

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर,
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिंतापर।

यहाँ वृक्षों की ऊँचाई को उच्चाकांक्षाओं के माध्यम से व्यक्त किया है और उनकी शांत दशा को अनिमेष, अटल, चिंतापर व्यक्ति से। इस

---

१. तड़ित-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर;
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान।
पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि।
सरल शुक सी सुखकर सुर में
तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती हैं उर में,
अगन-से मेरे पुलकित प्राण
सहस्रों सरस स्वरों में कूक,
तुम्हारा करते हैं आह्वान,
गिरा रहती है श्रुति सी मूक।

प्रकार व्यक्ति की भावनाएँ ही प्रकृति के चित्रण का माध्यम बन गई हैं।

इसके अतिरिक्त कवि ने प्रकृति को नारी रूप में ही देखा है, कुछ तो अपनी सुकुमारता के कारण और कुछ प्रकृति के सौंदर्य के कारण।[1] यह भी हो सकता है कि दार्शनिक दृष्टि से 'प्रकृति और पुरुष' का रूपक भी कवि के सामने हो। प्रकृति में व्याप्त सौन्दर्य के आधार पर पंत एक प्रेयसी की भी कल्पना करने लगते हैं। अपने सौन्दर्य-बोध की अभिव्यक्ति के लिए एक ओर वह प्रकृति के मधुवन की ओर देखते हैं और दूसरी ओर 'निखिल छवि की छवि' नारी की ओर, एक ओर फूलों का हास उन्हें अनुरक्त करता है और दूसरी ओर कपोलों की मदिरा विमुग्ध करती है। वह जब प्रकृति को निहारते हैं तो उनके दृगों में विश्व-सुषमा से युक्त नारी छा जाती है। जब वह नारी की सुषमा का पान करते हैं तब उनके सम्मुख प्रकृति की सुन्दरता बिखर जाती है। शरद की झिलमिल चाँदनी लजीली दुलहिन की याद दिलाती है और भावी पत्नी का स्मरण उनके दृगों में व्योम-बाला के शरदाकाश का चित्र अंकित कर देता है। इस प्रकार पन्त की प्रकृति नारीमयी है और उनकी नारी प्रकृतिमयी है। वह कहीं प्रकृति को स्वतंत्र सत्ता रखने वाली नारी के रूप में चित्रित

---

१. प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि।
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल-बिहंगिनि!
पाया तूने यह गाना?
सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख में छिप कर।
झूम रहे थे, घूम द्वार पर
प्रहरी से जुगनू नाना।

करते हैं और प्रकृति से तादात्म्य अनुभव करते समय स्वयं को भी नारी-रूप में अंकित करते हैं। यहाँ तन्वी गंगा ऋषि-कन्या है और चाँदनी तापसी बाला है। प्रकृति मालिन का रूप धारण कर गजरे भी बेचती है। 'युगान्त' में संध्या की रूपसी के रूप में और 'गुञ्जन' में चाँदनी की रुग्णा बाला के रूप में कल्पना प्रकृति का नारीकरण है। पंत जिस नारी पर मुग्ध हैं उसकी उषा जैसी छवि है, नववसन्त जैसा शृंगार है, तारों जैसा हार है, मेघों जैसे काले कुन्तल हैं और मलयानिल जैसी उसकी मुखवास है। यह नारी का प्रकृतिकरण है। प्रकृति और नारी पंत के काव्य में इस प्रकार घुलमिल गये हैं कि उनके प्रकृति-चित्रण को नारी-कला की संज्ञा भी दी जाती है।

पंत कभी-कभी प्रकृति के ऐसे चित्र भी देते हैं, जिनमें न आलंकारिकता होती है, न भावनाओं और प्रकृति का आदान-प्रदान, केवल तटस्थ दर्शक की भाँति कवि निरीक्षण द्वारा प्रकृति का चित्रण करता है और वातावरण की सृष्टि कर देता है—

बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी-वी-टी-टुट-टुट।

पंत ने प्रकृति का कोमल और स्निग्ध स्वरूप ही चित्रित किया है। 'पल्लव' में 'परिवर्तन' कविता को छोड़कर सर्वत्र वह प्रकृति के मोहक रूप की ओर ही आकृष्ट रहे हैं। इस कविता में भी दार्शनिकता के कारण उग्र रूप स्वतः आ गया है, अन्यथा 'प्रथम रश्मि' 'बादल', 'नौका-विहार', 'एकतारा', 'दो मित्र', 'आँसू', 'अप्सरा' 'चाँदनी' आदि में कवि ने प्रकृति के सरस और स्निग्ध रूप को ही चित्रित किया है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में 'प्रकृति के विराट रंग-मंच पर इनकी सौन्दर्यमयी दृष्टि पल्लव, वीचिजाल, मधुप-कुमारी, किरण, चाँदनी, अप्सरा,

संध्या, ज्योत्स्ना, छाया, इन्दु, सुरभि, तारिकाएँ आदि पात्रों का ही अभिनय देखती है—अथवा देखना चाहती है। दिगन्तव्यापी उल्कापात, बवण्डर, भूकम्प और बाड़व-मंथन आदि में इनकी वृत्ति नहीं रमती'। इसका मनोवैज्ञानिक कारण कवि का जनभीरु और संकोचशील स्वभाव बतलाया जाता है। सुन्दर जीवन की कल्पना करने वाला और बाह्य संघर्ष से कतराने वाला कवि प्रकृति के उग्र रूप की ओर प्रायः आकृष्ट नहीं हो सकता। इसका दार्शनिक कारण समस्त छायावादी काव्य का कोमल सौन्दर्य-बोध है जो युग-चेतना का परिणाम है। इनके प्रकृति-चित्रण में एक विशिष्ट जीवन-दर्शन को खोजने का प्रयास किया गया है और प्रकृति के प्रति इनके विकासशील दृष्टिकोण को व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया गया है। कवि जब मधुपकुमारी से मीठे गान सीख चुका है तब वह शिशु-सुलभ उत्सुकता का परित्याग कर प्रकृति पर चिन्तन एवं मनन करने लगता है। इसके परिणामस्वरूप पंत के प्रकृति-चित्रण में एक रहस्यमयी चेतना की अभिव्यक्ति होने लगती है। वह प्रकृति में उस शक्ति का आभास पाने लगते हैं जो जीवन और जगत को नियंत्रित करती है। सरिता के भी आत्मा है। वह प्रकृति में किसी महान संदेश को सुनने लगते हैं और अज्ञात प्रियतम का प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं। प्रकृति के प्रति इस जीवन-दृष्टि को प्राकृतिक रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है जिससे कवि प्रकृति के अन्तर में व्याप्त किसी चेतन शक्ति का आभास पाने लगता है और पुकार उठता है—

मैं चिर उत्कण्ठातुर
जगती के अखिल चराचर
थे मौन मुग्ध किसके बल!

वह आत्मा-परमात्मा के तादात्म्य-बोध की रसमयता से सिक्त हो कर कह उठता है—

एक हूँ मैं तुम से सब भाँति
जलद हूँ मैं यदि तुम स्वाति

इस भाँति आत्मा-परमात्मा का महामिलन प्रकृति के माध्यम से सम्पन्न होता है। पंत ने सब से पहले प्रकृति में सौन्दर्य देखा था और वह उससे पराभूत हुए थे। इस सौन्दर्य ने उन्हें भावलोक की ओर प्रेरित किया और कवि का सौन्दर्य-प्रधान प्रकृति-प्रेम भाव-प्रधान होने लगा। उनकी भावना के स्वप्न जीवन की कठोर अनुभूतियों से टकरा कर टूटने लगे। वह सुन्दर से शिवं की ओर उन्मुख हुए और उनका प्रकृति-प्रेम विचार-प्रधान हो उठा। कवि प्रकृति के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त करने लगा। इस विकास-क्रम में प्रकृति के प्रति उनका दृष्टिकोण सखा का न होकर अब दार्शनिक का है, उपासक का न होकर विचारक एवं साधक का है। पहले जहाँ मानव का चित्रण प्रकृति से अभिभूत था वहाँ अब प्रकृति नव मानव की कल्पना से अभिभूत है। आरम्भ में प्रकृति पंत की जीवन-साधना रही है और अब वह उनकी जीवन-साधना का माध्यम बन रही है। इनके समस्त काव्य में प्रकृति का इतना महत्त्व एवं स्थान है कि उसे प्रकृति-काव्य की संज्ञा भी दी जाती है।

प्राकृतिक सौन्दर्य कवि की आत्मा की वस्तु बन गया है। वह अपने हृदय के उस आवेश को व्यक्त करना चाहता है जिसे प्रेम कहते हैं और मिलन और विरह जिसके दो छोर हैं। नारी-सौन्दर्य के चित्रण के लिये कवि प्रकृति की सहायता लेता है। पंत नारी के भव्य सौन्दर्य का भी चित्रण करते हैं। वह नारी-सौन्दर्य पर भी उतने ही मुग्ध हैं, जितने प्रकृति-सौन्दर्य पर।[1] वस्तुतः वह सौन्दर्य को व्यापक रूप में लेते हैं। सर्वत्र सौन्दर्य की अखण्ड सत्ता देखने के कारण उनको सौन्दर्य के

---

१. अकेली सुन्दरता कल्याणि,
सकल ऐश्वर्यों की संधान।

चित्रण में स्वाभाविक रुचि रहती है और वह उसे व्यक्त भी बड़ी कुशलता से कर देते हैं। 'उच्छ्वास की बालिका' में वह एक बालिका का चित्रण करते हैं। इस चित्रण में कहीं राग-तत्त्व का वासना-पंकिल रूप नहीं मिलता। पूरी कविता में उसके स्वच्छ, पवित्र, उज्ज्वल रूप के ही दर्शन होंगे—

सरलपन ही था उस का मन,
निरालापन था आभूषण,
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन।
+ + +
रंगीले, गीले, फूलों-से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित
—इसी में था असीम अवसित।

मिलन हो या विरह, कवि की अनुभूति इतनी तीखी है कि उसकी नोक से कोई भाव या विचार विद्ध होने से नहीं बचता। सौन्दर्य की एक झलक ही उसकी कल्पना को सौ-सौ नेत्र दे जाती है। उसे अनुभूति और कल्पना का वरदान प्राप्त है। वह भावनाओं को ऐसा रूप दे देता है कि उसे पढ़ कर हृदय में उनकी कसक ज्यों की त्यों उतर आती है। इसका कारण यह है कि कवि की कल्पना वेदनामय है, उसके आँसुओं में गान जीता-सिसकता है और शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं। ऐसा समन्वय होने के कारण ही मधुर लय का कहीं अन्त नहीं होता।[1]

---

१. कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है

और तभी वह पुकार उठता है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।

पंत ने 'वीणा' 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' तक इस प्रकार की सौन्दर्य-मयी कविताएँ लिखी हैं, जिनमें उनकी कल्पना को बहुत दूर तक उड़ान भरने का अवकाश मिला है। 'वीणा' में इनके किशोर कवि की बाल-सुलभ भावुकता है, जिसमें कवि का प्रकृति की महत्ता पर पूर्ण विश्वास है और उसके व्यापारों में पूर्णता का आभास मिलता है। 'वीणा' की कविताओं में 'गीतांजलि' की छाया भी स्पष्ट है।[1] परन्तु 'ग्रन्थि' में कवि संस्कृत काव्य की आलंकारिक प्रणाली से प्रभावित हुआ जान पड़ता है। असफल प्रेम की कथा में कवि ने हृदय की समस्त सरसता उँडेल दी है। नायक के झील में डूबने और सुध में आने पर वह अपने को एक बालिका के घुटनों पर सिर रखे हुए पाता है। वहीं परस्पर-प्रेम का अंकुर फूटता है, परन्तु समाज के भय से पल्लवित नहीं होने पाता। इतनी सी कथा को कवि ने संस्कृत की अलंकृत शैली में—नयी अभिव्यंजना के साथ लिखा है। कवि-हृदय की आशा, निराशा और सौन्दर्य

शून्य आहों में सुरीले छंद हैं
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है?

१. हुआ था जब सन्ध्यालोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर
विहग रव बन कर मैं चितचोर
गा रहा था गुण, किंतु कठोर
रहे तुम नहीं वहाँ भी शोक।

के विभिन्न चित्रों से यह कृति सम्पन्न है। इसमें अनेक स्थलों पर प्रेम-सम्बन्धी विविध मानवीय व्यापारों की सरस व्यंजना भी है, जो कवि की भाषा के माधुर्य से नया रूप ले कर आई है। उदाहरणार्थ प्रेम की यह व्यंजना 'पानी पी कर घर पूछना' वाले मुहावरे से मिल कर बिलकुल निखर आई है।

यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की
जो अपांगों से अधिक है देखता
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा।

'पल्लव' में कवि की प्रतिभा का प्रौढ़ विकास है। 'वीणा' और 'ग्रन्थि' में किशोरावस्था के गीत हैं और 'पल्लव' में यौवनावस्था के। कवि की अनुभूति और भावोन्माद में स्वाभाविक वेग आ गया है और कवि अब कल्पना को खुल कर खेलने देता है। अंग्रेजी के सीधे प्रभाव में आने पर कवि की व्यंजना में विविधता आ गई है। शैले, कीट्स, वर्डसवर्थ और टेनिसन का कवि ने गम्भीर अध्ययन किया है, इसलिये उनकी छाया भी यत्र-तत्र स्पष्ट है। वह शैले से अधिक प्रभावित हुए हैं। उनकी प्रसिद्ध कल्पना-पूर्ण कविता 'बादल' शैले की 'क्लाउड' कविता से प्रेरित है, लेकिन कवि ने शैले का अनुवाद करके नहीं रख दिया। उससे बादल का मनोहर रूप ही लिया है, जब कि शैले ने भयंकर रूप भी चित्रित किया है। उनकी कला पर टैनिसन का भी प्रभाव है जो अपनी ध्वन्यात्मकता और भावानुकूल शब्द-चयन के लिये प्रसिद्ध थे। 'पल्लव' में अंग्रेजी के इन कवियों की लाक्षणिकता, सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस प्रकार 'पल्लव' में उनकी प्रकृति और सौन्दर्य की भावना का चरम विकास है, जो कला के आवरण में और भी खिल उठा है।

प्रकृति और सौन्दर्य का उपासक कवि आरम्भ से ही चिन्तन-शील

रहा है, यह उसके कवित्व और व्यक्तित्व से ध्वनित होता है। जब वह अभी किशोर था, तभी उसने विवेकानन्द और रामतीर्थ का दर्शन हृदयंगम किया। विवेकानन्द का दर्शन आध्यात्मिकता के माध्यम से राष्ट्र की सेवा करना है और रामतीर्थ का दर्शन जगत के माध्यम से आध्यात्मिकता को प्राप्त करना है। कवि के मानस पर इन दोनों दर्शनों का प्रभाव पड़ा। 'पल्लव' की रचना 'परिवर्तन' में कवि का यह चिंतन दर्शनीय है। इस कविता को निराला ने पूर्ण कविता कहा है। उसमें सृष्टि के परिवर्तनशील रूप की व्यंजना कवि ने बड़ी कुशलता से की है। उसका विचारक प्रारम्भ से ही जागरूक है और 'वीणा' और 'ग्रंथि' काल की कविताओं में भी चिन्तन के कण बिखरे मिल जाएँगे, लेकिन 'परिवर्तन' में कवि के विचारक का निखरा रूप उपलब्ध होता है। 'पल्लव' तक आते-आते उसका विचारक प्रौढ़ हो उठा है और 'परिवर्तन' में वह संसार की अशांति से विकल हो कर पुकार उठता है—

एक सौ वर्ष नगर उपवन, एक सौ वर्ष विजन वन
यही तो है असार संसार, सृजन, सिंचन, संहार॥

इस नश्वरता-अनश्वरता के ज्ञान के साथ कवि को जग की नित्यता-अनित्यता का आभास होता है, उसे जग के रहस्य को सुलझाने का संकेत-सा मिलता है और यहाँ उसे सर्वत्र एक ही शक्ति के दर्शन होते हैं। प्रकृति के प्रति जो कवि कभी जिज्ञासु था, भावनाशील था, वही अब उसके भीतर के रहस्य को पाने के लिए अधीर हो उठता है। एक दिन उसके जीवन की जो डाल 'प्रेम विहग का वास' बन गई थी, वह संसार की क्षण-भंगुरता के पतझड़ का अनुभव करती है और कवि तत्त्व-चिंतन से इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि एक ही असीम आनन्द सर्वत्र व्याप्त है और विश्व में उसके ही विविध रूप प्रकट होते हैं। जलधि की हरीतिमा, अंबर की नीलिमा, हृदय का प्रेमोच्छ्वास, काव्य का रस, फूलों की सुगंध, तारकों की झलमलाहट, लहरों का लास, सब में वही एक

शक्ति है।[1] वह सुख-दुख में समन्वय कर लेता है और बिना दुख के सुख उसे निस्सार प्रतीत होता है और बिना आँसू से जीवन भार-स्वरूप। यहीं संसार की दीनता का अनुभव करके वह दया, क्षमा और प्यार की आवश्यकता का अनुभव करता है।[2] यह अनुभव तो उसे होता ही है। प्रकृति में वह व्याप्त शक्ति उसे अपनी ओर आकृष्ट करती है। कवि को अनुभव होता है कि स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब चकित शिशु के समान संसार की आँखों पर अजान स्वप्न विचरते हैं तब उसे नक्षत्रों से कोई मौन निमंत्रण देता जान पड़ता है।[3] 'पल्लव' में कवि की इस

१. एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शांत अम्बर में नील विकास।
वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास,
अचल तारक, पलकों में हास,
लोल लहरों में लास।

२. बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार,
दीन दुर्बल है रे संसार।
इसी से दया क्षमा औ' प्यार।

३. स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार,
चकित रहता शिशु-सा नादान।
विश्व के पलकों पर सुकुमार,
विचरते हैं, जब स्वप्न अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन?
निमंत्रण देता मुझको मौन?

शक्ति के प्रति जिज्ञासा और संसार की नित्यता-अनित्यता का चित्रण भी प्रकृति-सौंदर्य के साथ-साथ मिलता है और वह स्वर उसे नया प्रकाश देता है—यह प्रकाश है आशा का। यहाँ से कवि परिवर्तन की अनिवार्यता स्वीकार करके आशावादी बन बैठता है। यही आशावाद 'गुंजन' के दार्शनिक चिन्तन में भी है। 'गुंजन' में कवि की भावना और विचार दोनों में एक प्रकार से सामंजस्य स्थापित हो जाता है, लेकिन कवि में विचार-तत्त्व गहराने लगता है; वह अपने गीतों को 'जग के उर्वर आँगन' में बरसने के लिए प्रेरणा देता है। इस प्रकार वह अपने से बाहर मानव मात्र की ओर बढ़ता है। वहीं उसे सुख-दुःख की सापेक्ष अनुभूति होती है। कवि की सुख-दुःख की यह सापेक्ष अनुभूति ही उसके जीवन में एक नवीन आशा का संचार कर देती है और वह सुख-दुख के महत्त्व पर कह उठता है—

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।
जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव-जग में बँट जावें
सुख दुख से औ दुख सुख से।

कवि को यह दृष्टि मिलते ही वह अपने विधुर मन को विश्व-वेदना में प्रतिपल गलने के लिये प्रेरित करता है। 'तप रे मधुर मधुर मन' के स्वर में वह नयी दिशा की ओर उन्मुख होता है। कभी जो वह इस जगत की सीमा पर बैठा हुआ दूर से ही उस रहस्य को पा लेना चाहता था, वह अब सुख-दुख से ऊपर उठ कर 'जीवन के अन्तस्थल में नित बूड़-बूड़ रे भाविक' के स्वर को ध्वनित करता है और जीवन को निकट

से देखने के लिए आतुर हो उठता है। 'गुंजन' में पंत का आशावादी स्वर गुंजित हुआ है। उसमें कहीं-कहीं चिन्तन की अपेक्षा भावुकता का भी प्राधान्य हो गया है और जहाँ ऐसा हुआ है, वहाँ उनकी रहस्य-भावना का सौन्दर्य प्रतिभासित हुआ है। प्रकृति भी 'गुंजन' में नये रूप में है और उसके चित्र मार्मिक हैं। 'नौका विहार' जैसी कविताएँ इसका उदाहरण हैं। गंगा की धारा में नौका-विहार का चित्र कवि ने ऐसा उतारा है कि प्रत्येक छंद का चित्र बन सकता है। 'गुंजन' का वह कवि जो 'वीणा' 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' की प्रकृति और सौन्दर्य-भावना को चिपकाए हुए 'चाँदनी' और 'नौका-विहार' के गीत गाता था और जगत की 'नश्वरता-अनश्वरता' पर अपना मत देता था और कहता था कि 'चिर जन्म-मरण के आर-पार शाश्वत जीवन नौका-विहार' हो रहा है, वह अब 'युगान्त' में अपने पिछले जीवन की, पिछले युग की समाप्ति और नवयुग के आगमन का अभिनन्दन करता है। वह मानवात्मा के सुख-दुख से बाहर जगत की चिन्ता में व्यस्त हो जाता है। कल्पना अथवा कलात्मक विलास का परित्याग कर वह सीधा प्रकृति को अथवा वस्तु-जगत को अपने काव्य का विषय बनाता है। उसे वह स्वप्न व्यर्थ मालूम होता है, जिसमें वह स्वयं अब तक डूबा हुआ था। वह कल्पना का साम्राज्य उसे अब स्वीकार नहीं है, जिसमें उसकी आत्मा विहार करती रही है। वह युग ही उसे 'मृतविहंग' जान पड़ता है और वह जगत की रूढ़ियों की जीर्णता को झर जाने के लिए कहता है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!
हे स्रस्त-ध्वस्त! हे शुष्क शीर्ण!
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीत राग, जड़ पुराचीन!
निष्प्राण विगत युग! मृत विहग!
जग-नीड़ शब्द औ श्वास-हीन,

च्युत अस्त-व्यस्त पंखों-से तुम
झरझर अनन्त में हो विलीन !

गत युग की विकृतियों में कवि को कोई सार नहीं दिखाई देता और वह अब इस आशा से कि जगती का भाग्योदय होगा, अपने गीत-खग से कहता है कि तुम जगती के जन-पथ-कानन में अनादि गान गाओ और चिर, शून्य, शिशिर-पीड़ित जग में अपने अमर स्वरों के प्राण-स्पन्दन भर दो। कारण, जो स्वप्नों के तम में सोये हैं वे निश्चय ही जागेंगे और जीवन में निशीथ देखने वाले प्रभात देखेंगे।[1] कवि को 'युगान्त' में लोक की मंगलाशा की ही विशेष चिन्ता है, अपने सुख-दुख की नहीं जैसा कि 'गुंजन' तक रहा था। वह दार्शनिकता भी अब कवि को आकर्षित नहीं करती। अब तो वह 'नवल मानव-कानन के पल्लवित होने' की आशा से 'गा कोकिल बरसा पावक कण' का स्वर-संधान करता है। उसका विश्वास है कि जिन गत युग की संस्कृतियों ने देश और जाति की दीवारें खड़ी करके मानवता को बंदी बना रखा है, वे मानवता का विकास पाकर सब गिर जाएँगी और मानवात्मा का प्रकाश पाकर यह यंत्र-युग हँसने लगेगा।[2] आज तो कला भी कवि को आकर्षित नहीं

---

१. जगती के जन-पथ-कानन में
तुम गाओ विहग ! अनादि गान,
चिर शून्य शिशिर-पीड़ित जग में
निज अमर स्वरों से भरो प्राण !
जो सोए स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात
जो देख चुके जीवन-निशीथ
वे देखेंगे जीवन-प्रभात !

२. मानव जग में गिरि-कारा-सी

करती। 'ताजमहल' पर न जाने कितने कवियों ने लिखा होगा। विश्व कवि रवीन्द्र ने 'काल के कपोल पर एक अश्रुबिंदु' कह कर ताज के अमरत्व का करुण सन्देश दिया है, लेकिन युगान्त का कवि उसके निर्माण को ही 'मृत्यु का अपार्थिव पूजन' कहता है—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन!
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन!

\+ + +

मानव! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति।

कवि का दृष्टिकोण 'युगांत' में पूर्णरूप से बदल जाता है और वह युग बदलने के लिये चिन्तन द्वारा अपने भीतर ही एक नयी सृष्टि रचता प्रतीत होता है—'मैं सृष्टि रच रहा नवल, भावी मानव के हित भीतर।' मानव-केसरी को गरजने के लिये और गत युग के शव को नष्ट करने के लिये भी कहता है।[1] इस प्रकार 'युगान्त' कवि के काव्य-विकास का मध्य-विन्दु है, जिसके पहले उसने प्रकृति, सौन्दर्य, प्रेम,

---

गतयुग की संस्कृतियाँ दुर्धर
बन्दी की हैं, मानवता को
रच देश-जाति की भित्ति अमर।
ये डूबेगी—सब डूबेगी!
पा नव मानवता का विकास
हँस देगा स्वर्णिम वज्र लौह,
छू मानव-आत्मा का प्रकाश।

१. गर्जन कर मानव-केसरि
प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ा कर
छिन्न-भिन्न कर दे गतयुग के शव को दुर्भर।

उल्लास, आत्मा, जगत आदि की पहेली को भोले शिशु के रूप में सुलझाया है और जिसके पीछे उसने जगत के यथार्थ संघर्ष की ओर अनुभूति को वाणी दी है। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है : " 'पल्लव' में कवि अपने व्यक्तित्व के घेरे में बँधा हुआ, 'गुंजन' में कभी-कभी उसके बाहर और 'युगांत' में लोक के बीच दृष्टि फैला कर आसन जमाता दिखाई देता है। 'गुंजन' तक वह जगत से अपने लिये सौन्दर्य और आनन्द का चयन करता हुआ प्रतीत होता है। 'युगान्त' में आ कर वह सौन्दर्य और आनन्द का जगत में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है। कवि की सौन्दर्य-भावना अब व्यापक हो कर मंगल-भावना के रूप में परिणत हुई है।"

इस प्रकार 'युगान्त' में कवि मानव का यशोगान गाने बैठ जाता और नये जग के निर्माण के लिए तैयारी करता है। एक बात विशेष रूप से दर्शनीय है कि अब कवि प्रेम को बिलकुल ही छोड़ चुका है। 'गुंजन' में ही वह मानवता के प्रति आकृष्ट हो चुका था, परन्तु फिर भी उसमें 'भावी पत्नी के प्रति' आदि कवितायें कवि के भीतर प्रेम की कल्पना का स्वरूप प्रदर्शित कर जाती हैं।[1] यही नहीं 'गुंजन' की 'मधुवन' कविता में उसे प्रेयसी की मदिर छवि ही समस्त प्रकृति में बिखरी दिखाई

---

१. मृदूर्मिल सरसी में सुकुमार
अधोमुख, अरुण-सरोज समान,
मुग्ध कवि के उर के छू तार
प्रणय का-सा नव-गान;
तुम्हारे शैशव में, सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण;
स्वप्न-सा विस्मय-सा अम्लान
प्रिये, प्राणों की प्राण!

देती है।'[1] परन्तु 'युगांत' में कवि नारी-सौन्दर्य से विमुख होने लगा है। इसका कारण यह है कि वह अपने मानसिक विलास को व्यक्त करने की अपेक्षा मानव के सुख-दुख में निजी व्यक्तित्व को लीन करने के लिये प्रयत्नशील है। जिस प्रकृति से उसने बोलना सीखा था उसे वह 'युगान्त' में भी नहीं छोड़ सका है। आगे की कृति में 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में भी जहाँ वह शुद्ध विचारक के रूप में आया है वहाँ भी वह प्रकृति से सम्पर्क-विहीन नहीं हो पाया है। इनमें पंत ने प्रकृति के चित्र दिए हैं, परन्तु उनमें वह मीनाकारी नहीं जो 'बादल' और 'चाँदनी' में है। वह तो अब प्रकृति को उसके यथातथ्य रूप में ही देखता है। 'उत्तरा' तक कवि के विकास का रूप है—प्रकृति-सौन्दर्य से नारी-सौन्दर्य, नारी-सौन्दर्य से जीवन-दर्शन, जीवन-दर्शन से मानव और मानव से नवमानव का निर्माण।

प्रश्न यह है कि 'वीचिविलास', 'चाँदनी' और 'अप्सरा' का यह कवि आज यंत्र-युग से प्रभावित होकर मानव की जड़ता और संस्कार-हीनता का चित्रण कर उसके ही भाग्योदय की आशा से अपने काव्य की दिशा को कैसे मोड़ सका? जो कभी जीवन का अर्थ केवल क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास, विलास, लीला, विस्मय, अस्फुटता, स्नेह, पुलक, सुख और सरल हुलास ही समझता था, वही आज कुरूप, कुत्सित, प्राकृत, सुन्दर, सस्मित दोनों से परिचित की भाँति

---

१. आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान,
तुम्हारे शयन-शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस प्राण।

क्यों मिलना चाहता है।[1] इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं कवि ने दिया है। कवि ने कालाकाँकर से 'रूपाभ' नाम का एक मासिक निकाला था। उसके प्रथम अंक में उसने स्वयं लिखा—'कविता के स्वप्न-भवन को छोड़ कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आए?'''इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण किया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न-रूप से सहम गई है। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। और युग-जीवन ने उसके चिर-संचित सुख स्वप्नों को जो चुनौती दी है, उसको उसे स्वीकार करना पड़ा है।'

कवि युग की माँग पर स्वप्न-जगत छोड़ कर धरती पर आ गया और उसने वास्तविकता का निमंत्रण स्वीकार किया। उसके पश्चात उसने जीवन की विकृति और वीभत्सता को गहरी दृष्टि से देखा है। किसान-मज़दूर वर्ग के लिए उसके मन में बौद्धिक सहानुभूति जागृत हुई है और उसे 'युगवाणी' दी है, जिसमें उसने समाजवादी सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है और उसके बाद 'ग्राम्या' में उन सिद्धान्तों का प्रयोग। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' 'युगान्त' के बाद कवि की मानव-पूजा

---

१. क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास-विलास।
लीला, विस्मय, अस्फुटता, भय, स्नेह, पुलक, सुख, सरल, हुलास।
हे कुरूप, हे कुत्सित, प्राकृत,
हे सुन्दर हे संस्कृत सस्मित,
आओ जग-जीवन, परिणय में
परिचित-से मिल बाँह भरें।

की कृतियाँ हैं, जिनमें उसने भावी संस्कृति की रूप-रेखा देने के साथ-साथ वर्तमान का भी चित्रण किया है। अपने देश और वर्तमान संसार की दुर्दशा से व्याकुल हो कर 'युगान्त' में कवि ने 'बापू' के प्रति कविता लिखी थी, जिसमें उसने महात्मा गाँधी की प्रशस्ति के साथ उनके गाँधीवाद की भी प्रशंसा की थी। सत्य, अहिंसा, चरखा आदि जो गाँधीवाद के प्रतीक हैं उन पर अपना मत दिया था और उनको 'शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल' कह कर सम्बोधित करते हुए अन्त में लिखा था—

आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, सत्य राम,
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः,
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम।

लेकिन 'ग्राम्या' में 'महात्माजी के प्रति' कविता में उन्होंने इस 'मुक्त-पुरुष' की पराजय दिखाई है और कहा है—

हे भारत के हृदय तुम्हारे साथ आज निःसंशय।
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर।

यह मानो गाँधीवाद से समाजवाद की ओर कवि की रुचि का परिचायक है। कवि के हृदय का यह परिवर्तन उसको श्रद्धा से, जो काव्य का प्राण है, शंका की ओर, जो विज्ञान का जीवन है, ले गया और काव्य या आध्यात्मिकता तथा विज्ञान या वास्तविकता के समन्वय का उसने प्रयास किया। उसने दोनों को स्वीकार किया और आशा की कि यंत्र-युग के साथ जब साम्यवाद द्वारा स्वर्ण-युग का अवतरण विश्व में होगा तब गाँधीवाद और साम्यवाद दोनों एक हो जायेंगे—

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद।
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।

इस प्रकार उसने सामन्तवाद से पूँजीवाद और पूँजीवाद से साम्यवाद तक की भावना को अपने काव्य में स्थान दिया। 'पल्लव' तक की

सौन्दर्य-भावना में सामन्तवाद, 'गुंजन' की दार्शनिकता में पूँजीवाद और 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की वास्तविकता में साम्यवाद की यात्रा पंत ने की। इस यात्रा में वे अपने कवित्व को श्रीहीन होने से नहीं बचा पाये हैं और यह शुष्क विश्लेषण हो कर ही रह गया है, यद्यपि 'ग्राम्या' में वे कवित्व भी लाए हैं। परन्तु 'पल्लव' के उपवन में विहार करने वाले पाठक को 'युगान्त' के बाद की कृतियाँ रेतीला मैदान जान पड़ती हैं, जिनमें कहीं-कहीं नखलिस्तान के दर्शन हो जाते हैं। कवि के पास इसका कोई उत्तर नहीं है क्योंकि वह स्पष्ट कह चुका है कि जब से काल्पनिक व्यंजनाएँ ही नहीं रहीं तब वह सरलता कहाँ से आवेगी? वास्तविकता में मस्तिष्क से भी काम लेना है। अब से पहले उसने हृदय को गुदगुदाया था, अब उसने मस्तिष्क को कुरेदा है। शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में 'आज पंत के कवि की लेखनी और तूलिका का स्थान छेनी और कुदाली ने ले लिया है, रूप-रंग का स्थान रक्त-मांस ने। अब वह कला की उतनी चिन्ता नहीं करता जितनी सृष्टि-निर्माणकारी विचारों की।' इसीलिए उसने स्पष्ट कहा है कि 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में निम्नवर्ग को उसने बौद्धिक सहानुभूति दी है। पंत इससे अधिक कर भी नहीं सकते। उनका संकोच-शील स्वभाव, अभिजात वर्ग की रुचि और एकाकी जीवन, उन्हें मजदूरों-किसानों के बीच काम करने की अनुमति नहीं देते, वह तटस्थ दर्शक की भाँति उनकी स्थिति का अवलोकन करके ही उनके सुख-दुख का चित्रण कर सकते हैं। इसका परिणाम यह है कि उनके चित्रण में अनुभूति का सरस रूप नहीं दिखाई देता।

पंत की चिंतनशील प्रवृत्ति ने उनको आशावादी बनाया है, अतः वह विकृति का यथातथ्य चित्रण करते हुए भी किसानों-मजदूरों के लिए हाय! नहीं करते, वरन उनको भविष्य की ओर ही देखने की प्रेरणा देते हैं, और जहाँ ऐसा नहीं करते वहाँ उनको वास्तविक रूप में रख

देते हैं। इसीलिए भारतीय ग्राम का चित्रण करते हुए उसकी तुलना नरक से की है।[1] किसान को भी 'विरूढ़, जड़ीभूत, हठी और ऐसे कितने ही विशेषण दे डाले हैं।[2] इसका कारण यह है कि कवि उनकी दुर्दशा को सहन नहीं कर सकता और उसका हृदय व्यथित हो जाता है—'इन कीड़ों का भी मनुज बीज यह सोच हृदय उठता पसीज'—कवि इसको राजनीति का प्रश्न नहीं बनाता, वह इसको सांस्कृतिक प्रश्न बनाता है। 'संस्कृति का प्रश्न' शीर्षक 'ग्राम्या' की कविता में वह कहते हैं—

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव-जीवन के दुख।

— — — —

आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित
खण्ड मनुजता को युग युग की होना है नव-निर्मित।

वस्तुतः बात यह है कि कवि के संस्कारी हृदय ने विश्व की आधुनिक विकार-ग्रस्त दशा का उपचार सांस्कृतिक समन्वय में ही खोजा है। इसीलिए उसे आज असुन्दर सुन्दर लगते हैं, शोषित जनप्रिय लगते हैं और जीवन के दैत्यों से जर्जर मानव-मुख उसका मन हरता है।[3]

---

१. यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित,

— — — —

प्रकृति धाम यह तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत।

२. वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी, वृष-बान्धव कर्षक
ध्रुव ममत्व की मूर्ति रूढ़ियों के चिर रक्षक।

३. आज असुन्दर लगते सुन्दर, प्रिय पीड़ित शोषित जन,
जीवन के दैत्यों से जर्जर, मानव मुख हरता मन।

'युगवाणी' में उसने 'बौद्धिक सहानुभूति' देकर मार्क्सवादी सिद्धान्तों, वर्ग-समस्याओं आदि की मीमांसा की थी ; परन्तु 'ग्राम्या' में उसने मीमांसा का पथ छोड़ कर सीधे ग्राम-चित्रण की ओर ध्यान दिया है। 'धोबियों का नाच', 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्र नर्तन' आदि में उसने सामूहिक-जीवन से प्रेरित होकर निम्नवर्ग की भावनाओं को वाणी दी है। 'राष्ट्र गान', 'वह बुड्ढा, 'ग्राम्य देवता', 'भारत माता', 'ग्राम-श्री' आदि कविताओं में गाँवों की वर्तमान दशा के साथ प्रकृति के सुन्दर चित्र भी दिए हैं।

भावी समाज-व्यवस्था में नारी का भी महत्त्व है। कवि ने उसकी मुक्ति के लिए भी गम्भीर स्वर से शंखनाद किया है। इसमें नारी का वर्तमान स्वरूप बोल-सा उठा है—

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूतयोनि वह, मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।
वह समाज की नहीं इकाई—शून्य समान अनिश्चित
उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलम्बित।
योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।

पंत की इन कविताओं में हम 'प्रगतिशील' मानव-समाज का चित्र देखते हैं। इनके भीतर जो मानव है, वह आज से आगे आने वाले उस स्वर्ण युग का है, जिसमें यंत्रों के विकास से 'सतयुग' लाने की चेष्टा की जाएगी। उस समय मनुष्य अभावों से ग्रसित नहीं होगा, उसकी रक्त-मांस की इच्छायें पूरी होंगी और सर्वत्र प्रेम का राज्य होगा, तब स्वर्ग की आवश्यकता न रहेगी।[1] उस समय दैन्य-दुःख और क्षुधा-तृषा

---

१. जीवन की क्षण धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित
रक्त मांस की इच्छायें जन की हों पूरित

के क्रंदन मिट जायेंगे और भावी के सुख स्वप्नों का युग साक्षात रूप में अवतरित होगा। उस समय न ये ग्राम रहेंगे न ये नगर रहेंगे। समस्त बंधनों से दिशा और क्षण मुक्त हो जायेंगे और मनुज जीवन से क्षुद्रताओं का नाश हो जायेगा।[1] ऐसे संसार की कल्पना 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का कवि करता है। अपने कवि को ही संबोधन करके कहता है कि कल्पना के लिए आकाश क्या ताक रहे हो? मृत्यु-नीलिमा की गहराई वाले आकाश में रखा क्या है? उसे अनिमेष, स्थिर दृष्टि से निरंतर देखने से क्या लाभ है? वह तो निःस्पंद है, शून्य है, निर्जन है और निःस्वन। यदि देखना चाहते हो तो पृथ्वी को देखो—उस पृथ्वी को जो जीव-प्रसू है, हरित-भरित है, पल्लवित-मर्मरित है, कुंजित-गुंजित और कुसुमित है।[2] इसी प्रेरणा को ले कर कवि ने 'युगांत' के बाद की कविताओं में नीचे के धरातल पर उतर, जनता की भावनाओं और सुख-दुख को वाणी दी है। प्रकृति के अंचल में पले, सौन्दर्य के स्वप्नों में विहार करने वाले मानव-जीवन के इस दार्शनिक कवि का मानव जगत के वर्तमान संघर्ष में जूझने का यह प्रयत्न हृदयगत न होकर बुद्धिगत ही रहा

मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें—मानव ईश्वर!
और कौन-सा स्वर्ग चाहिये तुझे धरा पर?

१. आज मिट गए दैन्य दुःख सब क्षुधा तृषा के क्रंदन
भावी स्वप्नों के तट पर युग जीवन करता नर्तन
ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे—मुक्त दिशा औ' क्षण से
जीवन की क्षुद्रता निखिल मिट गई मनुज जीवन से।

२. ताक रहे हो गगन?
मृत्यु-नीलिमा-गहन गगन?
अनिमेष, अचितवन, काल-नयन?
निस्पन्द, शून्य, निर्जन, निःस्वन?

है, स्थायी न होकर क्षणिक ही सिद्ध हुआ है। पंत के काव्य-विकास में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' एक नये मोड़ के सूचक अवश्य हैं, परन्तु इस पथ को प्रशस्त कर वह इस पर अधिक काल तक यात्रा नहीं कर पाए हैं और एक भ्रान्त पथिक के समान अपने वास्तविक पथ की खोज में रहे हैं। युग की विचारधारा के साथ कुछ समय के लिए बह कर वह तट की तलाश में हैं। अपने एकान्त-प्रिय, संघर्ष-भीरु, संकोचशील स्वभाव और अभिजात संस्कारों एवं सौन्दर्यवादी जीवन-दृष्टि के कारण पंत प्रकृति की सुषमा से क्लान्त होकर नव मानव की सुन्दरता की कल्पना से अभिभूत हैं। इस नव मानव के निर्माण में वह सांस्कृतिक समन्वय की स्थिति को अभीष्ट मानते हैं। इनके काव्य-चेतना के विकास में यह नवीन स्थिति है जिसका आरम्भ 'स्वर्णकिरण' से होता है। इनका समन्वयशील दृष्टिकोण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन-दृष्टियों में नवीन सामंजस्य की खोज में संलग्न है और यह खोज इनके समस्त काव्य-विकास की मूलमंत्र रही है। भीतर तथा बाहर के सत्य को एक दूसरे के निकट लाना ही पंत के काव्य-विकास का केन्द्रबिन्दु है। वह मूलतः व्यक्ति-चिन्तन की दृष्टि से जीवन तथा जगत को आँकते तथा चित्रित करते हैं; परन्तु समाजमंगल की भावना से भी वह अवगत हैं। इन दो परस्पर-विरोधी-जीवन-दृष्टियों में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न में ही पंत के काव्य-विकास में असंगतियों को आँका जा सकता है। इस सम्बन्ध

देखो भू को
जीव-प्रसू को
पल्लवित-मर्मरित
कुंजित-गुंजित
कुसुमित
भू को !

में कवि का कथन है—'मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव-चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है और भौतिक तथा आध्यात्मिक अतिरंजनाओं का विरोध कर भौतिकता एवं आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर, उन्हें लोक-कल्याण के लिये सांस्कृतिक समन्वय में एक-दूसरे के पूरक के रूप में संयोजित करना चाहा है।'[1] यह संयोजन ही इनके काव्य की उपलब्धि तथा सीमा है। इस प्रकार का समन्वय वह प्रकृति और मानव, गांधीवाद और मार्क्सवाद के रसायन के रूप में पहले स्थापित कर चुके हैं। इस संयोजन का नया रूप अरविन्द-दर्शन से अनुप्राणित है। इस नवीन चेतना का स्वर्णिम प्रकाश 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा', 'अमिता', 'कला और बूढ़ा चाँद' आदि की अधिकांश रचनाओं में उपलब्ध होता है। स्वर्ण शब्द इस नवीन चेतना का प्रतीक है। कवि का विश्वास है कि मानव जाति की मान्यताओं के शिखर और मन की अंधकार भरी गुफाएँ इस नवीन चेतना से आलोकित हो रही हैं। आज नवीन मानवता की सृष्टि हो रही है। पंत के काव्य का विकास अपने नवीनतम रूप में अरविन्द के जीवन-दर्शन से प्रभावित है। इस जीवन-दर्शन को काव्य में नवचेतनावाद की भी संज्ञा दी जाती है। इसकी धारणा यह है कि मानव की चेतना का चरम विकास अभी नहीं हो पाया है। इसके विकसित होने पर मानव दिव्य जीवन को प्राप्त करेगा। 'स्वर्ण-किरण' तथा 'स्वर्णधूलि' की अधिकांश रचनाओं में इस नवीन चेतना की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है और 'अमिता' की कविताओं में अरविन्द के जीवन-दर्शन का प्रतिपादन है। 'ज्योत्स्ना' में जिस आध्यात्मिक मानवतावाद को पंत ने व्यक्त किया था उसका विकसित रूप ही इन रचनाओं में उपलब्ध होता है। कवि का चिन्तन अब मनन का

---

१. रश्मि बंध, भूमिका पृ० २१

रूप धारण करता है, उसकी सौन्दर्यवादी दृष्टि अब दिव्य-दृष्टि में परिणत हो गई है। पंत उन विरले जनों में हैं जो स्वयं पार उतर चुके हैं, वह अतिमानस को प्राप्त कर अतिमानव के पद पर आसीन हैं। वह अब जीवन-मुक्त हैं। बुद्धि और विवेक से जब जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता, परस्पर-विरोधी जीवन-दृष्टियों में जब सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता, समन्वयवाद से विपरीत विचारधाराओं में जब विरोध शांत नहीं होता, जीवन की विषमताएँ जब भयंकर रूप धारण कर लेती हैं, तब संवेदनशील कवि रहस्यवाद अथवा अध्यात्मवाद की शरण में ही शान्ति पाता है। पंत ने अपने काव्य-विकास के अन्तिम चरण में इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

नव मानवता को निःसंशय होना रे अन्तःकेन्द्रित
जन भू स्वर्ग नहीं युग संभव बाह्य साधनों पर अवलम्बित

इस प्रकार पंत के काव्य-विकास की रूपरेखा को प्रकृति से मानव, मानव से जन-जीवन, जन-जीवन से दिव्य-जीवन और दिव्य-जीवन से नवमानव की शब्दावली में प्रस्तुत किया जाता है। यह सूत्र कहाँ तक उनके काव्य के क्रमिक विकास को स्पष्ट करने में सफल है अथवा कहाँ तक उनके काव्य की आत्मा उद्घाटित करता है यह कहना कठिन है। किसी विकासशील कवि को एक यान्त्रिक योजना में आबद्ध करना दुष्कर है। पंत युग के विचारों के प्रति सदैव जागरूक रहे हैं। वह पिछले चालीस वर्षों में दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक विचारधाराओं को आत्मसात करने के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। इस प्रयास में अनेक असंगतियों की स्थिति का होना स्वाभाविक है और इन असंगतियों की स्थिति में उनके काव्य-विकास के सूत्रों को खोजा जा सकता है।

पंत के काव्य में कला-पक्ष को उतना ही महत्त्व प्राप्त है जितना भाव-पक्ष को। इसलिये इनको कवि की अपेक्षा कलाकार अधिक माना

जाता है। इनके भाव प्रायः सुकुमार होते हैं, अतः इनकी कला का स्वरूप भी कोमल है। इस सुकुमारता व कोमलता के कारण इनकी कला की तुलना तितली के रंगीन पंखों से की गई है। परन्तु अपवाद रूप में यह कला पौरुष एवं कठोर परिधान भी धारण करती है जिसका परिचय इनकी 'प्रगतिशील' रचनाओं में उपलब्ध होता है। यह शीघ्र ही पुरुष का परिधान उतार कर नारी-सुलभ शृंगार करने लगती है। इसलिये इनकी कला अन्य छायावादी कवियों की भाँति मूलतः अलंकृत है और अलंकरण के साधनों में भाषा तथा छन्दों के विशिष्ट प्रयोग हैं। इनकी भाषा चित्रात्मकता, लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता आदि गुणों से युक्त है और इनका छन्द-विधान संगीतात्मकता से सम्पन्न है। कारण, पंत ने केवल इतिवृत्तात्मक कविता के साथ ही विद्रोह नहीं किया वरन छंद, भाषा और अलंकारों में भी क्रान्ति की है। इन की कला के विषय में सब से पहली बात तो यह है कि उनकी चित्रण-शक्ति बड़ी सबल है। प्रत्येक दृश्य या गति का चित्र वह बड़ी कुशलता से अंकित करते हैं। ये चित्र स्थिर दृश्यों के भी होते हैं और गत्यात्मक दृश्यों के भी। अपनी 'दो मित्र' नामक कविता में उन्होंने दो चिल-बिल के पेड़ों का चित्र दिया है। वे पेड़ एक निर्जन टीले पर एक-दूसरे से मिले खड़े हैं—

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल,
मित्रों-से हैं खड़े,
मौन, मनोहर
दोनों पादप,
सह वर्षातप,
साथ ही बढ़े
दीर्घ सुदृढ़तर।

यह एक स्थिर दृश्य का चित्र है जिसे पढ़ते ही दूर सूने टीले पर खड़े दो पेड़ हिले-मिले दिखाई देने लगते हैं। साधारण व्यक्ति भी इनका मानसिक चित्र उतार सकता है। अस्थिर या गत्यात्मक चित्र भी एक-से-एक सुन्दर एवं संश्लिष्ट हैं। 'नौका-विहार' कविता में तो प्रत्येक शब्द का चित्र है। गंगा में नाव से उठती हिलोर, उसमें प्रतिबिंबित तारक-दल और उसके ऊपर नाव का हंसिनी के समान चलना सब अलग-अलग रेखाओं से स्पष्ट हैं—

नौका से उठती जल हिलोर,
विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारकदल
ज्योतित कर जल का अंतस्तल।
मृदु मन्द-मन्द मन्थर-मन्थर लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही, खोल पालों के पर!

इस विलक्षण चित्रण-शक्ति द्वारा कवि सूक्ष्म से सूक्ष्म और गतिवान से गतिवान भाव या दृश्य को चित्रित कर देता है। इसके अतिरिक्त ध्वनि-चित्रण भी इनकी कला की विशेषता है। कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है कि 'अर्थ' शब्द की ध्वनि से ही स्पष्ट हो जाता है और सुनने वाले को अर्थ के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। 'युगांत' में संध्या का चित्रण केवल कुछ ही शब्दों में कर दिया है जो ध्वन्यात्मक होने के कारण अर्थ के साथ संध्या का चित्र भी देते हैं।[1] इसी प्रकार 'झंझा में नीम' झूम-झूम कर, झुक-झुक कर सर-सर-चर-मर करता प्रतीत होता

---

१. बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी टुट टुट

है।[1] ध्वन्यात्मकता के साथ ही उनको रंगों का पूरा ज्ञान है। यह रंग का ज्ञान उनकी चित्रण-शक्ति को समृद्ध बनाता है। अलग-अलग रंगों का प्रयोग ही नहीं मिश्रित रंगों के प्रयोग में भी कवि को निपुणता प्राप्त है।[2] कुशल चित्रकार की भाँति कवि रंग, छाया और प्रकाश का चित्रण तो करता ही है, कभी-कभी रूप-रंग के अतिरिक्त वह स्पर्श और गन्ध को भी सजीव कर देता है।[3]

शब्दों का चयन और अवसरानुकूल प्रयोग करने में पंत को कोई कठिनाई नहीं होती। इसमें उनका चिन्तन उनकी विशेष सहायता करता है। यदि एक ही पंक्ति में 'वीचि' और 'लहर' होगा तो एक का अर्थ दूसरे से भिन्न होगा। शब्दों की आत्मा का ऐसा सूक्ष्म ज्ञान कम कवियों को है। उनके शब्द पूरे-पूरे भाव को व्यक्त कर देते हैं। 'पल्लव'

---

१. झूम-झूम, झुक-झुक कर
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर-सिहर थर थर
करता सर मर
चर मर।

२. देखता हूँ जब पतला
इन्द्र धानुषी हलका।
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद कला!

३. फैली खेतों में दूर तलक
मखमल-सी हरियाली
× × ×
महके कटहल मुकुलित जामुन
जंगल में झरबेली झूली

की भूमिका में उन्होंने लिखा है—'भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः संगीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे, 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता-ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठना, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक-दूसरे को धकेलना, उठ-उठ कर गिर पड़ना, बढ़ो-बढ़ो कहने का शब्द मिलता है। 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का 'हिल्लोल-कल्लोल' से ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।' वस्तुतः पंत की कविता में कला प्रधान हो गई है। उनकी कला का स्वरूप उन्हीं की प्रसिद्ध उपमा-युक्त कविता 'छाया' की पंक्तियों में लक्षित होता है—

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी भावुकता-सी,
अविदित भावाकुलभाषा-सी,
कटी-छटी नव-कविता-सी,

'कटी-छटी नव कविता-सी' में उनकी कला की व्यंजना है, जो उनके छन्दों में व्यक्त होती है। वह मात्रिक छंदों का ही अधिक प्रयोग करते हैं। इसका कारण उनकी दृष्टि में यह है कि हिन्दी के शब्द-विन्यास की प्रकृति स्वरों से अधिक निर्मित है। संगीत में भी स्वर ही प्रधान है। इसलिये शब्द-जगत में स्वर ही उनके भीतर वह प्रवाह और गति देते हैं जो संगीत बन कर कविता को स्वर्गीय बना देते हैं। उनकी दृष्टि तुक आदि पर या समान मात्राओं पर न रह कर केवल भावों की गति पर रहती है। कवि ने स्वयं कविता तथा छन्द के अटूट सम्बन्ध को स्वीकार किया है—'कविता हमारे प्राणों का संगीत है, कविता का स्वभाव ही

छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से नदी की धारा को सुरक्षित रखते हैं, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रण से राग को सजीव बना देते हैं।' पंत ने प्राचीन छन्दों की काँट-छाँट की है, नये छन्दों की सृष्टि की है और मुक्त छन्द का भी प्रयोग किया है। इस सुधार, परिष्कार तथा आविष्कार के मूल में छन्द को भाव के अनुरूप ढालने की प्रवृत्ति है। 'वीणा' तथा 'पल्लव' में छन्द-विधान का प्रयोगात्मक रूप है, 'ग्रन्थि' में अंग्रेजी काव्य के run on line का विधान है, 'गुंजन' में छन्दों की रुनझुन है, 'ज्योत्स्ना' में छन्द एक विशेष लय एवं ताल से संचालित है, 'युगान्त' के छन्दों में गीतों की विछलन न होकर पुरुष-संगीत है, 'स्वर्णकिरण' आदि में शब्द-लय की अपेक्षा अर्थ-लय की प्रधानता है। इस प्रकार पंत के काव्य में छन्द भावों तथा विचारों की गति के अनुरूप चलते हैं। उन्होंने स्वयं छन्द-विधान के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है—'कविता के लिये चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हो।' इस प्रकार पंत की काव्य-कला में चित्रात्मकता तथा संगीतात्मकता का मधुर मिलन है। इनकी सौन्दर्य-दृष्टि इनकी कला को रूप तथा आकार देती है।

इस मूलभूत सौन्दर्य-दृष्टि का परिचय कवि के अलंकार-विधान में भी उपलब्ध होता है। पंत ने अलंकारों का प्रयोग रूढ़ि का पालन करने के लिये नहीं किया। इसका उद्देश्य अलंकार-योजना न होकर रूप-चित्रण है। इसलिये अलंकार प्रायः बोझ बन कर नहीं, शक्ति बन कर आते हैं। कहीं-कहीं अलंकारों का जमघट भाव तथा विचार को उभरने नहीं देता। पंत के कला-विकास के प्रथम चरण में ही अलंकार-विधान सरल से जटिल बनने की ओर उन्मुख है जिसका

स्पष्ट परिचय 'वीणा' तथा 'गुंजन' में प्रयुक्त अलंकारों के अन्तर से मिल सकता है। उनके कला-विकास के दूसरे चरण में अलंकार-विधान अधिक स्थूल, मांसल एवं विरल है जिसके आधार पर उन्होंने अपनी वाणी को अलंकार-विहीन घोषित करने का साहस किया है। अलंकारों में विशेषतः उपमा, रूपक, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय की प्रधानता है। भारतीय अलंकारों में उपमा और रूपक उनकी कला में मणियों की भाँति चमकते हैं। पाश्चात्य अलंकारों में मानवीकरण तथा विशेषण-विपर्यय का प्रयोग पंत की काव्य-कला की विशेषता है। 'नील नभ के शतदल पर बैठी' में न केवल चाँदनी का मानवीकरण हुआ है, इसके चित्रमय भावात्मक सौन्दर्य का वर्णन भी अनेक उपमानों द्वारा हुआ है। इस प्रकार उनकी कला में अलंकार-विधान एक नवीन सौन्दर्य-दृष्टि से प्रेरित है। इसी प्रकार उनकी कला में प्रतीक-विधान भी उनकी सौन्दर्य-दृष्टि से अनुप्राणित है। प्रतीकों की योजना प्राकृतिक, मानवीय तथा आध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये की गई है। मधुकर प्राण का प्रतीक है, मधु अनुभूति या सुख का, सरोवर तथा वीणा हृदय का, वसन्त संयोग या यौवन का, सरिता जीवन का, कली आशा का, किसलय प्रेम का, फूल सुख का, शूल दुख का, लहर इच्छा का, गंध गुण का, ऊषा उल्लास का, सन्ध्या वेदना का, स्वर्ण नवचेतना का, अप्सरा सौन्दर्य-भावना का जो युग-युग में नवीन परिभाषा लेकर आती है। इस प्रकार खग उस कवि का प्रतीक है जो मानव-जीवन को अनुप्राणित करता है। एक तारा उस व्यक्ति का प्रतीक है जो स्थित-प्रज्ञ है, जिसकी व्याख्या 'गीता' में मिलती है। पंत की कला में प्रतीक-विधान भी वीणा-काल से पाया जाता है, परन्तु 'स्वर्ण किरण' तथा 'अतिमा' में आकर यह प्रधान रूप धारण कर लेता है।

पंत की कला के स्वरूप को अनेक विशेषणों के द्वारा उद्घाटित

किया जाता है। इनमें नारी-कला उसकी कोमलता का प्रतीक है, स्वप्निल कला उसकी सुकुमारता का प्रतीक है, सौन्दर्य-कला उसकी जीवन-दृष्टि का द्योतक है, प्रकृति-कला उसके प्राकृतिक प्रेम की परिचायिका है। उनके काव्य का कला-पक्ष उसके भाव-पक्ष के अनुरूप विकसित हुआ है। 'वीणा' से लेकर 'कला और बूढ़ा चाँद' तक पंत की कला में अन्तर उनके काव्य-विकास का परिणाम है। 'वीणा' में सहज-सरलता है' 'ग्रन्थि' में अलंकरण के लिये यौवन की आकुलता है, 'पल्लव' में कल्पनाशीलता और 'गुंजन' में चिन्तनशीलता है। इन काव्य-रचनाओं में पंत के काव्य का कला-पक्ष प्रधान रूप से सुन्दरम् के तत्त्व से अनुप्राणित होने के कारण प्रायः एक रूप है। इन रचनाओं में जो उनकी कला 'तितली के पंख लेकर उड़ी थी वह 'युगांत', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में आकार मांसल' हो गई है। उनकी नारी-कला पौरुष-मयी हो गई है अथवा क्षीण पड़ गई है। इसका कारण कवि की जीवन-दृष्टि में शिव-तत्त्व का सौन्दर्य-तत्त्व की अपेक्षा प्रधान होना है। पंत के कला-विकास के इस चरण में भी भाषा की सुकुमारता, अलंकारों तथा प्रतीकों की सूक्ष्मता और छन्दों की संगीतात्मकता का सर्वथा लोप नहीं हुआ है। उनके कला-विकास के अगले चरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पंत का सुन्दरम् के प्रति प्रथम प्रणय क्षणिक न होकर स्थायी था। पंत के काव्य का भाव-पक्ष जिस प्रकार प्रकृति से मानव, मानव से लोक-मानव, लोकमानव से दिव्य-मानव की ओर विकसित हुआ है, उसके अनुरूप ही उनके काव्य का कला-पक्ष सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख हुआ है। इन दोनों के मूल में पंत की समन्वयशील जीवन-दृष्टि है जो परस्पर-विरोधी भावों तथा विचारों में मधुर-मिलन की स्थिति को स्थापित करने के लिये चिर आतुर है, युग की सामयिक तथा जीवन की शाश्वत समस्याओं का समाधान खोज निकालने में चिर विकल है। इनके उदाहरण जड़ व चेतन, सुन्दर व शिव, द्वैतवाद व

अद्वैतवाद, भौतिकवाद व आध्यात्मिकवाद, निराकार व साकार, सुख व दुख, मुक्ति व बन्धन, व्यक्तिवाद व समष्टिवाद, मार्क्सवाद व गांधीवाद, आत्मसत्य व वस्तु-सत्य, व्यक्ति-हित व समाज-मंगल आदि परस्पर-विरोधी धारणाओं एवं मान्यताओं में सामंजस्य की अभिव्यक्ति में उपलब्ध होते हैं। पंत की काव्य-चेतना तथा काव्य-कला का यह मूल मन्त्र है।

५

निराला

व्यक्तित्व
काव्य-कृतियाँ
परिमल
अनामिका
तुलसीदास
गीतिका
अर्चना, आराधना, गीत गूँज
व्यंग्य-काव्य
वस्तुपक्ष
कलापक्ष

५

निराला

आधुनिक काव्य के विकास में आलोचक के लिये सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का व्यक्तित्व एक पहेली और कृतित्व एक समस्या बन गए हैं जिनका विश्लेषण तथा मूल्यांकन अभी अपेक्षित है। निराला का सरल एवं जटिल व्यक्तित्व और इनका अस्पष्ट एवं क्लिष्ट काव्य आलोचक के लिये एक चुनौती है। इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो परिचय उपलब्ध होता है वह अधूरा है और इनकी कृतियों का जो मूल्यांकन किया गया है वह एकांगी है। छायावादी कवियों में निराला एक ऐसे कवि हैं जिनके जीवन और काव्य में सम्बन्ध का स्वरूप घनिष्ठ न होकर अटूट है। इनके जीवन का एक-एक अनुभूत क्षण इनकी कृतियों में झलकता है। इसलिये जब तक इनके आन्तरिक व्यक्तित्व का पूरा परिचय नहीं मिल जाता जो एक कठिन समस्या है, तब तक इनके कृतित्व का मूल्यां-

कन अधूरा ही रहेगा। अब तक निराला का कवि और काव्य दोनों उपेक्षित रहे हैं और इस उपेक्षा-भाव ने भी इनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को विशिष्ट रूप दिया है। इस तिरस्कार ने इनके व्यक्तित्व को अधिक उग्र और काव्य को अधिक जटिल बनाने में सहायता की है। इनके व्यक्तित्व में परस्पर-विरोधी तत्त्व पाए जाते हैं, और इनके काव्य-संगीत में विषम स्वर झंकृत होते हैं। निराला एक-साथ आत्मनिष्ठ तथा वस्तु-निष्ठ हैं; कवि एवं योगी हैं; छायावादी एवं प्रगतिवादी हैं; सरल एवं दुरूह हैं; कोमल तथा कठोर हैं, यथार्थवादी तथा अध्यात्मवादी हैं। इस प्रकार इनका व्यक्तित्व तथा काव्य विपरीत धाराओं का संगम है। एक ओर इनकी 'जूही की कली' छायावादी एवं रहस्यवादी रचना है और दूसरी ओर 'कुकुरमुत्ता' यथार्थवादी एवं प्रगतिशील कृति है। इन दोनों रचनाओं में वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से भारी अन्तर पाया जाता है। यह कवि की विकासशील जीवन-दृष्टि का परिणाम भी हो सकता है। इन दोनों परस्पर-विरोधी कविताओं में निराला की अनुभूति बुद्धि-गत न हो कर हृदयगत है। इसलिये इनके काव्य में न तो प्रसाद की एकस्वरता है, न ही महादेवी की एकतानता है और न ही पंत की एक मूल प्रवृत्ति है जो सदैव समन्वय की खोज में व्यस्त रही है। प्रसाद के शब्दों में 'इनके काव्य में पिक की पंचम पुकार और कनेरी की मीठी तान ही नहीं, सब स्वरों का समारोह है।' इन स्वरों में विविधता एवं विषमता है। इसलिये यदि इनके काव्य को आरकेस्टरा-संगीत की संज्ञा दी जाए तो अनुचित न होगा, जिसमें परस्पर-विरोधी स्वरों की स्थिति को स्वीकार किया जाता है। परन्तु इस संगीत का मूलाधार भी होता है। निराला के काव्य का मूलाधार उनका गतिशील व्यक्तित्व है जो अन्ततः बुद्धि-तत्त्व से प्रेरित तथा प्रभावित है। इनके काव्य में कल्पना-तत्त्व, राग-तत्त्व की अपेक्षा बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता है जो अन्य तत्त्वों को अनुशासित करता है और जिसकी ओर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने संकेत

भी किया है। इस बुद्धि-तत्त्व ने इनके व्यक्तित्व तथा काव्य को विविधता तथा अनेकरूपता प्रदान की है।

निराला के काव्य का मूल्यांकन करने के लिये उनके व्यक्तित्व से परिचित होना अपेक्षित है। एक साहित्यिक साधक होने के नाते उन्हें जीवन में कल्पनातीत संघर्ष करना पड़ा था और इस संघर्ष ने उनके व्यक्तित्व को एक विशिष्ट साँचे में ढाल दिया। निराला के काव्य का केन्द्र उनका बहुमुखी व्यक्तित्व है और इस व्यक्तित्व के मूल में कवि का विद्रोही स्वभाव है। अपने उद्धत स्वभाव, अभय आचरण, निष्कपट हृदय, उद्दाम अहंभाव के कारण कवि ने जीवन की विपरीत परिस्थितियों से समझौता करना नहीं सीखा, उन्हें प्रायः चुनौती ही दी। इसलिये वह झुकने की बजाय टूटा और टूटने के स्वर को उनकी विक्षिप्त मानसिक स्थिति में सुना जा सकता था। निराला में उन्माद या विक्षेप की अवस्था उनके व्यक्तित्व के विघटन को सूचित करती थी। इसके अनेक कारण हो सकते हैं जिनमें शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, पारिवारिक तथा आर्थिक कारणों की ओर संकेत किया गया है, परन्तु इस विघटन का अन्तिम विश्लेषण अभी अपेक्षित है। इसमें सन्देह की सम्भावना नहीं हो सकती कि निराला के काव्य की रीढ़ उनका पौरुषमय व्यक्तित्व है जिसे किसी निश्चित चौखटे में फिट करना असम्भव है। उनके व्यक्तित्व तथा काव्य में अभिन्नता होने के कारण उनके काव्य का मूल्यांकन भी एक जटिल समस्या बन गया है। उनकी अनुभूतियाँ इतनी परस्पर-विरोधी हैं और इनकी अभिव्यक्ति इतनी विविध तथा विभिन्न है कि उनके काव्य के विवेचन को किसी एक सूत्र में बाँधना दुष्कर है। एक ओर उनकी कृतियों में उद्दाम वैयक्तिकता का स्वर ध्वनित है, दूसरी ओर इनमें जनवाद की ध्वनि निकलती है, तीसरी ओर इनमें रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। वह इन विषम स्वरों में किसी सामंजस्य अथवा समन्वय को स्थापित करने में असफल ही रहे हैं। इसलिये उनके

असाधारण व्यक्तित्व का विस्फोट ही उनके काव्य को विशिष्ट रूप देता है। यह दोष ही उनके काव्य का गुण है। उनके काव्य से अवगत होने के लिये उनके जीवन तथा मानसिक धरातल के साथ तादात्म्य स्थापित करना आवश्यक है और इसके अभाव में उनके काव्य-सागर के किनारे बैठ कर लहरों को गिना जा सकता है, परन्तु साहस के साथ डुबकी लगा कर मोती नहीं निकाले जा सकते।

निराला का जन्म सन १८९६ में महिषादल राज्य जिला मेदिनीपुर (बंगाल) में हुआ; परन्तु इनका वास्तविक घर उत्तर प्रदेश में उन्नाव जिले के गढ़ाकोला गाँव में है। उनके पिता महिषादल राज्य में काम करने के कारण सपरिवार वहीं रहते थे। इनका जन्म एक भरे-पूरे परिवार में हुआ। निराला बचपन से ही विधि के कोप का भाजन बने रहे और इनके दुःखमय जीवन-नाटक में सुख के दृश्य गिनती के हैं। जन्म के तीन साल बाद माँ का देहान्त हो गया। शैशवावस्था में माँ के निधन से जो एक अभाव व्यक्ति के जीवन में आ जाता है और जिसे पूरा करना कठिन होता है उसकी ओर मनोवैज्ञानिक संकेत करते हैं। पिता का स्वभाव कठोर था। बालक निराला को इसका कटु अनुभव तब हुआ जब उसके पिता उसे मारने में इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें भूल जाता था कि दो विवाह के बाद पाए हुए इकलौते पुत्र को मार रहे हैं। इस सम्बन्ध में निराला का कथन है—'मैं भी स्वभाव न बदलने के कारण मार खाने का आदी हो गया था।' इस प्रकार मातृहीन बालक के लिये पिता का उद्धत स्वभाव घाव पर नमक का काम कर सकता था। इस ताड़न से बालक की सहनशक्ति में वृद्धि हुई या उसकी विद्रोही वृत्ति को विकास मिला यह कहना कठिन है। इतना निश्चित है कि कवि के संवेदनशील मन को ठेस अवश्य लगी होगी। इसके फलस्वरूप वह परम्परागत रूढ़ियों तथा सामाजिक बन्धनों का घोर विरोध करने के लिये शक्ति-संचय करने लगा। निराला का संबंध गढ़ाकोला के एक

सामान्य परिवार से रहा है। यह परिवार निम्न कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की एक साधारण जाति से सम्बद्ध है, जिसे बुरी दृष्टि से देखा जाता है। इस असंतोषजनक स्थिति ने भी हीनता की भावना को परोक्ष रूप में जाग्रत किया जिसकी पूर्ति के लिये कवि ने विद्रोह का आश्रय लिया और इस समाज की किसी भी रूढ़ि का पालन नहीं किया। इसका परिचय उनकी पुत्री सरोज के विवाह की पद्धति से मिल जाता है। इनकी स्कूली शिक्षा साधारण स्तर की थी। इस अभाव की पूर्ति वह विक्षेप की अवस्था में भी स्वयं को भारत का पहला डी० लिट० बता कर करते थे। बँगला इनकी मातृभाषा के समान रही है, अंग्रेजी की शिक्षा इन्होंने हरिपद घोषाल से प्राप्त की, संस्कृत का ज्ञान भारतीय दर्शन में स्वाभाविक रुचि के कारण अर्जित किया और हिन्दी के लिये ममता इनकी पत्नी के कारण थी। इस प्रकार निराला अन्य भाषाओं के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त हिन्दी के क्षेत्र में उतरे जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी रचनाओं में हिन्दी के अन्य कवियों की अपेक्षा नवीनता का होना नितान्त स्वाभाविक हो गया। विद्रोही स्वभाव और रूढ़िगत मान्यताओं से मुक्ति ने कवि को एक नवीन पथ प्रशस्त करने में सहायता दी। निराला के दुखमय जीवन में उनका विवाह एक सुखद क्षण था जो क्षणिक सिद्ध हुआ। उनकी पत्नी मनोहरादेवी वास्तव में मनोहरा तथा देवी थी, रूपवती और गुणवती दोनों थी। इनका विवाह चौदह साल की आयु में सम्पन्न हुआ, परन्तु इक्कीस साल की तरुणावस्था में पत्नी का देहान्त हो गया। यह माँ के निधन के बाद उनके संवेदनशील हृदय पर विधाता की दूसरी गहरी चोट थी जिसे सहन करने के लिये असाधारण शक्ति अपेक्षित थी। विधि का कोप अभी शान्त नहीं हुआ। उनके जीवन में तीसरा गहरा आघात तब पड़ा जब उनकी विवाहिता पुत्री सरोज का निधन हुआ जिस पर कवि ने 'सरोज स्मृति' नामक शोक-गीत की रचना की। शैशवावस्था में माँ, तरुणावस्था में पत्नी और प्रौढ़ावस्था में पुत्री

की मृत्यु के कारण घायल की गति को घायल ही जान सकता है। इसके अतिरिक्त पिता के देहान्त ने पारिवारिक संकट को इतना गहराया कि निराला का व्यक्तित्व पराजित होने के स्थान पर दृप्त हुआ। इसलिये महादेवी ने उनके सम्बन्ध में लिखा है—'अविराम संघर्ष और निरन्तर विरोध का सामना करने से जो एक आत्मनिष्ठा उत्पन्न हो गई है उसी का परिचय हम उनकी दृप्त दृष्टि में पाते हैं।'[1] एक संवेदनशील साहित्यकार के नाते कवयित्री ने निराला के जीवन की विपरीत परिस्थितियों को इन शब्दों में व्यक्त किया है—'उनके निकट माता, बहन, भाई आदि के कोमल साहचर्य्य के अभाव का ही नाम शैशव रहा है। जीवन का वसन्त ही उनके लिए पत्नी-वियोग का पतझड़ बन गया है। आर्थिक कारणों ने उन्हें अपनी मातृहीन सन्तान के प्रति कर्त्तव्य-निर्वाह की सुविधा भी नहीं दी। पुत्री के अन्तिम क्षणों में वे निरुपाय दर्शक रहे और पुत्र को उचित शिक्षा से वंचित रखने के कारण उसकी उपेक्षा के पात्र बने।' इस प्रकार कवि को कठोर साधना करनी पड़ी, परन्तु अपनी अदम्य शक्ति के कारण दया का पात्र न हो कर उन्हें श्रद्धा एवं घृणा का पात्र बनना अधिक मान्य रहा। विधि के घोर एवं निरन्तर विरोध ने उनके पौरुषमय व्यक्तित्व को सदैव चुनौती दी जिसे उन्होंने सदैव स्वीकार किया। साहित्य के क्षेत्र में भी मान्यता प्राप्त करने के लिये उन्हें कठोर यातना सहन करनी पड़ी। इनकी प्रथम रचना 'जूही की कली' जो मुक्त छन्द में है, जिसकी धाक सन १९१६ से ही जम चुकी थी, 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्वारा लौटाई गई थी। हिन्दी-काव्य में मुक्त छन्द को मान्यता दिलाने के लिये निराला को जिस विरोध एवं उपहास का सामना करना पड़ा वह एक ऐतिहासिक घटना है। उनके व्यक्तित्व में हृदय की स्वच्छन्द पुकार है, मन की मुक्त दशा है,

---

१. महाप्राण निराला पृ० ७।

रूढ़ियों को तोड़ फेंकने का उन्माद है। गंगाप्रसाद पाण्डेय ने उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए उनमें नवीनता की झक का विस्तृत उल्लेख किया है।[1] इसका उदाहरण कवि की इन संबोधनात्मक पंक्तियों में उपलब्ध होता है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्धविकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़ कर बंधनमय छन्दों की छोटी राह।[2]

इस प्रकार वह अपने काव्यादर्श को एक उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित करने के पक्ष में रहे हैं। वह बन्धनमय छन्दों के पथ को सीमित मानते हैं। इस पथ को प्रशस्त करने के लिये स्वच्छन्द छन्द अथवा मुक्त छन्द को अपनाना ही उनके काव्य तथा जीवन का उद्देश्य रहा है। बन्धनमय छन्दों की छोटी राह रूढ़िगत जीवन का प्रतीक है। सब प्रकार की रूढ़ियों के परित्याग में ही हिन्दी के काव्य तथा मानव के व्यक्तित्व का कल्याण है। यहाँ रूढ़ियों से आशय सामन्ती संस्कृति की जड़ मान्यताओं से है। निराला की दृष्टि में काव्य तथा जीवन का पट विशाल है। वह 'कल्पना के कानन की रानी' कविता से याचना करते हैं—मेरी अखिल पुरातन-प्रियता हर दो'। इस प्रकार पुरातन के मोह से मुक्ति पाने में और नवीनता के प्रति ममता में कवि की मूल जीवन-दृष्टि का परिचय मिल जाता है जिसने उनके व्यक्तित्व को प्रेरित और काव्य को प्रभावित किया है।

निराला के व्यक्तित्व का विश्लेषण उनके काव्य के मूल्यांकन से अधिक कठिन है। इनके व्यक्तित्व का विकास जिस युग में हुआ है वह भारतीय सांस्कृतिक जागरण का काल था। इनके व्यक्तित्व को दार्शनिक आधार रामकृष्ण परमहंस की भाव-साधना और विवेकानन्द के वेदान्ती

---

१. महाप्राण निराला : पृष्ठ ३५
२. अनामिका : प्रगल्भ प्रेम : पृष्ठ ३४

अद्वैतवाद से मिला और साहित्यिक आधार रवींद्रनाथ ठाकुर की स्वच्छन्दतावादी काव्य-रचनाओं से प्राप्त हुआ। इस प्रकार उन्होंने आत्मविश्वास का पाठ स्वामी विवेकानन्द के निष्कपट हृदय, अभय आचरण तथा उद्धत स्वभाव से पढ़ा। इसके अतिरिक्त निराला स्वयं को सदैव हिन्दी का रवीन्द्रनाथ घोषित करते रहे और इस प्रतिद्वन्द्विता में स्पर्धा का भाव ही रहा है। जीवन में कवीन्द्र की सफलता ने निराला की विफलता-भावना को अधिक गहराया है। इस तुलना में हिन्दी के कवि को पराजय का मुँह देखना पड़ा जिसने उनके व्यक्तित्व को अस्तव्यस्त करने में योग दिया। निराला का आत्मविश्वास इतना अडिग था और उनका संकल्प इतना दृढ़ था और उनकी साधना इतनी कठोर थी कि उन्होंने पराजित होकर भी स्वयं को पराजित मानने से इनकार ही किया। इस अस्वीकृति ने उनके व्यंग्य को तीक्ष्ण बनाया जिसका परिचय उनकी रचनाओं में उपलब्ध होता है। इस व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण ने उनके व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने के लिये कवच का काम दिया। निराला कभी भ्रान्त एवं क्लान्त होकर अपनी पराजय को स्वीकार करते रहे और कभी संन्यास लेकर पलायन करने का भी निश्चय करते रहे। महादेवी एक बार कवि के इस निश्चय को क्रियाशील रूप में परिणत हुआ देख कर लिखती हैं—'एकादशी के सवेरे स्नान, हवन आदि करके जब वे निकले तब गैरिक परिधान पहन चुके थे। अँगोछे के अभाव और वस्त्रों में रंग की अधिकता के कारण उनके मुँह-हाथ आदि ही नहीं विशाल शरीर भी गैरिक हो गया था।'[1] इस दृश्य को महादेवी ने जब देखा तब वह कहने लगे—'अब ठीक है। जहाँ पहुँचे किसी नीम, पीपल के नीचे बैठ गए। दो रोटियाँ माँग कर खा लीं और गीत लिखने लगे।' इन दो रोटियों का उल्लेख मुहावरे के लिये तो उचित जान

---

१. महाप्राण निराला : पृ० ६, ७

पड़ता है परन्तु वास्तव में निराला के व्यक्तित्व में निवृत्ति तथा प्रवृत्ति का विलक्षण सम्मिश्रण है। एक ओर जीने की इतनी अथक चाह है और दूसरी ओर वैराग्य के लिये इतनी तीव्र उत्कण्ठा है कि वह दोनों में डोलते रहे थे। जीवन के उदात्त स्वरूप की वह कामना करते रहे थे और उसके तुच्छ पक्ष को सहन करते रहे। इस विषमता ने भी उनके व्यक्तित्व को मथित किया। उनकी स्पष्टवादिता सहयोगियों तथा आलोचकों को खलती रही है। गंगाप्रसाद पाण्डेय का मत[1] है कि उनकी वैराग्य की लत पुरानी थी और यह उनकी पारिवारिक स्थिति, अनावश्यक उपेक्षा और वेदान्त-प्रियता का परिणाम थी।[1] निराला का स्वभाव निश्छल और उदार था। उनमें वाणी का विलास नहीं किन्तु हृदय की निष्कपट अभिव्यक्ति थी। इसलिये वह कथ्य को अधिक महत्त्व देते हुए लिखते हैं—

जैसे हम हैं वैसे ही रहें,
लिये हाथ एक-दूसरे का अतिशय सुख के सागर में बहें।
जो चाहें, कहें वे कहें।

इन पंक्तियों के द्वारा उन्होंने उन साहित्यिक मठाधीशों पर आक्षेप किया है जो उन्हें तिरस्कृत तथा अपमानित करते रहे। सम्पादकों ने उनकी रचनाओं को लौटाया, हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें पुरस्कार से प्रायः वंचित रखा, विश्वविद्यालयों ने उनके काव्य के अध्ययन का बहिष्कार किया। उनके स्वर्णजयन्ती के अवसर को भी उत्साह के साथ नहीं मनाया गया। इसलिये वह स्वयं को इस ब्राह्मण समाज का अछूत समझते रहे। दुनिया उनको पागल कहती थी वह दुनिया को पागल कहते थे। समाज उनके व्यक्तित्व को एक साँचे में ढला देखना चाहता था; परन्तु उनके व्यक्तित्व को किसी निश्चित साँचे में ढालना

---

१. महाप्राण निराला : पृ० १८६

अद्वैतवाद से मिला और साहित्यिक आधार रवींद्रनाथ ठाकुर की स्वच्छन्दतावादी काव्य-रचनाओं से प्राप्त हुआ। इस प्रकार उन्होंने आत्मविश्वास का पाठ स्वामी विवेकानन्द के निष्कपट हृदय, अभय आचरण तथा उद्धत स्वभाव से पढ़ा। इसके अतिरिक्त निराला स्वयं को सदैव हिन्दी का रवीन्द्रनाथ घोषित करते रहे और इस प्रतिद्वन्द्विता में स्पर्धा का भाव ही रहा है। जीवन में कवीन्द्र की सफलता ने निराला की विफलता-भावना को अधिक गहराया है। इस तुलना में हिन्दी के कवि को पराजय का मुँह देखना पड़ा जिसने उनके व्यक्तित्व को अस्तव्यस्त करने में योग दिया। निराला का आत्मविश्वास इतना अडिग था और उनका संकल्प इतना दृढ़ था और उनकी साधना इतनी कठोर थी कि उन्होंने पराजित होकर भी स्वयं को पराजित मानने से इनकार ही किया। इस अस्वीकृति ने उनके व्यंग्य को तीक्ष्ण बनाया जिसका परिचय उनकी रचनाओं में उपलब्ध होता है। इस व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण ने उनके व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने के लिये कवच का काम दिया। निराला कभी भ्रान्त एवं क्लान्त होकर अपनी पराजय को स्वीकार करते रहे और कभी संन्यास लेकर पलायन करने का भी निश्चय करते रहे। महादेवी एक बार कवि के इस निश्चय को क्रियाशील रूप में परिणत हुआ देख कर लिखती हैं—'एकादशी के सवेरे स्नान, हवन आदि करके जब वे निकले तब गैरिक परिधान पहन चुके थे। अँगोछे के अभाव और वस्त्रों में रंग की अधिकता के कारण उनके मुँह-हाथ आदि ही नहीं विशाल शरीर भी गैरिक हो गया था।'[1] इस दृश्य को महादेवी ने जब देखा तब वह कहने लगे—'अब ठीक है। जहाँ पहुँचे किसी नीम, पीपल के नीचे बैठ गए। दो रोटियाँ माँग कर खा लीं और गीत लिखने लगे।' इन दो रोटियों का उल्लेख मुहावरे के लिये तो उचित जान

---

१. महाप्राण निराला : पृ० ६, ७

पड़ता है परन्तु वास्तव में निराला के व्यक्तित्व में निवृत्ति तथा प्रवृत्ति का विलक्षण सम्मिश्रण है। एक ओर जीने की इतनी अर्थक चाह है और दूसरी ओर वैराग्य के लिये इतनी तीव्र उत्कण्ठा है कि वह दोनों में डोलते रहे थे। जीवन के उदात्त स्वरूप की वह कामना करते रहे थे और उसके तुच्छ पक्ष को सहन करते रहे। इस विषमता ने भी उनके व्यक्तित्व को मथित किया। उनकी स्पष्टवादिता सहयोगियों तथा आलोचकों को खलती रही है। गंगाप्रसाद पाण्डेय का मत[1] है कि उनकी वैराग्य की लत पुरानी थी और यह उनकी पारिवारिक स्थिति, अनावश्यक उपेक्षा और वेदान्त-प्रियता का परिणाम थी।[1] निराला का स्वभाव निश्छल और उदार था। उनमें वाणी का विलास नहीं किन्तु हृदय की निष्कपट अभिव्यक्ति थी। इसलिये वह कथ्य को अधिक महत्त्व देते हुए लिखते हैं—

जैसे हम हैं वैसे ही रहें,
लिये हाथ एक-दूसरे का अतिशय सुख के सागर में बहें।
जो चाहें, कहें वे कहें।

इन पंक्तियों के द्वारा उन्होंने उन साहित्यिक मठाधीशों पर आक्षेप किया है जो उन्हें तिरस्कृत तथा अपमानित करते रहे। सम्पादकों ने उनकी रचनाओं को लौटाया, हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें पुरस्कार से प्रायः वंचित रखा, विश्वविद्यालयों ने उनके काव्य के अध्ययन का बहिष्कार किया। उनके स्वर्णजयन्ती के अवसर को भी उत्साह के साथ नहीं मनाया गया। इसलिये वह स्वयं को इस ब्राह्मण समाज का अछूत समझते रहे। दुनिया उनको पागल कहती थी वह दुनिया को पागल कहते थे। समाज उनके व्यक्तित्व को एक साँचे में ढला देखना चाहता था; परन्तु उनके व्यक्तित्व को किसी निश्चित साँचे में ढालना

---

१. महाप्राण निराला : पृ० १८६

असम्भव ही रहा। उनका संन्यास लेने की सोचना और इसके लिये गैरिक वस्त्र धारण करना पराजय तथा पलायन-भाव का द्योतक हो सकता है और विवेकानन्द के प्रभाव का परिणाम भी हो सकता है। संन्यास लेने के लिये गैरिक परिधान धारण करना भी तो एक रूढ़ि का पालन करना है। निराला सदैव रूढ़ियों के शत्रु और जड़ परम्पराओं के विरोधी रहे। इसलिये गैरिक परिधान की कल्पना उनके व्यक्तित्व में असंगति की ही सूचक थी और उनका व्यक्तित्व इस प्रकार की असंगतियों से मुक्त नहीं कहा जा सकता। उनका व्यक्तित्व आसक्ति तथा अनासक्ति, कोमलता तथा कठोरता, मधुरता तथा ओजस्विता, आदर्श तथा यथार्थ, भावुकता तथा व्यंग्यात्मकता, वैयक्तिकता तथा सामाजिकता, भौतिकता तथा आध्यात्मिकता, द्वैतता तथा अद्वैतता, विनम्रता तथा उद्धतता आदि विरोधी भावों एवं विचारों का विलक्षण पुंज है। अतः उनके व्यक्तित्व की विविधता ही उनके काव्य को अनेकरूपता प्रदान करती है।

इस प्रकार निराला का व्यक्तित्व इतना विलक्षण था कि हिन्दी में उसका सानी मिलना कठिन है। इस सम्बन्ध में किसी ने निराला से प्रश्न किया था और उन्होंने उत्तर दिया था—'देखते नहीं मेरे पास एक कवि की वाणी, कलाकार के हाथ, पहलवान की छाती और फिलासफर के पैर हैं।' इस विवरण के साथ यदि उनका संवेदनशील हृदय जोड़ दिया जाए तो उनके व्यक्तित्व का चित्र अधूरा नहीं रह जाता। उनके काव्य का स्वरूप अन्य छायावादी कवियों से भिन्न है। वह सब से अलग अपने आप में अकेले तथा निराले हैं। उनका जीवन सन्तों जैसा रहा है। साहित्य-साधना के अतिरिक्त उन्हें अन्य किसी से मोह नहीं था। स्वादिष्ट भोजन में निराला की रुचि इसका अपवाद हो सकती है। उन्हें पाकशास्त्र का उतना ही ज्ञान था जितना छन्दशास्त्र का। उन के काव्य पर रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के चिन्तन का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसलिये उन्हें विवेकानन्द का साहित्यिक प्रतिनिधि भी

कहा गया है। स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त के दोनों मूल तत्त्वों को निराला ने आत्मसात किया हुआ था—शक्ति-साधना और करुणा। अतः उनके जीवन तथा काव्य में पौरुष तथा मधुर की छटा देखने को मिलती है। इस प्रभाव को वह आज विक्षेप की अवस्था में भी स्वीकार करते थे—'यह तो तुम जानते ही हो कि मैंने विवेकानन्द का सारा वर्क हजम कर लिया है। जब इस प्रकार की बात मेरे अन्दर से निकलती है तो समझो, यह विवेकानन्द बोल रहा है।'[1] इस से स्पष्ट है अध्यात्म के प्रति निराला की कितनी गहन आस्था है जो बुद्धिगत न हो कर हृदयगत है। यह कभी-कभी जब जीवन के कटु यथार्थ से टकराती है तब उनका काव्य व्यंग्य के गहरे रंग में रँग जाता है। निराला जब 'मतवाला' में सम्पादन का काम करते थे तब से वह एक गहरी डुबकी में डूबे हुए से रहते थे।[2] इनका निराला नाम भी तब से हिन्दी जगत के सामने आया था। डा० धनंजय वर्मा ने निराला के गीतों में परमहंस की भाव-तन्मयता तथा अन्य रचनाओं में विवेकानन्द की शक्ति-साधना की अभिव्यक्ति की ओर संकेत किया है।[3] इन की दृष्टि में निराला के अहं का स्वरूप न तो भौतिक है और न ही मनोवैज्ञानिक है, वह वेदान्तिक है, सोऽहं है, अहं ब्रह्मास्मि है। इस अहं को न किसी का भय होता है और न ही इसे किसी भौतिक सीमा में बाँधा जा सकता है। यह अहं सामाजिक नियमों की भी उपेक्षा करता है। इसलिये इसका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर करना अनुचित है। निराला का अहं न तो हीन-ग्रन्थि का परिपूरक है और न ही उच्च ग्रन्थि का पोषक है। इसलिये यह उनके आत्मा की अभिव्यक्ति ही हो सकता है। डा० वर्मा

---

१. अभिनन्दन ग्रंथ : पृष्ठ ११४।

२. अभिनन्दन ग्रंथ : पृष्ठ १०७, ११२, ११३।

३. धनंजय वर्मा, निराला पृ० ५४

के इस वेदान्तिक निरूपण को अन्तिम मत के रूप में स्वीकार करना कठिन जान पड़ता है। मानव का व्यक्तित्व इतना रहस्यमय होता है और इस प्रकार इसका सरलीकरण आलोचनात्मक साहस का द्योतक ही कहा जा सकता है। इसके विपरीत निराला के व्यक्तित्व को असंगतियों के पुंज के रूप में स्वीकार करना उसे मानवीय रूप देने के समान है।

निराला की काव्य-रचनाओं को किसी निश्चित परिधि में बाँधना उतना ही कठिन है जितना उनके व्यक्तित्व को किसी सीमा में आबद्ध करना दुष्कर है। इनकी काव्य-रचनाओं को इस काल-क्रम में सूत्रित किया जाता है—परिमल (१९३०), गीतिका (१९३६), अनामिका (१९३७), तुलसीदास (१९३८), कुकुरमुत्ता (१९४५), नये पत्ते (१९४६), अणिमा, बेला (१९४६), अर्चना (१९५०), आराधना (१९५३), गीत गूँज (१९५४)। अनामिका का प्रथम संस्करण जो अब अप्राप्य है १९२३ में प्रकाशित हुआ था और जिसका परिष्कृत एवं संशोधित संस्करण १९३७ में प्रकाशित हुआ। इनकी काव्य-रचनाओं का संग्रह 'अपरा' जिसका सम्पादन निराला, महादेवी तथा गंगाप्रसाद पाण्डेय ने किया था १९४८ में पहली बार प्रकाशित हुआ था। इसमें कवि के अनुरोध करने पर भी महादेवी ने 'कुकुरमुत्ता' को सम्मिलित नहीं किया। इन सब रचनाओं का मूल्यांकन करने के लिये इन्हें सुविधा की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जाता है। इस विभाजन का आधार वस्तुगत तथा सुविधागत है। पहले चरण में 'परिमल' की रचनाओं को रखा जाता है जिसमें छन्दोबद्ध रचनाएँ तथा स्वच्छन्द छन्द अथवा मुक्त छन्द सम्बन्धी रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ प्रधानतः स्वच्छन्दतावादी अथवा छायावादी काव्य से सम्बद्ध हैं। दूसरे चरण में निराला के गीतों को रखा जाता है जिन में गीतिका, अर्चना और आराधना तथा गीत-गूँज की रचनाओं को लिया जाता है। तीसरे

चरण में उन रचनाओं को लिया जाता है जिन में महाकाव्य का औदात्य है और इसमें अनामिका, सरोज-स्मृति, राम की शक्ति पूजा, तुलसीदास आते हैं। चौथे चरण में निराला की व्यंग्यात्मक काव्य-रचनाएँ रखी जाती हैं जिन में कुकुरमुत्ता, नये पत्ते, बेला, अणिमा आते हैं। इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी काव्य से व्यंग्यात्मक काव्य तक उनकी रचनाओं को क्रमबद्ध किया जाता है। इसके मूल में कवि का गत्यात्मक व्यक्तित्व है जो व्यक्ति-चिन्तन से समष्टि-चिन्तन की ओर उन्मुख हुआ है; व्यक्ति-विकास से समाज-मंगल की ओर अभिमुख है। निराला के काव्य का विकास आत्मनिष्ठ से वस्तुनिष्ठ होने में लक्षित होता है। इस विकास का आभास 'परिमल' तथा 'कुकुरमुत्ता' के अन्तर में भी उपलब्ध होता है। इसमें संदेह नहीं है कि 'परिमल' की रचनाएँ भी वैयक्तिक तथा सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं, परन्तु क्रमशः इस चेतना का संस्कार, परिष्कार तथा निखार होता गया है। इसलिये निराला के काव्य-विकास को किसी यांत्रिक साँचे में फिट करना कठिन है। उनके काव्य में वेदान्ती अद्वैतवाद का स्वर भी आत्मा की स्वतंत्रता और आत्माओं की समानता के भाव को ही पुष्ट करता है। यह युग के व्यक्ति-चिन्तन या समष्टि-चिन्तन का परिणाम है। इसके मूल में व्यक्ति विकास तथा समाज-मंगल की दोनों भावनाएँ हैं जो छायावादी तथा प्रगतिवादी जीवन-दृष्टियों से प्रभावित हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि निराला न तो व्यक्ति-चिन्तन पर आधारित पूँजीवादी संस्कृति को अपना सके हैं और न ही समष्टि-चिन्तन पर आश्रित समाजवादी संस्कृति को पूरी तरह आत्मसात कर सके हैं। वह भारतीय संस्कृति के मूल में जो समाज-मंगल की उदात्त एवं सामान्य भावना है उसे स्वीकारने के पक्ष में हैं। इस आदर्शवादी जीवन-दृष्टि से अनुप्राणित होकर वह जीवन और जगत का मूल्यांकन करते रहे हैं। पूँजीवादी तथा समाजवादी संस्कृति में आर्थिक पक्ष को जो महत्त्व दिया जाता है वह कवि की

आत्मा को अमान्य है। वह यह अनुभव करते थे कि साम्यवादियों तथा पूँजीवादियों में एक मात्र अन्तर सम्पदा के स्वामित्व के सम्बन्ध में है। साम्यवादी इस सम्पदा के सामूहिक नियंत्रण तथा वितरण के पक्ष में है और पूँजीवादी इसके वैयक्तिक स्वामित्व का समर्थक है। वस्तुतः इन परस्पर विरोधी जीवन-दृष्टियों में भारी अन्तर पाया जाता है—एक सामाजिक विकास का मूल्यांकन व्यक्ति-सत्य तथा व्यक्ति-हित के आधार पर करती है और दूसरी व्यक्ति-हित को सामूहिक विकास की दृष्टि से आँकती है। इन दोनों में विरोध को शान्त करने अथवा समन्वय को स्थापित करने में निराला सफल नहीं हो पाए हैं। प्रसाद तथा महादेवी के व्यक्तित्व इन परस्पर-विरोधी जीवन-दृष्टियों से ग्रस्त नहीं हैं और पन्त ने अपने विलक्षण समन्वयशील दृष्टि-कोण के आधार पर इनमें परस्पर-विरोध को शान्त किया है जिसका अन्तिम परिणाम इनकी अरविन्दवादी रचनाओं में लक्षित होता है। निराला के काव्य में विविधता, व्यापकता तथा गतिशीलता तो अवश्य उपलब्ध होती है, परन्तु इसमें समन्वयशीलता का अभाव है। इसलिये 'जूही की कली' जहाँ उन्मुक्त प्रेम तथा स्वच्छन्दतावादी जीवन-दृष्टि का प्रतीक है वहाँ 'तुम और मैं' दार्शनिक चिन्तन तथा रहस्यवादी जीवन-दृष्टि का परिणाम है; जहाँ 'शिवाजी का पत्र' में राष्ट्रीयता का स्वर ध्वनित हुआ है वहाँ 'कुकुरमुत्ता' में प्रगतिशीलता को वाणी मिली है; जहाँ 'बादल राग' क्रान्ति का उद्घोष है वहाँ 'यमुना के प्रति' सांस्कृतिक चेतना का उद्बोध है; जहाँ 'सरोज-स्मृति' में वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति है वहाँ 'नये पत्ते' में सामाजिकता की ध्वनि है। इस प्रकार 'परिमल' से लेकर 'गीत-गूँज' तक निराला की काव्य-साधना के विविध स्तर तथा विभिन्न आयाम हैं।

निराला की काव्य-साधना का पहला आयाम 'परिमल' की कविताओं में उपलब्ध होता है। इसका मूल स्वर बन्धन से मुक्ति पाने में झंकृत हुआ है। निराला की दृष्टि में मुक्त-काव्य मुक्त-छन्द से अभिन्न रूप में

सम्बद्ध है, स्वच्छन्द काव्य तथा स्वच्छन्द छन्द में अन्तर का अभाव है। उन्होंने मुक्त-छन्द को मुक्त-काव्य का प्रतीक मान कर इसकी व्यापकता को सिद्ध करने और इसके महत्त्व को स्थापित करने का घोर प्रयास किया है। 'परिमल' की भूमिका में मुक्तछन्द का सशक्त प्रतिपादन तथा विशद निरूपण हुआ है। निराला मानव तथा कविता की मुक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कार्यों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना।'[1] अपने मत की पुष्टि के लिये उन्हें वैदिक ऋचाओं का आश्रय लेना पड़ा है जिनकी रचना मुक्तछन्द में हुई है। इसकी उपादेयता को सिद्ध करने के लिये वह ब्रह्म का उदाहरण देने से भी नहीं चूकते और गायत्री-मन्त्र को अपनी मुक्ति का आधार बनाना नहीं भूलते। ब्रह्म का स्वरूप मुक्त है और गायत्री-मन्त्र भी मुक्त स्वभाव का प्रतीक है। इस 'मुक्त स्वभाव' में निराला की स्वच्छन्दतावादी जीवन-दृष्टि, उनके विद्रोही व्यक्तित्व तथा क्रान्तिशील मन का आभास मिलता है और इसमें ही तत्कालीन युग-चेतना झलकती है। वह काव्य और छन्द की मुक्तावस्था का निरूपण इसलिये करते हैं कि उन्हें सामन्ती संस्कृति के जड़ बन्धन असह्य एवं अमान्य हैं। इस प्रकार वह बन्धन का विरोध करते हुए स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता की मान्यताओं को स्थापित करना चाहते हैं। इसके साथ ही वह काव्य की कल्पना छन्द के अभाव में भी नहीं करते। उनके काव्य के वास्तविक स्वरूप को पाने के लिये इस सूक्ष्म अन्तर से अवगत होना आवश्यक है। निराला के लिये छन्द का बन्धन बाह्य न हो कर आन्तरिक है, यांत्रिक न हो कर स्वाभाविक है, परम्परागत न हो कर वैयक्तिक है। यह उनके जीवन का मूल उद्देश्य है और उनके काव्य का मूल

---

१. परिमल : पृ० १५।

स्वर है। इस कारण डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निराला को 'वैयक्तिकतावादी' कवि की संज्ञा न दे कर 'स्वच्छन्दतावादी' कवि की संज्ञा देना अधिक उचित समझा है।[1] अन्य आलोचकों को भी छायावाद में वैयक्तिकता की गंध आती है और वे स्वच्छन्दतावाद को छायावाद से अधिक व्यापक साहित्यिक आन्दोलन मानते हैं। इसलिये वे 'परिमल' की रचनाओं को छायावादी कोटि में न रख कर स्वच्छन्दतावादी काव्य की कोटि में रखना अधिक संगत समझते हैं। निराला के मतानुसार अतुकान्त या भिन्न तुकान्त छन्द जिसमें प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त तथा सियारामशरण गुप्त, हरिऔध आदि ने काव्य-रचनाएँ की हैं नियंत्रित एवं अनुशासित है। इनका छन्द एक-एक सीमा में बँधा हुआ होने के कारण मुक्तछन्द नहीं कहा जा सकता। इनका भिन्नतुकान्त या अतुकान्त छन्द गुणों की शृंखला, मात्राओं की समता या अक्षरों की समानता के नियम से अनुशासित है। इसलिये इनके छन्द को मुक्तछन्द की संज्ञा नहीं दी जा सकती और इस कारण इन कवियों की रचनाओं को मुक्तकाव्य की कोटि में रखना अनुचित है। उनकी दृष्टि में 'मुक्तकाव्य आलाप है तो अमुक्त काव्य ताल की रागिनी है, मुक्तकाव्य वन्य प्रकृति की सुषमा है तो अमुक्त काव्य उद्यान की रमणीयता है।'[2] वह आलाप, वन्य प्रकृति और मुक्त काव्य को मुक्त 'स्वभाव' के अनुकूल समझते हैं। उनके मुक्तछन्द के निरूपण से यह ध्वनित नहीं होता कि उनके छन्द में नितान्त उच्छृंखलता है। उसमें बाह्य बन्धन की अपेक्षा आन्तरिक अनुशासन है। मुक्तछन्द का आधार भी हिन्दी का कवित्त छन्द है जो शास्त्रीय संगीत पर आधारित है। निराला इसके संगीत-पक्ष की विस्तृत व्याख्या करते हैं और इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि

---

१. हिन्दी साहित्य : पृ० ४६८।

२. परिमल : पृ० १४।

इस छन्द में निराकार आत्मा का गुण है। इस कारण यह पुरुष भी बनता है और स्त्री भी। उनके मुक्तछन्द का स्वरूप पौरुषमय और व्यंजन-प्रधान है।[1] इसका एक और कारण यह भी है कि निराला पंत के छन्द-विधान को स्वर-प्रधान राग की संज्ञा देकर उसे स्त्रैण सिद्ध करना चाहते हैं।[2]

इस परिस्थिति में 'परिमल' (१९३०) का प्रकाशन हुआ था। निराला ने इस संग्रह की रचनाओं को छन्द के आधार पर तीन खण्डों में विभक्त किया है। पहले खण्ड में सम-मात्रिक तथा दूसरे में विषम-मात्रिक कविताएँ हैं और तीसरे खण्ड में स्वच्छन्द या मुक्तछन्द में रचित कविताएँ हैं। डा० धनंजय वर्मा पंत के 'पल्लव' की अपेक्षा निराला के 'परिमल' को छायावाद का प्रतिनिधि काव्य स्वीकार करते हैं। इसका कारण वह यह बतलाते हैं कि भाव, भाषा और छन्द के रूप में काव्य के अन्तरंग तथा बहिरंग में जो क्रान्ति 'परिमल' ने उपस्थित की है वह प्रसाद के 'आँसू' और पंत के 'पल्लव' ने नहीं की।[3] 'पल्लव' में कल्पना की अधिकता है और 'आँसू' में क्रान्ति का उतना प्रक्षेप नहीं मिलता जितना 'परिमल' में उपलब्ध होता है। इसका महत्त्व मुक्तछन्द के अतिरिक्त 'मुक्त भाव' का भी है। मुक्तछन्द में सब से पहली रचना 'जूही की कली' (१९१६) है जिसे 'सरस्वती' के सम्पादक ने लौटा दिया था। यदि वह न लौटाते तो सम्भव है यह नष्ट भी हो जाती। इसका प्रकाशन 'मतवाला' के अठारहवें अंक में हुआ और कवि का पूरा नाम सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला इसके साथ दिया गया। छायावादी काव्य के इतिहास में इस रचना को एक घटना के रूप में घोषित किया

---

१. पंत और पल्लव पृ० ३६, ३७, ३८
२. पंत और पल्लव पृ० ३५
३. निराला पृष्ठ ९३

जाता है। इसकी प्रेरणा के सम्बन्ध में कवि का वक्तव्य है कि वह आधी रात को श्मशान में घूम रहे थे। महिषादल में यह उनका विलक्षण अभ्यास था। उस समय चारों ओर वासन्ती चाँदनी छिटक रही थी और वातावरण रति-भाव को उद्दीप्त करने लगा। उनका हृदय मनोहरा-देवी की मधुर स्मृति से इतना सिक्त हो गया होगा कि वह श्मशान के भयावह वातावरण को विस्मृत कर नायक-नायिका के विरह तथा मिलन की कल्पना करने लगे। इसका आधार 'जूही की कली' बनी। इसमें उन्मुक्त प्रेम तथा सहज सौन्दर्य की अभिव्यक्ति छायावादी काव्य-शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। कवि ने जूही की कली तथा मलयानिल का आश्रय लेकर प्रियतम-प्रेयसी के प्रेम को व्यंजित किया है। समस्त रचना एक संश्लिष्ट चित्र है। एकान्त वन में लता के पत्रांक में तन्वी, तरुणी जूही की कली सो रही है और दूर-देश में अपने प्रियतम का स्वप्न देखती है। उधर उसके प्रेमी मलयानिल के हृदय में अपनी प्रेयसी की मधुर स्मृति जाग उठती है। चाँदनी की धुली हुई आधी रात देख कर और कान्ता के कंपित कमनीय गात का स्मरण होते ही पवन इतना अधीर हो उठता है कि वह 'उपवन-सर-सरिता गहन-गिरि-कानन कुंज-लता-पुंजों को पार कर' वहाँ पहुँच जाता है जहाँ उसने केलि की थी। इसके उपरान्त निराला ने नायक-नायिका की प्रेम-क्रीड़ा को अनुपम शब्दावली में व्यक्त किया है। जब कपोल चूमने पर भी कली नहीं जागी तब पवन ने झोंकों की झड़ियों से उसकी सुन्दर-सुकुमार देह को इतना झकझोर डाला और उसके गोरे कपोलों को इतना मसल दिया कि युवती चौंक पड़ी और दोनों रतिकेलि में व्यस्त हो गए। इतने सांगोपांग चित्रण के बाद भी यह कहा जाता है कि 'जूही की कली' में एक कलाकार की तटस्थता है और शृंगार की अन्तिम सीमा में अभिव्यंजना में संयम नहीं छूटा।[1] यदि कवि के संयम खोने से आशय नग्न चित्रण से है तो इस

१. धनंजय वर्मा : निराला पृ० ६५

रचना को अश्लीलता की कोटि में रखना पड़ता। जहाँ तक कलाकार की तटस्थता का प्रश्न है इसके विषय में इतना कहा जा सकता है कि उसने अपनी अनुभूति को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है। प्रतीक-शैली का प्रयोग 'जूही की कली' को एक व्यापक अर्थ प्रदान करने में सहायक हुआ है। इस रचना का विवेचन अनेक दृष्टियों से किया गया है। डा० बच्चनसिंह जूही की कली को प्रोषित-पतिका नायिका के रूप में आँकते हैं और डा० धनंजय वर्मा इस मत से सहमत न होकर मलयानिल को विरही के रूप में आँकना अधिक उपयुक्त समझते हैं। वह इसके दो कारण बताते हैं—एक तो कली सो रही है और उसे विरह का भान ही नहीं है। इसलिये उसे विरहिणी नहीं कहा जा सकता। इसका दूसरा कारण यह है कि पवन को विरही के रूप में स्वीकार करने से रचना के आध्यात्मिक रूप में निखार आता है। जूही की कली आत्मा का प्रतीक है और वह माया में डूबी रहती है। वह पवन के आध्यात्मिक स्पर्श से जाग उठती है। इस प्रकार सुप्ति के बाद जागरण का भाव चित्रित हुआ है। इस जागरण को आत्मा की मुक्ति भी कहा गया है। आत्मा तम से निकल कर आलोक में आती है और आनन्द की अनुभूति को पाती है। इस प्रकार अनुभूति का स्वरूप लौकिक है या अलौकिक, भौतिक है या आध्यात्मिक अथवा दोनों—इस विषय में मतभेद पाया जाता है। निराला ने अन्य छायावादी कवियों की भाँति रति-भाव की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकात्मक शैली को अपनाया है। इस रचना में वस्तुतः स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध को अभिव्यक्ति मिली है जिसका आधार लौकिक है। इस सम्बन्ध को अनेक नाम तथा रूप दिए जाते हैं जिनमें काम, वासना, प्रेम आदि हैं। निराला इस प्रणय-व्यापार को प्रायः आनन्द में परिणत करते हैं जो उनके क्षणिक दाम्पत्य जीवन की सुखद अनुभूति का परिणाम हो सकता है। उन पर वेदान्त का भी इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि वह लौकिक आनन्द को अलौकिक रूप

में रूपान्तरित कर देते हैं। यदि काम की तुष्टि में अभाव नहीं रहता तो उसकी कल्पना अलौकिक आनन्द के रूप में करना स्वाभाविक है। इसलिये निराला की इस प्रकार की रचनाओं के अन्त में आध्यात्मिक संकेत रहता है। 'जूही की कली' में नायिका तथा नायक की कल्पना उन्मुक्त वातावरण में की गई है, रचना मुक्त छन्द में है, प्रणय की अनुभूति भी सामाजिक बन्धनों में जकड़ी हुई नहीं है। इसलिये उसका स्वरूप सहज एवं स्वाभाविक है और यह कवि की स्वच्छन्दतावादी तथा सौन्दर्यवादी जीवन-दृष्टि का परिणाम है। इसका अनुपम शब्द-चयन तथा अबाध प्रवाह मुक्त स्वर को ध्वनित करते हैं और गायन की अपेक्षा उच्चारण के आनन्द की सृष्टि करते हैं। इसमें शृंगार की अभिव्यक्ति रीतिकालीन न होकर छायावादी है, कृत्रिम न होकर स्वाभाविक है, नागरिक न होकर वन्य है, आबद्ध न होकर मुक्त है, जड़ न होकर सजीव है, वासनामय न होकर आनन्दमय है। इसमें रस के अवयव यथास्थान उपलब्ध होते हैं और काव्य के लक्षण सहज रूप में विद्यमान हैं। इसलिये छायावादी काव्य में इस रचना का विशिष्ट महत्त्व एवं उच्च स्थान है। इस प्रकार की कविताओं में 'जागृति में सुप्ति थी' तथा 'शेफालिका' को भी रखा जा सकता है जिनमें रति-भाव की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक है और प्रतीकों के माध्यम से आध्यात्मिकता की ओर संकेत किया गया है। 'जागृति में सुप्ति थी' में नायिका का स्वरूप 'जूही की कली' की नायिका से भिन्न है। डा० रामविलास ने इसे नागरिक नायिका की संज्ञा देना इसलिये उचित समझा है कि उसके मौन अधरों पर सुरापान के चिह्न विद्यमान हैं। कविता की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

जड़े नयनों में स्वप्न
खोल बहुरंगी पाँव विहग से,
सो गया सुरा स्वर
प्रिया के मौन अधरों में

क्षुब्ध एक कम्पन सा निद्रित सरोवर में

इन पंक्तियों में कवि का आशय यह है कि सरोवर में लहर के समान ही नायिका की वाणी उसके मौन अधरों में समा गई है। इसमें स्वर के लिये विशेषण सुरा है और अधरों के लिये विशेषण मौन है। इसलिये मौन अधरों पर सुरापान के चिह्न नहीं हो सकते, परन्तु स्वर सुरा की मादकता लिये हुए हैं। यहाँ भी जागरण है, परन्तु यह जागरण जूही की कली का जागरण न हो कर कवि की शब्दावली में क्रान्ति का स्वर है। पहली पाँच पंक्तियों में सोई हुई प्रिया का अनुपम चित्रण है और अगली पंक्तियों में उसके जागने का वर्णन है। जागने के बाद उसके सपने बिखर जाते हैं। इन स्वप्नों का बिखरना डा० रामविलास की दृष्टि में अपने पिछले स्वप्नों को भूलने के समान है और नवीन अरुणोदय में नये स्वप्नों की सृष्टि करना है। इसलिये उनका कथन है कवि अपनी रचनाओं में वासन्ती निशा के स्वप्नों के बदले नवप्रभात के रंग भरने लगा है।[1] इस मत के विपरीत डा० बच्चनसिंह की धारणा है कि इस रचना में भी आध्यात्मिकता ध्वनित होती है। जब तक मनुष्य अपने प्रिय के ध्यान में संलग्न रहता है, उसे सुख मिलता है और जब भौतिकता अथवा जागरण की ओर आता है उसे दुःख उठाना पड़ता है।[2] इसलिये कवि कहता है—

जाग्रत प्रभात में क्या शान्ति थी
जागृति में सुप्ति थी
जागरण क्लान्ति थी।

यदि इस रचना पर प्रतीकात्मकता तथा आध्यात्मिकता को आरोपित करना है तो डा० बच्चनसिंह की व्याख्या से सहमत होना अधिक संगत

---

१. डा० रामविलास शर्मा : निराला पृष्ठ ५७।
२. डा० बच्चनसिंह : क्रान्तिकारी कवि निराला पृष्ठ ३७।

जान पड़ता है। 'जूही की कली' की कोटि में निराला की 'शेफालिका' को भी रखा जाता है। शेफालिका भी जूही की कली की भाँति पत्रांक में सो रही है—

बन्द कंचुकी के सब खोल दिए प्यार से
यौवन-उभार ने
पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालिके
मूक-आह्वान-भरे लालसी कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

इन पंक्तियों में जिसकी शब्दावली शृंगारिक है कवि नारी-रूप में शेफालिका का चित्रण करते हैं। यह चित्र वासनात्मक है, परन्तु इसमें आध्यात्मिक रंग भी भर दिया गया है। शेफालिका के यौवन का उभार उसकी कंचुकी के बन्द खोल देता है। आकाश के शिशिर-बिन्दु चुम्बन के समान उसके लालसी कपोलों पर झरते हैं। उसके कपोलों का विकास अधीर है और वे मूक निमंत्रण से भरे हुए हैं। इसके बाद तृष्णा की प्यास एक रात में भर जाती है और शेफाली झर जाती है। इस क्षणिक जीवन के पार ही स्थायी प्रेम की उपलब्धि सम्भव है। यदि इस रचना को रहस्यात्मक रंग देना हो तो शेफाली जीवात्मा का प्रतीक बन सकती है जिसके सांसारिक बन्धन कंचुकी के बन्द के समान यौवन-उभार या प्राकृतिक विकास से टूट जाते हैं। उसे गगन के शिशिर-बिन्दुओं के समान परमात्मा का स्पर्श प्राप्त होता है। आत्मा सांसारिक बन्धनों का परित्याग कर परम धाम में पहुँचती है जहाँ अमर विराम है और मुक्त प्रणय का साम्राज्य है। इस प्रकार 'जूही की कली' 'जागृति में सुप्ति थी' और 'शेफालिका' में कवि की सौन्दर्यवादी जीवन-दृष्टि उभरती है जिसका निखार 'पंचवटी प्रसंग' में उपलब्ध होता है। इसे गीति-नाट्य की संज्ञा दी गई है। इस रचना में निराला ने नाटकीय शैली तथा मुक्तछन्द में

रामायण के कतिपय चरित्रों को उभारा है जिनमें शूर्पणखा का चरित्र एक नवीन दृष्टिकोण से अंकित किया गया है। इसकी कथा पाँच दृश्यों में विभाजित है और इसका आरम्भ राम और सीता के संवाद से होता है। सीता पंचवटी के स्वच्छन्द वातावरण को इसलिये मनोरम मानती है कि वह यहाँ जनकपुर और अयोध्या के सामाजिक बन्धनों में जकड़ी हुई नहीं है और वह राम के साथ 'मुक्त खेल खेल सकती है।' इसके तीसरे दृश्य में शूर्पणखा का रूप-चित्रण उसी के मुख से कराया गया है। वह इतनी स्वच्छन्द है कि प्रकृति भी उसकी अनुचरी बन कर आती है। उसके नेत्रों में वशीकरण, मारण और सम्मोहन की त्रिवेणी विद्यमान है। कवि उसके रूप का चित्रण इन शब्दों में करते हैं—

देख यह कपोत कंठ
बाहु-बल्ली कर-सरोज
उन्नत उरोज पीन-क्षीण कटि—
नितम्ब-भार-चरण सुकुमार
गति मन्द-मन्द
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का;
देवों-भोगियों की तो बात ही निराली है।

इस प्रकार निराला ने शूर्पणखा के चरित्र को प्रेम और स्वच्छन्दता की प्रतिमा के रूप में निर्मित किया है। इसकी प्रेरणा कवि को रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'उर्वशी' एवं 'विजयिनी' से प्राप्त हुई थी जो सुषमा तथा स्वच्छन्दता की प्रतीक हैं। शूर्पणखा के विद्रोही चरित्र की सृष्टि द्वारा कवि ने आधुनिक नारी के दृष्टिकोण को उभारा है। निराला की शूर्पणखा मैथिलीशरण गुप्त की शूर्पणखा के समान रात्रि के अन्तिम प्रहर में नहीं आती है; वह दिन के प्रकाश में राम और लक्ष्मण के सामने आती है। इस कल्पना से भी निराला का विद्रोही व्यक्तित्व स्पष्ट होता है। इस प्रकार 'जूही की कली' 'जागृति में सुप्ति थी' 'शेफालिका' तथा

शूर्पणखा में नारी का रूप-चित्रण कवि के स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण का परिणाम है। इन रचनाओं में उन्मुक्त प्रेम की पूजा तथा नारी-सौन्दर्य की आराधना है। कवि काम और वासना की अनुभूति को आनन्द में परिणत करने के लिये दर्शन, अध्यात्म तथा रहस्य का आश्रय लेते हैं। यह स्वच्छन्दतावाद तथा अद्वैत के सम्मिश्रण का परिणाम है।

अद्वैतवाद एवं रहस्यवाद का स्वर भी छायावादी काव्य का एक विशेष अंग रहा है और 'परिमल' की अनेक कविताओं में यह स्वर ध्वनित होता है। वेदान्त दर्शन भी आत्मा अथवा व्यक्ति की स्वतन्त्रता और आत्मा की शक्ति-सम्बन्धी भावनाओं को पुष्ट करता है। निराला के मानस पर विवेकानन्द की जीवन-दृष्टि का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसलिये वह इष्टदेव की मातृ रूप में कल्पना करते हैं और करुणा के भाव को जिसका सामाजिक महत्त्व भी है अपनी रचनाओं में व्यक्त करते हैं। एक ओर वेदान्त उन्हें माया से मुक्त होने की प्रेरणा देता है और दूसरी ओर करुणा उन्हें माया में उलझने के लिये बाधित करती है; एक ओर ज्ञान उन्हें अनासक्ति का पाठ पढ़ाता है और दूसरी ओर प्रेम उन्हें आसक्ति का सन्देश देता है। इस आन्तरिक विरोध के परिणाम स्वरूप वह एक ओर 'तुम और मैं' और दूसरी ओर 'अधिवास' की रचना कर सके हैं। 'तुम और मैं' में तुम ब्रह्म के लिये और मैं जीवात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। पहली दृष्टि में 'तुम और मैं' दो स्वतंत्र इकाइयों के प्रतीक हैं, परन्तु अन्ततः इस कविता में अद्वैतवाद का स्वर ही झंकृत होता है। कवि ने रूपकों की अनुपम छटा द्वारा इस मूल भाव को अभिव्यंजना दी है। हिमालय से गंगा का, विमल हृदय के उच्छ्वास से सुन्दर कविता का, प्रेम से शान्ति का, सुरा की मादकता से मतवाली भ्रान्ति का जैसे जन्म होता है और जैसे इनमें अभिन्न सम्बन्ध है, वैसे ब्रह्म से जीव का जन्म होता है और इन दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है।

इस प्रकार रूपकों के कलात्मक गुम्फन से कवि अपने दार्शनिक रहस्यवाद को उत्कृष्ट अभिव्यक्ति देने में सफल हुआ है। प्रकृति और मानवीय भावनाओं को लेकर ब्रह्म और जीव की अभिन्नता का जैसा कलात्मक चित्रण इस कविता में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है—

तुम पथिक दूर के श्रान्त
और मैं बाट जोहती आशा
तुम आशा के मधु मास
और मैं पिक-कल-कूजन तान,
तुम मदन पंच-शर-हस्त
और मैं हूँ मुग्धा अनजान।

इस प्रकार कविता के अथ से लेकर इति तक सूक्ष्म रूपकों का तारतम्य है। इस ज्ञानमूलक वेदान्तिक स्वर के विपरीत कवि करुणा के भाव से इतना द्रवित हो जाता है कि वह अधिवास की भी चिन्ता नहीं करता और उसे छोड़ने के लिये उद्यत हो जाता है। निराला प्रश्न उठाते हैं कि उनका अधिवास कहाँ है। जब वह करुणा से अभिभूत हो जाते हैं तब वह 'मैं' शैली को अपना कर परदुःख का परिहार करने के लिये अधिवास की उपेक्षा करने लगते हैं। करुणा का भाव भी उनके व्यक्तित्व एवं काव्य का अभिन्न अंग है जिसका निरन्तर विकास उनके काव्य को एक नवीन दिशा देता है। उनकी करुणा बुद्धि-तत्त्व से अनुशासित होने के कारण अन्त में व्यंग्यात्मक रूप धारण करती है। वेदान्त उन्हें ब्रह्म की ओर उन्मुख करता है करुणा उन्हें मानव की ओर प्रेरित करती है। माया के बहुमुखी स्वरूप का उद्घाटन भी कवि ने 'तू और मैं' रूपकात्मक शैली में किया है। 'परिमल' की रचनाओं में करुणा को भावात्मक अभिव्यक्ति मिली है और इसका परिचय विधवा, भिक्षुक, कण नामक कविताओं में उपलब्ध होता है। इनमें कवि का हृदय द्रवित होकर करुणा की धारा प्रवाहित करता है। वेदान्त के प्रभाववश निराला

उदासीन हो जाते हैं, विश्व की माया और सृष्टि की नश्वरता के प्रति उपेक्षा-भाव रखने लगते हैं। कवि संसार की नश्वरता पर निराश नहीं होता, क्षण-भंगुरता उसे हतोत्साह नहीं करती। वह करुणा से पुलकित हो कर गा उठता है—

भर देते हो
बार-बार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो ॥[1]

निराला में वेदान्त के आधार पर जीवन और जगत की पहेली को सुलझाने के लिये बेचैनी बनी रहती है। परमात्मा संसार में व्याप्त है या संसार परमात्मा में व्याप्त है? अथवा परमात्मा और संसार एक ही हैं? विश्व का कारण परमात्मा है या उसका कारण विश्व? इसका भेद अभी उन्होंने नहीं पाया और जब तक यह पहेली नहीं सुलझती तब तक उनके मन का खेद नहीं मिट सकता—

तुम हो अखिल विश्व में
या यह अखिल विश्व है तुम में,
अथवा अखिल विश्व तुम एक
यद्यपि देख रहा हूँ तुम में भेद अनेक
विन्दु! विश्व के तुम कारण हो
या यह विश्व तुम्हारा कारण?
पाया हाय न अब तक इसका भेद
सुलझी नहीं ग्रंथि मेरी, कुछ मिटा न खेद ॥[2]

इस प्रकार निराला की कविताओं में वेदान्त और करुणा दोनों स्वर प्रखर हैं। इसका कारण यह है कि स्वामी विवेकानन्द, जिनके

---

१. परिमल, पृ० ११८
२. परिमल, पृ० १७१

विचारों तथा व्यक्तित्व से कवि प्रभावित है, वेदान्त की व्याख्या जन-कल्याण तथा देश-प्रेम के आधार पर करते थे। उन्होंने वेदान्त का जो स्वरूप स्थिर किया वह शांकर वेदान्त से भिन्न कोटि का था। इसमें करुणा का भी पुट है। निराला ने विवेकानन्दी वेदान्त को अपनाया है जो युग की आवश्यकताओं के अनुकूल है। अपने नयन मूँद कर दयनीय स्थिति में पड़े मानव के दुःख से मुक्ति पाने वाले वेदान्त को एक संन्यासी भले ही अपना ले, परन्तु सहृदय कवि के लिये उसे अपनाना कठिन है। इसलिये निराला एक कवि के नाते करुणा की अभिव्यक्ति को 'परिमल' की रचनाओं में पूरा स्थान देते हैं। वह 'आग्रह' नामक कविता में सरस्वती से याचना करते हैं—हे माँ, मुझे वहाँ ले चल जहाँ वेदना का संसार मूर्च्छित हुआ पड़ा है। इस काव्य-संग्रह की करुणा-सम्बन्धी रचनाओं में विधवा का चित्र अनुपम बन पड़ा है। भारतीय विधवा इष्ट देव के मन्दिर की पूजा के समान पवित्र है, दीप-शिखा की भाँति शान्त और भाव-मग्न है। उसे देख कर कठोर काल की निष्ठुरता का स्मरण होता है, वह टूटे हुए पेड़ से अलग की हुई आश्रयहीन तथा दीन लता के समान है। भारत की ऐसी दलित विधवा है—दलित इसलिये कि भारत पराधीन है। यह विधवा का करुणामय चित्र है और करुणा का स्वरूप व्यंग्यात्मक न होकर भावात्मक है। इसी भाँति कवि ने भिक्षुक के चित्र को भी अंकित किया है। वह कलेजे को दो टूक करता हुआ, अपनी करुणामयी वाणी में पछताता हुआ, पथ पर चला आ रहा है। उसकी फटी-पुरानी झोली का मुँह फैला हुआ है। इस कविता में करुणा का रंग इतना गहरा है कि कवि आँसुओं को बहाने की अपेक्षा उन्हें पी जाता है। भिक्षुक के साथ दो बच्चे कभी सड़क पर खड़े जूठी पत्तल चाटते हैं और कभी कुत्ते उनके साथ छीना-झपटी करते हैं। वह उनके दुःख को अपने हृदय में खींच लेना चाहता है और इस प्रकार कविता का अन्त भावात्मक रूप में होता

है। निराला की यह करुणा निरन्तर उनके साथ रहती है, परन्तु आगे चल कर इसका रूप बदल जाता है, जब वह इसके कारणों की खोज में लग जाते हैं और किशोरावस्था की भावुकता को पार कर वह समाज पर व्यंग्य-बाण छोड़ने में लग जाते हैं।

छायावादी रचनाओं में शृंगारात्मक, रहस्यात्मक तथा करुणात्मक स्वरों के अतिरिक्त चौथा स्वर जो ध्वनित होता है वह उद्‌बोधन एवं जागरण का है। इन कविताओं में मूल स्वर ओज एवं शक्ति का है, राष्ट्रीयता एवं पुनरुत्थान की भावना का है, विद्रोह एवं क्रान्ति का है। इनमें समकालीन सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक रूप में हुई है। निराला की 'बादल राग' वाली छह कविताएँ, 'जागो फिर एक बार' नामक दो कविताएँ, 'यमुना के प्रति', 'महाराज शिवाजी का पत्र' आदि में राष्ट्रीयता तथा पुनरुत्थान की भावनाओं की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। गौरवमय अतीत के चित्रण को भी जागरण के लिये प्रेरणा-स्रोत बनाया गया है। देश की प्राकृतिक सुषमा के चित्रण द्वारा भी देश-प्रेम के भाव को जगाया गया है। निराला का 'बादल राग' इस दिशा में एक विशिष्ट रचना है जो छह भागों में विभाजित है। इसमें बादल दानशीलता, स्वाधीनता, तरलता, सघनता, विद्रोह, क्रान्ति आदि का प्रतीक है। बादल में ओज एवं करुणा का अद्‌भुत सम्मिश्रण है और ये दोनों भाव निराला के व्यक्तित्व को भी स्पष्ट करते हैं। इस रचना के आधार पर उनको उसी भाँति बादल का कवि कहा गया जिस भाँति रवीन्द्रनाथ को नदी एवं नौका के कवि की संज्ञा दी गई है। पहली कविता में बादल शक्ति का प्रतीक है, इसमें हलचल मचाने की क्षमता है। दूसरी कविता में बादल स्वच्छन्दता का प्रतीक है। कविता की पंक्तियाँ हैं—

ऐ निर्बन्ध !
अन्ध-तम-अगम-अनर्गल-बादल

ऐ स्वच्छन्द !
मन्द चंचल-समीर-रथ पर उच्छृंखल !
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधा-रहित विराट ।

इन पंक्तियों में बादल के स्वरूप को व्यक्त करने के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है उनसे स्वच्छन्दता का स्वर ही उभरता है। कविता की अन्तिम पंक्ति में बादल को विप्लव के प्रतीक के रूप में सम्बोधित किया गया है। तीसरी कविता में बादल का एक नया चित्र अंकित हुआ है। इसमें वह सिन्धु का अश्रु है जिसे छोड़ कर वह सेवा-पथ पर चलने के लिये आकाश में निकल पड़ता है। चौथी कविता में बादल को आकाश का चंचल शिशु कहा गया है जो मुक्त स्वभाव वाला है। बधिर विश्व उसके राग को नहीं सुनता, परन्तु वह बार-बार अपना अनुराग-राग उसके कानों में भरता रहता है। पाँचवी कविता में भी वह बालक के रूप में चित्रित है जो कुसुम के समान कोमल और पत्थर के समान कठोर है। उसे देख कर कवि का कण्ठ मुक्त हो जाता है। बादल-राग की छठी कविता में वह क्रान्ति का दूत है। उसके भेरी-गर्जन से धरती के हृदय में सोये हुए अंकुर फूट निकलते हैं—

घन भेरी-गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी की आशाओं से
नव जीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं ऐ विप्लव बादल ।

डा० रामविलास शर्मा ने निराला द्वारा इस कविता का पाठ सुना है और उनका कथन है कि श्रोतागण इसे सुन कर सचमुच ही हृदय थाम कर रह गये थे। इस कविता में कवि का प्रगतिशील दृष्टिकोण उभरता है जब वह कहते हैं कि बादल का प्रहार बड़े-बड़े पहाड़ों पर होता है और

उन पर बिजली गिरा कर वह उन्हें क्षतविक्षत कर देता है; परन्तु छोटे पौधे उस का स्वागत करते हैं। इसका कारण यह है कि क्रान्ति से छोटों का ही विकास होता है। बादल को देख कर कृषक का चित्र इन शब्दों में अंकित किया गया है—

तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर !
चूस लिया उसका सार,
हाड़ मात्र ही हैं आधार
ऐ जीवन के पारावार !

इन कविताओं में निराला का क्रान्तिवादी दृष्टिकोण तथा उनकी सामाजिक सहानुभूति स्पष्ट है और ये उनकी व्यापक राष्ट्रीय-भावना के द्योतक हैं। बादल का प्रयोग प्रतीकात्मक है जिसके माध्यम से कवि ने निजी उद्‌गारों को अभिव्यक्ति दी है। 'महाराज शिवाजी का पत्र' में, जिसकी रचना मुक्तछन्द में हुई है, राष्ट्रीय-भावना की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक न होकर अभिधात्मक है। 'जागो फिर एक बार' नामक दोनों कविताएँ उद्‌बोधन एवं जागरण के गीत हैं। इन में भारतीय परम्परा के गौरव का बोध तीव्र है—

महामन्त्र ऋषियों का
अणुओं-परमाणुओं में फूँका हुआ
'तुम ही महान्, तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व भार'
जागो फिर एक बार।

इसी स्वर में 'यमुना के प्रति' विगत वैभव के चित्रों से युक्त है। यमुना

के प्रति कवि का दृष्टिकोण नवीन है। वह रीतिकालीन काव्य में ब्रज-ललनाओं की वासनाओं का क्रीड़ास्थल है, परन्तु निराला ने उसे अतीत के उदात्त स्वरूप का प्रतीक बना दिया है। इस कल्पना-प्रधान कविता में पुनरुत्थान की भावना को व्यंजित किया गया है जो राष्ट्रीय-चेतना का प्रथम चरण है। निराला ने अतीत में स्वच्छन्द आनन्द की अनुभूति का अन्त एक अव्यक्त विषाद में किया है।

इस प्रकार 'परिमल' में काव्य-वस्तु की विविधता तथा काव्य-शिल्प की अनेकरूपता उपलब्ध होती है। वस्तु की दृष्टि से सौन्दर्यमूलक, रहस्य-मूलक, करुणामूलक तथा राष्ट्रीयमूलक भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है और शिल्प की दृष्टि से तो 'परिमल' में कविताओं का वर्गीकरण ही छन्द के आधार पर किया गया है। इन रचनाओं में निराला के बहुमुखी व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। एक ओर वह सौन्दर्य तथा प्रेम के गायक हैं, दूसरी ओर वह रहस्यवाद एवं अद्वैतवाद के कवि हैं, तीसरी ओर वह करुणा की धारा को बहाते हैं और चौथी ओर वह राष्ट्रीयता तथा जागरण का शंखनाद करते हैं। इन कविताओं के मूल में एक ओर व्यक्ति-चिन्तन तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य से अनुप्राणित उनकी सौन्दर्य-वादी तथा छायावादी दृष्टि है और दूसरी ओर समष्टि-चिन्तन तथा समाज-मंगल की भावना से प्रेरित उनकी प्रगतिशील दृष्टि है। 'जूही की कली' सौन्दर्यवादी-दृष्टि की प्रतीक है और 'भिक्षुक' प्रगतिशील चेतना का परिणाम है। सौन्दर्यात्मक तथा रहस्यात्मक कविताएँ व्यक्ति-चिंतन से और करुणात्मक तथा राष्ट्रीयात्मक रचनाएँ समष्टि-चिन्तन से प्रभावित हैं। परन्तु 'परिमल' की अधिकांश कविताओं से व्यष्टि-चिन्तन की ध्वनि निकलती है।

निराला का दूसरा काव्य-संग्रह 'अनामिका' के रूप में उपलब्ध होता है। इसके सम्बन्ध में कवि का कथन है—'अनामिका नाम की पुस्तिका मेरी रचनाओं का पहला संग्रह है।...उस 'अनामिका' की

अच्छी कृतियाँ बाद के 'परिमल' नाम के संग्रह में आ गई थीं, अधूरी निकाल दी गई थीं। इस 'अनामिका' में उसका कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं।' यह चयन निराला ने इसलिए किया है ताकि वह इस संग्रह को अपने आदरणीय मित्र बाबू महादेवप्रसाद की स्मृति में समर्पित कर सकें जिन्होंने निराला को निराला बनने का अवसर दिया था। उन्होंने 'मतवाला' निकाल कर उसके अनुप्रास पर कवि को निराला नाम दिया और उसके काव्य को वैदान्तिक पथ से खींचकर प्रगतिशील पथ पर चलने की प्रेरणा दी। निराला इस आभार को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—'वे मुझे कितना चाहते थे, इसका उल्लेख असम्भव है, और यह ध्रुव सत्य है कि वे न होते तो निराला भी न आया होता।'[1] 'अनामिका' की कविताओं में लगभग वही स्वर ध्वनित होते हैं जो 'परिमल' की रचनाओं से निकलते हैं और शिल्प की दृष्टि से भी दोनों काव्य-संग्रहों में प्रायः समानता है। इस प्रतिनिधि काव्य-संग्रह में भी कवि की सौन्दर्यात्मक, रहस्यात्मक, करुणात्मक तथा व्यंग्यात्मक जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्ति मिली है। इसमें एक ओर 'प्रेयसी' तथा 'नर्गिस' जैसी सौन्दर्यात्मक रचनाएँ हैं जो 'जूही की कली' की परम्परा में आती हैं और दूसरी ओर 'प्रकाश', 'नारायण मिले हंस अन्त में' जैसी रहस्यात्मक कविताएँ हैं जो 'धारा' तथा 'तुम और मैं' से मेल खाती हैं। एक ओर 'सेवा-प्रारम्भ', 'तोड़ती पत्थर' जैसे करुणात्मक चित्र हैं जो 'विधवा' तथा 'कण' के समान है और दूसरी ओर 'दान' जैसी व्यंग्यात्मक रचनाएँ हैं जो 'भिक्षुक' के स्वर को ध्वनित करती हैं। इन चार प्रमुख स्वरों के अतिरिक्त 'अनामिका' में एक नवीन स्वर भी 'सरोज की स्मृति', 'आतप', 'ठूँठ' 'अनुताप' 'संतप्त', 'सच है' आदि से उभरता है

---

१. अनामिका : प्राक्कथन

और इसमें आत्मीयता, निराशा, विषाद एवं पराजय की भावना है। इन रचनाओं में निराला के जीवन के उन क्षणों की अनुभूति व्यक्त हुई है जो अन्य व्यक्तियों द्वारा कवि के निरन्तर विरोध तथा उनकी आलोचना का परिणाम है। वह अपने उद्दाम आत्मविश्वास के स्वर भी 'उक्ति', 'प्रिया से', 'राम की शक्ति-पूजा' आदि रचनाओं में ध्वनित करते हैं। उनके क्रान्तिकारी तथा विद्रोही व्यक्तित्व का आभास 'प्रेयसी', 'चुम्बन', 'सरोज-स्मृति' में मिलता है। यदि 'परिमल' में 'यमुना के प्रति', 'जागो फिर एक बार' में भारतीय गौरव के उद्‌बोधन-गीत हैं तो 'अनामिका' में 'दिल्ली' 'खँडहर के प्रति' में भारतीय संस्कृति का गौरव-गान है। इसलिये 'अनामिका' को 'परिमल के संशोधित एवं विकसित संस्करण की संज्ञा भी दी जा सकती है और संशोधन एवं विकास की रेखाएँ अनुभूति के निखार और अभिव्यक्ति के परिष्कार में दृष्टिगत होती हैं।

निराला की 'सरोज-स्मृति' तथा 'राम की शक्ति-पूजा' नामक रचनाओं में महाकाव्य के गुणों का अन्वेषण किया गया—'मेरा यह विश्वास है कि यद्यपि निराला ने किसी महाकाव्य की रचना नहीं की, तथापि उनकी इन कृतियों में उसका औदात्य है, गरिमा है और वे सम्मिलित प्रभाव में किसी महाकाव्य से कम नहीं हैं'।[1] यदि महाकाव्य के मूल्यांकन का आधार इस प्रकार का 'सम्मिलित प्रभाव' बन सकता है तो निराला का समूचा उदात्त व्यक्तित्व ही महाकाव्य बनने का अधिकारी है जिसके अन्तिम सर्ग की रचना अब अधूरी रह गई है। 'सरोज-स्मृति' एक शोक-गीत है जिसमें कवि ने अपनी पुत्री की शोक-कथा के माध्यम से अपने जीवन के कुछ अंशों को उद्‌घाटित किया है। निराला ने अपने समस्त काव्य में इस आत्मचरितात्मक शैली को अपवाद रूप में अपनाया

---

१. डा० धनंजय वर्मा—निराला : पृ० १४६।

है। छायावादी कवि होने के कारण वह अपनी बात को कहने के लिये प्रायः प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लेते रहे हैं। 'सरोज-स्मृति' में उन्मुक्त रूप में वह निजी बात को व्यक्त करते हैं। इस कविता में प्रमुख रूप से तीन स्वर ध्वनित होते हैं—कवि का विद्रोही स्वभाव, सन्तान के प्रति अगाध स्नेह-भाव तथा व्यक्तिगत निराशा एवं वेदना। इनके विद्रोही स्वभाव का परिचय इस रचना की अनेक पंक्तियों में उपलब्ध होता है। इनकी जन्म-कुण्डली में दो विवाहों का उल्लेख था। इनकी पत्नी का देहान्त हो चुका था। जब दूसरे विवाह के लिये कवि के पास प्रस्ताव आने लगे तो पहले इन्होंने स्वयं को मंगलीक कह कर टालने का प्रयास किया, परन्तु जब इस प्रयास में कवि को सफलता की शंका होने लगी तब इन्होंने सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करने के लिये कुण्डली को फाड़ डाला। सास ने देखा कि कवि की पुत्री सरोज फटी कुण्डली के टुकड़ों के साथ खेल रही थी—

मोढ़े पर ले कुण्डली हाथ
अपने जीवन की दीर्घ-गाथ।
पढ़ लिखे हुए शुभ दो विवाह
हँसता था, मन में बढ़ी चाह
खण्डित करने को भाग्य-अङ्क
देखा भविष्य के प्रति अशङ्क।

और अपनी पुत्री को—

कुण्डली दिखा बोला—'ए लो'
आई तू, दिया, कहा, 'खेलो'
कर स्नान-शेष, उन्मुक्त-केश
सासुजी रहस्य-स्थित सुवेश
आईं करने को बातचीत
जो कल होने वाली, अजीत,

संकेत किया मैंने अखिन्न
जिस ओर कुण्डली छिन्न-भिन्न,
देखने लगीं वे विस्मय भर
तू बैठी संचित टुकड़ों पर।

पिता ने अपनी पुत्री का विवाह भी सामाजिक रूढ़ियों को भंग कर के ही सम्पन्न किया था। एक रूढ़ि जाति की होती है जिसका घोर विरोध इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—

ये कान्यकुब्ज-कुल-कुलांगार,
खाकर पत्तल में करें छेद,
इनके कर कन्या, अर्थ खेद,
इस विषम-बेलि में विष ही फल,
यह दग्ध मरुस्थल-नहीं सुजल।

और इसके अतिरिक्त विवाह की विधि भी 'आमूल नवल' थी—

यदि महाजनों का तो विवाह
कर सकता हूँ, पर नहीं चाह
मेरी ऐसी, दहेज देकर
मैं मूर्ख बनूँ, यह नहीं सुधर,
बरात बुला कर मिथ्या-व्यय
मैं करूँ, नहीं ऐसा सुसमय।
तुम करो ब्याह, तोड़ता नियम
मैं सामाजिक योग के प्रथम,
लग्न के; पढ़ूँगा स्वयं मन्त्र
यदि पण्डित जी होंगे स्वतंत्र।

इस प्रकार कवि का विद्रोही व्यक्तित्व न केवल क्रान्तिकारी विचारों तक सीमित है और काव्य की परिधि में ही आबद्ध है; वरन वह क्रियाशील है। उनकी कथनी एवं करनी में विषमता का अभाव है। 'सरोज स्मृति'

में दूसरा स्वर पुत्री के लिये पिता के अगाध स्नेह में उभरता है, वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति में ध्वनित होता है। इसका प्रमाण इन सम्बोधनों में प्राप्त होता है जिनका प्रयोग कवि ने सरोज के लिये किया है— तनये, गीते, जीवित कविते, धन्ये, शुचिते, चपल परी, पुतली, वीणा पर मालकौश, तन्वि, विमल प्रभे, गिरिजे, शकुन्तले आदि। निराला ने मातृहीन पुत्री के लिये विवाह के अवसर पर पुष्प-सेज को स्वयं रचा था, कलश में शुभ जल को स्वयं डाला था। वह अपनी पुत्री के रूप एवं तारुण्य का चित्र भी संयमित शब्दावली में करने से संकोच नहीं करते। इस कविता में तीसरा स्वर निराला के व्यक्तिगत दुःख एवं विषाद का है जिसकी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है—

दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ, आज जो नहीं कही।

सरोज की सेवा न कर सकने के कारण कवि को उसकी कटु स्मृति सदैव कचोटती रही है। वह स्वयं को 'निरर्थक पिता' की संज्ञा देते हैं जिसका श्लिष्ट अर्थ है। अपनी निराशा को भी उन्होंने मार्मिक वाणी दी है। जब उनकी रचनाओं को सम्पादक लौटा देते थे तब उनकी मनोदशा का चित्रण इस व्यंग्यात्मक भाषा में मिलता है—

लौटी रचना लेकर उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश
बैठा प्रान्तर में दीर्घ प्रहर
व्यतीत करता था गुन-गुनकर
सम्पादक के गुण, यथाभ्यास
पास की नोचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर-उधर
भाव की चढ़ी पूजा उन पर।

इस प्रकार इस शोक-गीत में व्यंग्य एवं विनोद का पुट है, करुणा का

संचार है, वात्सल्य एवं शृंगार की अभिव्यंजना है। अपनी पुत्री के यौवन एवं रूप का चित्रण करने वाला अकेला कवि निराला है। उसके यौवन के आगमन को मालकौश राग से उपमा देकर पावनता की रक्षा की है। इस राग का स्वरूप उदात्त माना गया है। सरोज के तारुण्य एवं रूप को निखारने के लिये 'नैश-स्वप्न की मन्दगति, ऊषा का जागरण, किसलय दलों का खिलना, दिव्य बन्धन में बँधी देह-यष्टि' आदि उपमाओं का प्रयोग किया है। पुत्री के करुण विदा-दृश्य को चित्रित करने के लिये उस कोयल की बालिका की कल्पना की है जो अक्षम होने के कारण अन्य नीड़ अथवा कौवे के नीड़ में पोषित होती है। सरोज का पालन-पोषण भी उसकी नानी ने किया था। सक्षम होने पर कोयल की बालिका दूर देश के लिये उड़ जाती है। इस विदा के दृश्य की तुलना उस करुण दृश्य से भी की जा सकती है जब कण्व ऋषि ने अपने आश्रम से शकुन्तला को विदा किया था। इस रचना में अनुभूति की निजता एवं आत्मीयता और अभिव्यक्ति की सरलता एवं सहजता का कारण पिता-पुत्री में अभिन्नता है जिसे निराला जैसा विद्रोही कवि ही साहस के साथ स्वीकार कर एवं व्यक्त कर सकता था।

'अनामिका' में 'राम की शक्ति-पूजा' का आधार देवी-भावगत की पौराणिक कथा है जिसके अनुसार युद्ध के अन्तिम दिन से पहले राम ने देवी की पूजा की थी। इसके फलस्वरूप रावण की पराजय हुई थी और जानकी का उद्धार हुआ था। इस पौराणिक आख्यान के माध्यम से निराला ने अपने आत्मविश्वास को गहराया है और जीवन की विषम परिस्थितियों पर विजय पाने के लिये दृढ़ संकल्प किया है। इस प्रकार देवी माँ की आराधना तथा शक्ति की साधना की प्रेरणा कवि को रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द के विचारों से प्राप्त हुई।] इन्होंने स्वामी विवेकानन्द की विख्यात रचना 'नाचुक ताहाते श्यामा' का हिन्दी में अनुवाद भी किया है जो 'अनामिका' में संकलित है और जिसमें

शक्ति की साधना का स्वर है। इस रचना में श्यामा शक्ति का प्रतीक है जिसका आवाहन ओज एवं वीर-भाव को जाग्रत करने के लिये किया गया है। निराला ने पौराणिक कथा के मूल-भाव को तो ग्रहण किया है, परन्तु उसमें परिवर्तन भी कर दिए हैं। राम द्वारा शक्ति की पूजा युद्ध के अन्तिम दिवस पर नहीं होती। शक्ति पूजा के लिये नारद के स्थान पर जांबवान राम को इसका परामर्श देते हैं। इस रचना की क्षीण कथा को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है। पहले भाग में पराजित एवं खिन्न वीरसेना का आगमन चित्रित है जो शिविर में पहुँच कर राम को घेर लेती है। दूसरे भाग में रात्रि के समय का लंका-चित्रण है और इसके साथ राम के अतीत का स्मरण भी अंकित है। राम का मन चिन्ता से ग्रस्त तथा रावण के जयघोष से त्रस्त है। इसके तीसरे भाग में हनुमान महाकाश को समेटने के लिये उद्यत हो जाते हैं जिस पर शिव भी विचलित हो उठते हैं और शक्ति को चेतावनी देते हैं। आकाश में अंजना रूप में शक्ति का अवतरण होता है और वह पवन-पुत्र को शांत कर लौटा देती है। चौथे भाग में राम के म्लान मुख, सीता की दयनीय स्थिति और रावण के अत्याचारों को देख कर विभीषण राम को शक्ति से अवगत कराकर उत्साहित करते हैं। परन्तु महाशक्ति रावण को अंक में धारण किए हुए है और राम के तीक्ष्ण बाण इस कारण कुंठित हैं। कथा के पाँचवें भाग में राम शक्ति की साधना करते हैं और इसके लिये एक सौ आठ कमल एकत्रित किए जाते हैं। जब साधना अपनी चरम अवस्था को प्राप्त करने को है, तब एक कमल कम हो जाता है जिसे शक्ति स्वयं राम की परीक्षा के लिये उठा कर ले जाती है। राम इस अभाव को पूरा करने के लिये अपने नेत्र की बलि देने को उद्यत होते हैं जो कमल के समान है। इस पर उन्हें शक्ति का वरदान मिलता है और इसके साथ ही कथा का अन्त हो जाता है।

इस रचना को भी महाकाव्य की कोटि में रखने का प्रयास किया

गया है जो असंगत जान पड़ता है।[1] शक्ति-पूजा की कल्पना योग से सम्बद्ध है। वेदान्ती भी शक्ति की साधना को आत्मविकास के लिये स्वीकार करते हैं और निराला इस जीवन-दर्शन से प्रभावित हैं। इसलिये राम को प्रतीकात्मक रूप देकर कवि ने अपने जीवन की स्थिति को ही उद्घाटित किया है। इस कविता का मूल मन्त्र इस पंक्ति में उपलब्ध होता है—'धिक जीवन को जो पाता ही आया विरोध'। निराला ने जीवन में निरन्तर विरोध और साधनों के अभाव को ही पाया था। इसलिये कवि राम को मानवीय रूप देकर उनके माध्यम से अधीर हो उठते हैं, अश्रु गिराते हैं। वह सीता के माध्यम से अपनी पत्नी मनोहरादेवी के मनोहारी रूप पर भी मुग्ध हैं—

देखते हुए निष्पलक याद आया उपवन
विदेह का, प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का नयनों से गोपन-प्रिय सम्भाषण
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान-पतन
काँपते हुए किसलय, झरते पराग-समुदय,
गाते खग नव-जीवन-परिचय, तरु मलय-वलय
ज्योति-प्रपात स्वर्गीय-ज्ञात छवि प्रथम स्वीय
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।

इस प्रकार राम को जानकी की मधुर स्मृति उसका उद्धार करने के लिये प्रेरित करती है। डा० रामविलास के मतानुसार राम के संघर्ष का चित्रण जितना सजीव है उतना उनकी विजय का नहीं है।[2] इसका कारण यह हो सकता है कि निराला ने अपने जीवन में विरोध की अनुभूति को ही पाया और विजय की मात्र कल्पना की। उन्होंने

---

१. धनंजय वर्मा : निराला पृष्ठ १५६
२. राम विलास शर्मा : निराला पृष्ठ १४०

पराजित होने पर भी पराजय को स्वीकार नहीं किया है। इसलिये कविता का अन्त आशावादी स्वर को ध्वनित करता है। इसमें ओजस्विता, मधुरता, करुणा आदि का अद्‌भुत सम्मिश्रण है तथा वीर, शृंगार एवं शांत का योग है। श्वेत तथा श्याम, आलोक एवं अंधकार का चित्रण अनूठा बन पड़ा है। इसके शब्दविधान में कवि की कृपणता तथा शब्द-विन्यास में गुम्फित समास-शैली का विशद परिचय उपलब्ध होता है। कभी-कभी पूरी की पूरी पंक्ति क्रियाहीन है। भाषा तत्सम, उदात्त एवं जटिल है, चित्र विराट हैं, रचना-विधान नाटकीय है, भाव-चित्रण सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक है। कवि ने तटस्थ होकर प्रतीकात्मक पद्धति में 'सरोज-स्मृति' की निजी स्थिति पर आलोक डाला है और साहस संचित करने के लिये राम द्वारा शक्ति की साधना की है।

निराला 'तुलसीदास' में अपने व्यक्तित्व को इससे अधिक विशद रूप में उद्‌घाटित करने में सफल हुए हैं। इस खण्ड-काव्य की वस्तु-योजना का आधार तुलसीदास का जीवन, युग-चिन्तन तथा उद्देश्य है जिनके माध्यम से निराला ने अपने जीवन, युग-चिन्तन तथा उद्देश्य को वाणी दी है। यह रचना भारतीय संस्कृति के ह्रास से आरम्भ होती है जो निराला के युग की ह्रास-शील परिस्थिति से मेल खाती है। इसका चित्रण कवि ने विस्तार से किया है। तुलसीदास की विपन्नता भी निराला की विपन्नता के समान है। तुलसी का शैशव अस्थायी एवं अनाथ कहा गया है। उनका विवाह रूपवती रत्नावली से सम्पन्न हुआ था जिस पर उनकी चरम आसक्ति का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। निराला का विवाह भी रूपवती मनोहरादेवी से हुआ था। तुलसी तथा निराला दोनों कवियों को प्रेरणा अपनी-अपनी पत्नी से प्राप्त हुई थी। तुलसी का पत्नी से वियोग भी समान है, अन्तर केवल इतना है कि तुलसी का पत्नी से मोह उसके जीवित रहते टूट गया और निराला का मोह-भंग पत्नी की अकाल मृत्यु से हुआ। निराला ने अपनी तरह तुलसीदास को

प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण करते चित्रित किया है। इस प्रकार तुलसीदास छायावादी कवियों के समान नारी तथा प्रकृति से स्फूर्ति पाते हैं। रत्नावली कवि के लिये बाधक न होकर प्रेरक बनती है जो छायावादी काव्य-चेतना के अनुरूप है। तुलसी अपनी साधना से समाज को मुक्त करना चाहते हैं और निराला की साधना का उद्देश्य भी वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास है। इस प्रकार तुलसी तथा निराला के व्यक्तित्व, उद्देश्य तथा परिस्थिति की समानता के माध्यम से कवि ने अपनी दृष्टि को निरूपित किया है जो छायावादी अथवा स्वच्छन्दतावादी चेतना के अनुरूप है।

इस खण्ड काव्य के वस्तु-पक्ष में तुलसीदास का चिन्तन, युग-चेतना की अभिव्यक्ति, नारी तथा प्रकृति से प्रेरणा, सामाजिक मुक्ति का उद्देश्य, सांस्कृतिक चेतना का विकास आदि आते हैं और इसके शिल्प-पक्ष में उदात्त शैली, तत्सम-बहुला भाषा, शब्द-चित्रण, छन्द-प्रवाह, प्रतीकात्मक अथवा रूपकात्मक पद्धति तथा नाटकीय विधान को लिया जा सकता है। अलंकारों की छटा भी अनुपम है। इसकी दुरूहता का कारण कवि की क्षिप्रगामी कल्पना तथा भाषा की जटिलता है जो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की भावना-शक्ति के अनुकूल बैठती है। इसलिये आचार्य द्विवेदी के लिये 'तुलसीदास' में भाषा का अद्भुत प्रवाह है।[1] और साधारण भावना-शक्ति से युक्त पाठक के लिये 'तुलसीदास' के अन्त में टीका-टिप्पणी तथा शब्दार्थ देना आवश्यक समझा गया है। वस्तुतः निराला की कल्पना में इतनी अबाध गति है कि वह भावों के तारतम्य की उपेक्षा कर उन अनेक प्रसंगों को छोड़ जाती है जिनके बिना साधारण पाठक इतना उलझ जाता है कि समझने के लिये उसे बौद्धिक व्यायाम करना पड़ता है। आचार्य द्विवेदी की भाँति जब पाठक दीक्षित हो जायगा तो उसे जल के भँवर में भी नदी की अजस्र धारा दृष्टिगत

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य पृ० ४६६

होने लगेगी। इसलिये मन्थर-गति कल्पना और मन्द भावन-शक्ति से युक्त पाठक के लिये 'तुलसीदास' 'राम की शक्ति-पूजा' तथा इस प्रकार की कवि की अन्य रचनाओं पर क्लिष्टता, दुरूहता तथा दुर्बोधता का आरोप लगाना स्वाभाविक है। इस दुरूहता का कारण कवि की अलंकृत करने की आकांक्षा तथा व्यंजना में वक्रता लाने की उत्कण्ठा भी हो सकती है। इसका परिचय कवि के अनुप्रास के प्रति असाधारण मोह में मिलता है। इस रचना की क्लिष्टता का कारण इसका उदात्त धरातल भी कहा जाता है। निराला ने मध्यकालीन ह्रासशील युग-चेतना की अभिव्यक्ति के उपरान्त तुलसीदास के व्यक्तित्व को प्रकृति-दर्शन के माध्यम से दीक्षित किया है। उनके व्यक्तित्व का विकास चित्रकूट की छटा की पृष्ठभूमि में होता है जहाँ प्रकृति की सत्ता स्वतन्त्र है और आत्मा स्वच्छन्द है। इस प्रकृति-दर्शन से तुलसीदास के कवि-संस्कार जाग उठते हैं और उनका मानस विस्मय-विभोर हो जाता है। उनके मानस की इस स्थिति में कवि को भारतीय संस्कृति का आभास मिलता है और इसके अनन्तर उन्हें शाश्वत सत्य की उपलब्धि होती है। इस सत्य की उपलब्धि तब होती है जब रत्नावली तुलसी को धिक्कारती है—'धिक धाए तुम यों अनाहूत'। इस अनुभूति का स्वरूप रहस्यात्मक है जिससे अवगत होने के लिये भाषा की अपेक्षा नहीं रहती। उसके स्थान पर केवल संकेत तथा कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। इस स्थिति को आनन्दावस्था की संज्ञा से विभूषित किया गया है। इसमें द्वैत का अन्त हो जाता है और अनासक्ति की उपलब्धि होती है। यहाँ नारी का स्वरूप प्रेरक शक्ति का है। इस दृष्टि से रत्नावली की तुलना कामायनी से की जा सकती है जो मनु को प्रेरणा दे कर उसे आनन्द की स्थिति तक ले गई। रत्नावली के चित्रण में न केवल नारी-सम्बन्धी छायावादी जीवन-दृष्टि का निरूपण हुआ है वरन उसमें विवेकानन्दी मातृशक्ति का प्रतिपादन भी हुआ है। इस प्रकार नारी माया का प्रतीक

न हो कर प्रेरणा का स्रोत है। प्रसाद की श्रद्धा मनु के साथ है और आनन्द की स्थिति को उपलब्ध कराने के लिये वह समस्त सारस्वत समाज को कैलाश पहुँचा देती है। निराला की रत्नावली जनश्रुति के अनुसार तुलसीदास से वियुक्त है और वह केवल प्रेरणा का स्रोत बन कर ही सन्तुष्ट हो जाती है। इस भाँति नारी तुलसीदास के लिये मानसिक सहचरी की सीमा का उल्लंघन नहीं करती जो निराला की नारी-सम्बन्धी उदात्त भावना का परिणाम है। सन्त काव्य में यदि नारी का स्वरूप मायावीय है तो छायावादी काव्य में उसका स्वरूप स्वर्गीय है, पुरुष की साधना में वह बाधक न होकर प्रेरक है। यह छायावादी काव्य की 'मानवतावादी' तथा 'आदर्शवादी' जीवन-दृष्टि की देन है। डा० रामविलास की धारणा है कि रत्नावली के योगिनी रूप में मध्यकालीन नारी का नायिका भेद वाला रूप जलकर भस्म हो गया है।[1] इनकी दृष्टि में रत्नावली विलासिनी नायिका न होकर तापसी योगिनी के रूप में चित्रित है। निराला के लिये नारी के विलासिनी तथा योगिनी होने के अतिरिक्त उसका तीसरा मानवीय स्वरूप निषिद्ध जान पड़ता है। तुलसीदास की रत्नावली में आसक्ति व्यक्तिगत कामुकता न होकर सामाजिक ह्रास का प्रतीक बन जाती है। निराला के तुलसीदास का चिन्तन बुद्धि एवं हृदय के समन्वय से प्रभावित है और इसकी अभिव्यक्ति संकेतात्मक है। इस चिन्तन का विकास मध्यकालीन ह्रासोन्मुख संस्कृति के परिवेश में होता है। इसलिये 'तुलसीदास' का मूल उद्देश्य भारतीय संस्कृति के वैभव तथा जीवन के शाश्वत सत्य से परिचय कराने में लक्षित होता है। निराला की दृष्टि में तुलसीदास जिन के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा है, भारतीय संस्कृति के सिद्ध गायक हैं और इसलिये उनकी सांस्कृतिक दृष्टि पुरातन में उजले रंग भरती है। तुलसीदास ने अपने युग को आशा का सन्देश दिया

---

१. डा० रामविलास शर्मा : निराला पृ० १३४

और जीवन में नयी चेतना का संचार किया। इसलिये निराला के लिये उनका व्यक्तित्व एवं काव्य विशिष्ट गुणों से युक्त है। निराला भी स्वयं को युग का प्रतिनिधि तथा नियामक मानते हैं।[1] इस कारण तुलसीदास तथा निराला दोनों में उदात्त के प्रति आग्रह, समन्वय के लिये प्रयास, संस्कृति के प्रति मोह तथा विराट के लिये आकांक्षा है। काव्य-साधना की दृष्टि से भी दोनों में निरन्तर भक्ति का भाव है, एक ने राममय होकर और दूसरे ने निरालामय होकर साधना की है। इसका कारण यह है कि निराला का युग स्वच्छन्द-भावना का है। इसलिये तुलसी ने राममय हो कर काव्य-सृष्टि की है और निराला ने आत्मनिष्ठ होकर काव्य-रचना की है। इस प्रकार 'तुलसीदास' का आधार ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक है, 'राम की शक्ति-पूजा' का पौराणिक है और 'सरोज-स्मृति' का आधार वैयक्तिक है, परन्तु इन तीनों रचनाओं में कवि की आत्मा ही बोलती है, इन रचनाओं का कवि के व्यक्तित्व से परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष का सम्बन्ध है। अन्तर केवल इतना है 'सरोज-स्मृति' में निराला अपनी तथा युग की बात अपने मुख से कहते हैं और अन्य दो रचनाओं में लगभग वही बात राम तथा तुलसी के माध्यम से व्यक्त करते हैं। यह बात मानव-मुक्ति की है, समाज-मंगल की है और संस्कृति के विकास की है।

इस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिये निराला ने काव्य-साधना की है और इस काव्य-साधना में उनके 'गीतिकाव्य' का विशिष्ट स्वरूप एवं महत्त्व है। इनके गीतों का विशद तथा विस्तृत विवेचन विविध दृष्टियों से किया गया है। कवि ने स्वयं अपने गीतिकाव्य के उद्देश्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, आचार्य वाजपेयी ने इसके मूल स्वर को पकड़ने का प्रयत्न किया है, डा० बचनसिंह ने इनके गीतों का वर्गीकरण

---

१. गंगाप्रसाद पाण्डेय : महाप्राण निराला पृ० ३४२

प्रस्तुत किया है और डा० धनंजय वर्मा ने गीतिकाव्य के विविध रूपों का उद्‌घाटन करते हुए 'निराला-संगीत' पर शोध की आवश्यकता को व्यक्त किया है। निराला भारतीय संगीत में पारंगत और रवीन्द्र-संगीत में निष्णात थे। रवीन्द्र-संगीत में पाश्चात्य संगीत के स्वर झंकृत होते हैं। उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य संगीत में समन्वय स्थापित कर भारतीय स्वरलहरी का नया धरातल तैयार किया और निराला ने रवीन्द्र-संगीत का हिन्दी संस्करण तैयार किया। वह सदैव स्वयं को रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रतिद्वन्द्वी मानते रहे। उनकी यह महत्त्वाकांक्षा बनी रही कि वह भी हिन्दी में लोक-प्रिय गीतों की सृष्टि कर सकें। इसके लिये उन्होंने अनेक प्रयोग किए जिनका परिचय 'गीतिका', 'अर्चना', 'आराधना' तथा 'गीत-गूँज' के गीतों में प्राप्त होता है। निराला ने 'गीतिका' (१९३६) की भूमिका में गीत-काव्य पर गम्भीर चिन्तन एवं मनन किया है। वह वैदिक गीत-काव्य को मुक्त काव्य की संज्ञा देते हैं और भक्ति-काव्य के पदों में एक अभाव का अनुभव करते हैं जो इन पदों को आधुनिक रुचि के अनुकूल बनने में बाधक सिद्ध होता है। निराला की जीवन-दृष्टि अद्वैतवादी है। इसलिये कबीर के गीत निराकार की उपासना के कारण आधुनिक रुचि के अनुकूल होते हुए भी 'भाषा-साहित्य-संस्कृति में अमार्जित हैं और सूर-तुलसी के पद भाषा-संस्कार रखते हुए भी सगुण उपासना के कारण आधुनिक रुचि के अनुकूल नहीं रहे।'[१] इस प्रकार निराला की दृष्टि में कबीर के गीतों में शिल्पगत दोष है और सूर-तुलसी के गीतों में वस्तुगत दोष है। इसके उपरान्त वह गजल-परम्परा का मूल्यांकन करते हुए उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। जहाँ तक बँगला-संगीत का प्रश्न है इस विषय में निराला की धारणा है कि राय महोदय ने पाश्चात्य स्वर को भारतीय रूप दिया है और रवीन्द्रनाथ ने भाव-

---

१. निराला : गीतिका पृष्ठ ३

प्रकाशन के लिये पाश्चात्य स्वर लगाए हैं और उनके संगीत का स्वरूप मिश्रित है।[1] निराला को इसका आभास हो चुका था कि 'गीतिका' के गीत अगेय है। उनकी दृष्टि में इसका कारण गीत की अक्षमता न हो कर गायकों की असमर्थता है। वह अपने गीतों को स्वर-लिपि में बाँधने के लिए उत्सुक थे, परन्तु उनके जीवन में साधनों का इतना अभाव रहा कि वह गीतों को स्वर-लिपि में आबद्ध करने के लिए एक हारमोनियम भी न जुटा सके। वह अपनी सरस्वती को संगीत में मुक्त रखने के पक्ष में रहे हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में 'उच्चारण-संगीत' का उल्लेख किया है जो उनके गीत-काव्य के लिये संगत जान पड़ता है। निराला-संगीत वस्तुतः तथा मूलतः उच्चारण-संगीत है। आचार्य वाजपेयी 'गीतिका' के मूल भाव का विवेचन करते हुए लिखते हैं—'निराला के काव्य का मेरुदण्ड ही रहस्यवाद है। उनके अधिकांश पदों में मानवीय जीवन के चित्र हैं, किन्तु वे सब के सब रहस्यानुभूति से अनुरंजित हैं।'[2] 'कला की दृष्टि से इन गीतों में लौकिक की अवतारणा अलौकिक स्वर पर हुई है। इससे सिद्ध हुआ कि निराला के इन गीतों में भी रहस्यवाद की साहित्य-साधना का ही विकास हुआ है।'[3] इस प्रकार आचार्य वाजपेयी 'गीतिका' के अधिकांश गीतों में रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति पाते हैं। अन्य गीतों में निराला भक्तों की श्रीराधा के रूप में अवतरित हुए हैं। इन गीतों को डा० बच्चनसिंह ने पाँच भागों में विभाजित किया है—प्रार्थना-प्रधान गीत, नारी-सौन्दर्य सम्बन्धी गीत, प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी गीत, दार्शनिक गीत और राष्ट्रीय गान।[4] इनके

---

१. निराला : गीतिका पृष्ठ ५
२. गीतिका : पृ० १६।
३. गीतिका : पृ० २०।
४. क्रान्तिकारी निराला : पृ० ७७।

मतानुसार अधिकांश गीत उद्‌बोधनात्मक है। इसका कारण यह हो सकता है कि निराला रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाँति हिन्दी की 'गीतांजलि' तैयार करना चाहते थे और उसके स्वर में ही गीतों की रचना करना उन्हें अभीष्ट था। डा० बच्चनसिंह का गीत-सम्बन्धी विभाजन मात्र सुविधा की दृष्टि से किया गया है और इसका आधार उनके अपने शब्दों में स्थूल है। इससे भिन्न निराला के गीत-काव्य का जो मूल्यांकन डा० धनंजय वर्मा ने किया है उसका आधार विषय-वस्तु है। वह 'गीतिका' को संगीत-काव्य के क्षेत्र में एक नूतन प्रयोग मानते हैं जिसमें कवि ने स्वर-विस्तार तथा भाव-विस्तार दोनों की रक्षा की है। स्वर-विस्तार संगीत का गुण है और भाव-विस्तार गीत का लक्षण है। निराला की उपलब्धि दोनों को समन्वित रूप देने में है।[1] इन गीतों का पहला स्वर प्रेम और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में ध्वनित हुआ है और अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रायः प्रतीकात्मक है। कवि ने नायिका को प्रतीक के रूप में ग्रहण कर उसकी विविध परिस्थितियों के चित्रण द्वारा प्रेम एवं सौन्दर्य को व्यंजित किया है। एक गीत में नायिका के जागने का, दूसरे में उसकी विरह-स्थिति का, तीसरे में उसके अभिसार का, चौथे में उसके आत्म-समर्पण का चित्र है। नायिका के पत्र-लेखन की भाव-व्यंजना भी एक गीत में मिलती है। प्रेम तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी इन गीतों में भावावेश पर बौद्धिक अंकुश, नैतिक संयम और रहस्यात्मक आवरण है। इसलिये इनमें गेय गीत की अबाध गति एवं अभिव्यक्ति का अभाव है। इसमें सन्देह नहीं है कि काव्य की दृष्टि से अंकित चित्र गत्यात्मक एवं संश्लिष्ट हैं, परन्तु भाव-विस्तार में इतना गहन गुम्फन और इतनी जटिल संकुलता है कि निराला प्रेम तथा सौन्दर्य के उस रूप में कवि नहीं बन पाये जिस रूप में ग़ालिब और रवीन्द्रनाथ हैं। निराला के गीतों में

---

१. निराला : पृ० ११८।

आत्मनिष्ठ होने की स्थिति अवश्य है, परन्तु आत्म-विभोर होने की स्थिति का इनमें प्रायः अभाव है। प्रेम, प्रकृति तथा नारी सम्बन्धी गीत कवि की सौन्दर्यात्मक जीवन-दृष्टि की देन है जिसका परिचय 'परिमल' तथा 'अनामिका' की कविताओं में उपलब्ध होता है। दूसरा स्वर 'गीतिका' की रहस्यात्मक रचनाओं में उभरता है जो निराला-काव्य के प्रमुख स्वरों में है। इसकी अभिव्यक्ति अनेक गीतों में हुई है—

जग का एक देखा तार
कण्ठ अगणित, देह सप्तक
मधुर स्वर झंकार।
बहु सुमन, बहुरंग निर्मित एक सुन्दर हार;
एक ही कर से गुँथा उर एक शोभाभार।[1]

इन पंक्तियों में अद्वैतवाद की विशद अभिव्यक्ति है। अद्वैत की अभिव्यंजना द्वैत के माध्यम से हुई है—

मैं न रहूँगी जब, सूना होगा जग,
समझोगे तब, यह मंगल-कलरव सब
था मेरे ही स्वर से सुन्दर जगमग,
चला गया सब साथ।[2]

इन दो स्वरों के अतिरिक्त तीसरा स्वर जो 'गीतिका' में उभरता है वह उद्‌बोधन तथा राष्ट्रीयता का है। कवि शक्ति-साधना के द्वारा अपने देश का मंगल, जीवन का कल्याण और संस्कृति का विकास करना चाहते हैं। इसके लिये वह माँ को सम्बोधित करते हैं और मातृशक्ति की अराधना से इसकी सिद्धि के लिये प्रेरणा प्राप्त करते हैं। कभी वह वन्य प्रसून को धन्य करना चाहते हैं तो कभी वह देश-कल्याण के लिये माँ

---

१. गीतिका : गीत २२
२. गीतिका : गीत २६

से प्रार्थना करते हैं—

जला दे जीर्ण-शीर्ण प्राचीन ,
क्या करूँगा तन जीवन-हीन
माँ तू भारत की पृथ्वी पर
उतर रूपमय माया तन धर
देवव्रत नरवर पैदा कर ,
फैला शक्ति नवीन ।

इस प्रकार 'गीतिका' में सौन्दर्यात्मक, रहस्यात्मक और उद्‌बोधनात्मक स्वरों में निराला ने अपने गीतों की रचना की है। इसमें 'परिमल' तथा 'अनामिका' के चौथे करुणात्मक स्वर का अभाव है। इन गीतों में प्रकृति के उपकरण मानवीय भावों के प्रतीक बन कर आए हैं चाहे वह बादल हो या शेफाली। इस प्रकार निराला के १०१ गीतों की अंजलि में मानव-मुक्ति साधना है, रहस्यात्मक संकेत है, नारी तथा प्रकृति का रूप-चित्रण है और देश-कल्याण के लिये उद्‌बोधन है।

निराला ने 'अर्चना' तथा 'आराधना' के गीतों में एक नये स्वर को ध्वनित किया है और यह स्वर भक्तिपरक है। 'गीत-गूँज' में लोक-गीतों की गूँज उभरती है। इन गीत-संकलनों का प्रकाशन निराला की व्यंग्य-कृतियों के बाद हुआ है। इन गीतों में क्लान्ति एवं विश्रान्ति के भावों की अभिव्यक्ति है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि क्रान्ति, विद्रोह तथा जागरण का कवि थक कर भक्ति की शरण में आ गया है। यह भी कहा गया है कि अद्वैतवाद को सहज तथा संवेद्य बनाने के लिये कवि ने भक्ति का आश्रय लिया है। इस कोटि के गीत उनकी अन्य रचनाओं में भी मिलते हैं, इसलिये इस मत से सहमत होना कठिन जान पड़ता है। यह ठीक है कि परिमल, गीतिका, बेला में इस कोटि के गीत उपलब्ध होते हैं। कवि कभी-कभी संघर्ष से विश्राम करने के लिये भक्ति के नीड़ का आश्रय लेते रहे हैं, परन्तु यदि वह निरन्तर इस

नीड़ में पड़े रहने का निश्चय कर लें और मुक्त आकाश में उड़ान से संकोच करें तो बात दूसरी बन जाती है। यह निराला के काव्य की नयी भूमि है और उनके व्यक्तित्व का नया धरातल है। इन गीतों में दीनता, हीनता, कातरता, विवशता के भाव व्यक्त हुए हैं, भग्न तन, रुग्ण मन, विषण्ण जीवन आदि की स्थिति को गहराया गया है और अपवाद रूप में क्रान्ति तथा नवीनता का आह्वान भी किया गया है। निराला की भक्ति का स्वरूप साम्प्रदायिक न हो कर रूढ़िमुक्त है। स्वच्छन्द कवि की भक्ति भी स्वच्छन्द होती है। इन गीतों में भाषा-शक्ति का नया रूप उसकी सरलता में लक्षित होता है। इनकी धुन लोक-गीतों की है। निराला ने 'गीतिका' के शास्त्रीय-संगीत की अपेक्षा लोक-संगीत की सुगम शैली को अपनाया है। इन गीतों की सृष्टि से पहले कवि अपने व्यंग्य-काव्य की रचना कर चुके थे जो जन-जीवन के निकट है। इसलिये गीति काव्य में वह शिल्प की दृष्टि से जन-जीवन के निकट आ गए हैं और वस्तु की दृष्टि से वह जन-जीवन से दूर होते गए हैं। उन्हें अपने पके बालों का स्मरण हो उठता है और उनका हृदय चीत्कार कर उठता है—

मैं अकेला मैं अकेला
आ रही मेरे गगन की सांध्य बेला।

यह एक श्रान्त एवं क्लान्त योद्धा के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है, परन्तु निराला अपने पुराने आत्मविश्वास को खो नहीं बैठते और जीवन के यथार्थ के प्रति जागरूक बने रहते हैं। इसलिये वह भजन के साथ भोजन की बात करने से नहीं चूकते। 'अर्चना', 'आराधना' तथा 'गीतगूँज' की भाव-भूमि को 'गीतिका' की भावभूमि से अलगाया जाता है। इसका कारण यह है कि 'गीतिका' की रचना शास्त्रीय-संगीत की पद्धति के आधार पर की गई है और अन्य तीनों की सृष्टि लोक-संगीत की पद्धति के धरातल पर हुई है। इन गीतों की रचना से पहले निराला

अपने व्यंग्य-काव्य की सृष्टि कर चुके थे। कुकुरमुत्ता (१९४२) नये-पत्ते (१९४६) बेला (१९४३) तथा अणिमा (१९४३) में प्रगतिशील जीवन-दृष्टि को व्यंग्यात्मक शैली में अभिव्यक्ति दे चुके थे।

निराला के काव्य में इन व्यंग्यात्मक रचनाओं का विशिष्ट महत्त्व है। इन रचनाओं को प्रगति तथा प्रयोग की परिधि में रखा जाता है और व्यंग्य-प्रधान काव्य की संज्ञा दी जाती है। इस व्यंग्य के मूल में वैयक्तिक तथा सामाजिक कारण हैं—वैयक्तिक कारणों में कवि की विपन्नता, उपेक्षा तथा अहंमन्यता की गणना हो सकती है और सामाजिक कारणों में विषमता, पराधीनता, प्रगतिशीलता आदि को गिनाया जा सकता है। कवि मातृशक्ति की अपेक्षा जनशक्ति में अधिक विश्वास करने लगा है और छायावादी भावुकता की अपेक्षा व्यंग्य का आश्रय लेने लगा है। छायावादी काव्य-रचना के काल में भी वह 'मतवाला' पत्रिका के 'चाबुक' स्तम्भ में अपने विरोधियों पर तीखे व्यंग्य कसते थे, परन्तु उस समय उनके काव्य का मूल स्वर भावुकता एवं तन्मयता में ध्वनित होता है। उन्होंने पहले भी विधवा और भिक्षुक के प्रति अपनी अगाध सहानुभूति का परिचय दिया है, परन्तु अब वह विधवा तथा भिक्षुक के दुःख का कारण सामाजिक विषमता में खोज कर सामाजिक विधान की व्यंग्यात्मक व्याख्या करने में संलग्न हो जाते हैं। यह उनके व्यंग्य-प्रधान काव्य का मूल उद्देश्य है। इस प्रकार उनका व्यंग्य-काव्य वस्तु की दृष्टि से प्रगतिशील है और शिल्प की दृष्टि से प्रयोगशील है। इसमें मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि तथा प्रगतिवादी आन्दोलन के प्रभाव भी लक्षित होते हैं। कवि शोषित, पीड़ित तथा क्षुधित मानव को क्रान्ति करने के लिये प्रेरित करता है। यह स्वर 'बेला' की इन पंक्तियों में मुखरित हुआ है—

जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ-आओ।
आज अमीरों की हवेली

किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अन्धेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ।

शोषित के प्रति निराला तथा पंत की सहानुभूति में भारी अन्तर दृष्टिगत होता है। निराला की सहानुभूति हृदयगत और पंत की बुद्धिगत है; निराला हृदयगत सहानुभूति को व्यंग्यात्मक अथवा बौद्धिक अभिव्यक्ति देते हैं और पंत अपनी बौद्धिक सहानुभूति को भावात्मक अभिव्यक्ति देते हैं। इस विरोधाभास से अवगत होने के लिये पंत की 'ग्राम्या' और निराला की 'कुकुरमुत्ता' का सूक्ष्म विश्लेषण अपेक्षित है। पंत की देहाती जीवन के प्रति दृष्टि मूलतः भावात्मक है और निराला की दृष्टि प्रधानतः व्यंग्यात्मक है। निराला पूँजीपति से स्पष्ट कहते हैं कि शोषण का रहस्य हमें मालूम है। यदि उसके मिल की पूँजी देश को मिल जाए तो सब ठीक हो जाए। वह 'गीतिका' के झपताल, खम्माच आदि रागों का परित्याग कर कजली में गाने लगते हैं और जवाहरलाल के बन्दी होने पर उन पर गीत की रचना करते हैं। इसमें विश्व में युद्ध के तथा भारत में निराशा के करुण चित्र हैं जो आग लगा देने की क्षमता रखते हैं। 'काले-काले बादल छाये, न आए वीर जवाहरलाल' में जापानी आक्रमण की सम्भावना के समय का सजीव चित्र है जो लोक-गीत की कला की दृष्टि से मार्मिक है। इस स्वर में 'बेला' के गीत लोक-प्रिय बनने में सफल हुए हैं। निराला ने 'गीतिका' की रचना के उपरान्त यह अनुभव कर लिया था कि उसमें काव्य तथा संगीत के समन्वय की उदात्त भूमि उसके लोक-प्रिय बनने में बाधक बनी थी। 'बेला' में 'गीतिका' की परम्परा की रहस्यात्मक तथा दुरूह रचनाओं के अतिरिक्त अन्य गीत ग़जल की शैली में रचे गये हैं। इनका स्वरूप सहज एवं सरल है। इनके वस्तुपक्ष की विविधता और शिल्प-पक्ष की अभिधात्मकता निराला-

काव्य के एक नये मोड़ को सूचित करती है। इस गीत-संग्रह में 'गीतांजलि' के रहस्यात्मक स्वर और ग़जलों के मानवीय स्वर के अतिरिक्त प्रगतिवादी स्वर भी ध्वनित होता है। इस आधार पर 'निराला यहाँ साहित्यिक गीतकार कम, जन-गीतकार अधिक हैं।'[1] इसमें कहीं-कहीं जो अस्पष्टता तथा दुरूहता है उसका कारण भाव की गहनता तथा विचार की गम्भीरता न हो कर भावों तथा विचारों की विशृंखलता तथा अस्तव्यस्तता है। इसमें व्यंग्य का स्वरूप भी इतना तीक्ष्ण तथा गहन नहीं है जितना 'कुकुरमुत्ता' में है।

निराला का 'कुकुरमुत्ता' (१९४२) एक प्रतीकात्मक रचना है जिसमें कवि को कुकुरमुत्ता के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक चेतना पर कड़ा व्यंग्य कसना अभीष्ट है। इसके उद्देश्य के सम्बन्ध में भारी मतभेद पाया जाता है। इस मतभेद का कारण डा० रामविलास की दृष्टि में इस रचना की अस्पष्टता है जो युद्ध काल में कवि के विश्वास के डिग जाने का परिणाम है।[2] इस रचना में एक ओर पूँजीवादी संस्कृति पर व्यंग्य है और दूसरी ओर समाजवादी संस्कृति को भी हास्यास्पद बना दिया है। एक ओर जहाँ अध्यात्मवाद पर व्यंग्य है तो दूसरी ओर बुद्धिवाद व्यंग्य-बाण से अछूता नहीं रहा है, एक ओर आधुनिक पोएट का उपहास किया गया है तो दूसरी ओर स्वयं कुकुरमुत्ता भी इससे वंचित नहीं है। इसलिये कुकुरमुत्ता किसका प्रतीक है इस विषय में मतभेद का पाया जाना स्वाभाविक है। डा० रामविलास की दृष्टि में कुकुरमुत्ता निम्न वर्ग का प्रतीक है और गुलाब उच्च वर्ग का। स्थूल दृष्टि से यह धारणा संगत बैठती है। इसके अतिरिक्त कुकुरमुत्ता को उपयोगितावाद का प्रतीक भी माना गया है। कारण, इसके स्वादिष्ट कबाब बनते हैं। इस दृष्टि से

---

१. धनंजय वर्मा : निराला पृ० १९३

२. रामविलास शर्मा : निराला १८८

गुलाब सौन्दर्यवाद का प्रतीक बन जाता है जिसकी उपयोगिता उसकी सुषमा में है। कुकुरमुत्ता स्वयं को मौलिक और गुलाब को नकली कहता है। कुकुरमुत्ता उपजाने से नहीं उपजता और गुलाब की कलम लग सकती है। कुकुरमुत्ता का वक्तव्य है—

देख मुझ को, मैं बढ़ा,
डेढ़ बालिश्त और ऊँचे पर चढ़ा,
और अपने से उगा मैं
नहीं दाना, पर चुगा मैं,
कल्म मेरा नहीं लगता,
मेरा जीवन आप जगता,
तू है नकली, मैं हूँ मौलिक,
तू है बंकरा, मैं हूँ कौलिक,
तू रंग और मैं घुला,
पानी में, तू बुलबुला
तू ने दुनिया का बिगाड़ा,
मैंने गिरते से उभाड़ा,
तू ने ज़नखा बनाया रोटियाँ छीनी,
मैंने उनको एक की दो-तीन दी।[1]

इस प्रकार तू और मैं की शैली में जिसमें निराला अपनी प्रसिद्ध अद्वैतवादी रचना 'तू और मैं' कर चुके हैं, कुकुरमुत्ता को समाजवादी संस्कृति तथा उपयोगितावादी जीवन-दृष्टि का प्रतीक बनाते हैं। आगे चल कर जब वह इसे सब के जनक के रूप में चित्रित करते हैं तब इस चित्रण से अध्यात्मवाद पर व्यंग्य कसने की गंध आती है। इसमें निराला अपने ही अद्वैतवाद का उपहास करते हुए जान पड़ते हैं। कुकुरमुत्ता को समस्त

---

१. कुकुरमुत्ता : पृष्ठ ४, ५

सृष्टि का जनक सिद्ध करने के लिये वह उदात्त से ले कर तुच्छ वस्तु तक की गणना कर जाते हैं जिससे उनके व्यंग्यात्मक तथा अस्तव्यस्त दृष्टि-कोण का परिचय उपलब्ध होता है। एक स्थान पर कुकुरमुत्ता का परिचय इन शब्दों में दिया गया है—

लगाता हूँ पार मैं ही,
डुबाता मँझधार मैं ही।
डब्बे का मैं ही नमूना
पान मैं ही, मैं ही चूना।[1]

इनमें अद्वैतवाद का खण्डन है या उपयोगितावाद का मण्डन है इस सम्बन्ध में निश्चित मत देना कठिन है। इसी प्रकार गोली जो एक विपन्न माँ की लड़की है और बहार जो नवाब की बेटी है—दोनों में मित्रता को मानवतावाद का प्रतीक बताया गया है। इसके द्वारा परस्पर-विरोधी सामाजिक श्रेणियों में सामंजस्य को स्थापित कर भावी समाज के विधान की ओर संकेत किया गया है। इसमें निराला का स्वप्न झलकता है या उनके विश्वास के टूटने का स्वर ध्वनित होता है—इस विषय में भी किसी निश्चित मत को व्यक्त करना दुष्कर है। निराला प्रायः तिरस्कृत एवं उपेक्षित रहे हैं और तिरस्कृत एवं उपेक्षित व्यक्ति के लिये व्यंग्य कसना स्वाभाविक भी होता है। इस व्यंग्य में समाज-कल्याण की भावना भी हो सकती है और आहत व्यक्ति की प्रतिशोध की भावना भी हो सकती है। एक को दूसरे से अलगाना कठिन है। मेरी दृष्टि में कुकुरमुत्ता निम्नवर्ग, उपयोगितावाद, समाजवाद आदि का उतना प्रतीक नहीं है जितना वह निराला का प्रतीक है। उसमें अदम्य अहंमन्यता का भाव इसका एक कारण है, छायावाद पर व्यंग्य दूसरा कारण है, आधुनिक पोएट का

---

१. कुकुरमुत्ता : पृष्ठ ६

उपहास तीसरा कारण है, अध्यात्मवाद का खण्डन चौथा कारण है, उपयोगितावाद के विकृत रूप का मण्डन पाँचवाँ कारण है, नवाब की लड़की बहार या सम्पन्न व्यक्ति का कुकुरमुत्ता या निराला की ओर आकृष्ट होना छठा कारण है, नवाब या पूँजीपति का कुकुरमुत्ता से आकस्मिक प्रेम सातवाँ कारण है, कुकुरमुत्ता का मौलिक प्रतिभा से सम्पन्न होना आठवाँ कारण है और कभी-कभी कुकुरमुत्ता का स्वयं को हास्यास्पद बनाना नवाँ कारण है। कुकुरमुत्ता की कोई रूढ़िगत जड़ भी नहीं है। निराला ने भी रूढ़ि का घोर विरोध किया है। इस कारण कुकुरमुत्ता कवि का प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार निराला सब को और स्वयं को आड़े हाथों लेते हैं। इस रचना की समाज-कल्याण की भावना के मूल में व्यक्ति-चिन्तन की प्रेरणा है। इसलिये तत्कालीन हिन्दी कविता में प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी प्रवृत्तियों की अराजक स्थिति के प्रति कुकुरमुत्ता अथवा कवि की दृष्टि व्यंग्यात्मक है। कुकुरमुत्ता निराला की आत्मा है जो इन दिनों गहरी चोट खा कर सब पर प्रहार करने के लिये बाधित हो जाती है। इस सम्बन्ध में गंगाप्रसाद पाण्डेय ने एक घटना का उल्लेख किया है। 'निराला को पागल सिद्ध करने के लिये 'विशाल भारत' के सम्पादक प्रसिद्ध हो चुके थे और उनके इस आन्दोलन ने कवि के मानस को विक्षिप्त भी कर डाला था।'[1] इस प्रकार 'कुकुरमुत्ता' एक ओर कवि की आत्मरक्षा की भावना का परिणाम है और दूसरी ओर युग की मान्यताओं पर कड़ा व्यंग्य है। डा० रामविलास के मतानुसार कवि के लक्ष्य की अस्पष्टता के फलस्वरूप 'कुकुरमुत्ता' में व्यंग्य का पुट इतना निखरा हुआ नहीं है जितना उनकी अन्य रचनाओं में है।[2]

---

१. गंगाप्रसाद पाण्डेयः महाप्राण निराला पृ० २००

२. रामविलास शर्मा : निराला पृ० १६०

निराला के व्यंग्य-काव्य की कोटि में 'अणिमा' (१९४३) की रचनाओं को भी रखा जाता है। उनके जीवन में विषाद की रेखा इतनी गहरी हो गई थी और निराशा का स्वर इतना गम्भीर हो चुका था कि वह कभी-कभी मरण की भी कल्पना करने लगते हैं। इसलिये इन कविताओं में प्रधानतः एकाकीपन क्लान्ति एवं विश्रान्ति, भक्ति एवं रहस्य, अवसाद एवं पराजय, विक्षेप एवं उन्माद के स्वर प्रमुखतः और आशा एवं विश्वास के स्वर गौणतः ध्वनित होते हैं। आशा की किरण गहन अंधकार में छटपटा कर विलुप्त हो जाती है। इनमें जीवन की डाल सूखी है, कोयल की कूक मौन है, झरने की शुष्क रेत है, अमावस्या की निशा है, भक्त की पुकार है, मानव की चीत्कार है, निरामय जीवन की कामना है, मुक्ति की आकांक्षा है। इनमें कवि का व्यंग्य भी कुण्ठित है। इस आधार पर 'अणिमा' की कविताएँ निराला-काव्य के विघटन को ही सूचित करती है। इससे भिन्न 'नये पत्ते' (१९४६) में व्यंग्य का स्वरूप निखरा हुआ है और इसका आस्वाद कटु न होकर मिष्ट है। निराला ने युग की सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक मान्यताओं पर मीठी चुटकियाँ ली हैं। इस संग्रह की रचनाओं में कवि का दृष्टिकोण ठेठ देहाती का है। यदि 'परिमल' तथा 'अनामिका' में उनकी दृष्टि नागरिक की है तो 'नये पत्ते' में नागरिक संस्कृति पर व्यंग्य ग्रामीण दृष्टि से किया गया है। कवि गढ़ाकोला के देहाती जीवन में इतना घुलमिल गए हैं कि उन्होंने न केवल इसका चित्रण सहानुभूति से किया है वरन नागरिक सभ्यता का मूल्यांकन भी इस दृष्टि से किया है। इसलिये इस काव्य-संग्रह का धरातल कुकुरमुत्ता का है। एक ओर समाजवाद पर 'मास्को डायलाग्स' में मीठी चोट है, दूसरी ओर 'गरम पकोड़ी' में उच्च वर्ग पर व्यंग्य है, एक ओर 'महंगू महंगा रहा' में राजनीतिक नेताओं पर व्यंग्य-दृष्टि है, दूसरी ओर 'कुत्ता भोंकने लगा' में किसान के दुखी जीवन का व्यंग्यात्मक चित्रण है, एक ओर 'खुशखबरी' में नागरिक सभ्यता पर

कवि ने सिनेमा के कलाकारों द्वारा मीठी चोटें की हैं तो दूसरी ओर 'रानी और कानी' में सामाजिक व्यंग्य हैं। निराला के लिये ग्रामीण संस्कृति उस कन्या के समान है जो कानी होकर भी माँ के लिये रानी है। कुरूपता के कारण कानी रानी का परिणय नहीं हो पाता; आधुनिक सभ्यता के परिवेश में ग्रामीण संस्कृति का विकास सम्भव नहीं है। इसलिये कवि उसकी माँ की भाँति कानी की करुणामय स्थिति पर आँसू बहाने का संवरण नहीं कर पाते—

काँपे कुल अंग, दाँई आँख से
आँसू भी बह चले माँ के दुख से।

इस संग्रह की अन्य रचनाओं में एक ओर सामन्ती संस्कृति और दूसरी ओर पूँजीवादी संस्कृति पर कवि की व्यंग्य-दृष्टि है। 'प्रेम-संगीत' में रोमांटिक प्रेम पर, 'बाह्मन' में जात-पात पर, 'कुत्ता भोंकने लगा' में जमींदार के कारिन्दों पर, 'झींगुर डर कर बोला' में गान्धीवादियों पर कवि ने व्यंग्य-बाण छोड़े हैं। इन रचनाओं की शैली यथार्थ है, उद्देश्य व्यक्ति एवं समाज की विसंगतियों को अनावृत करना है, जीवन-दृष्टि कृषक संस्कृति से प्रभावित है। इनके अतिरिक्त 'स्फटिकशिला' 'कैलाश में शरद्' आदि में काव्य-चेतना की अभिव्यक्ति असम्बद्ध, अस्तव्यस्त तथा उन्मुक्त है। 'स्फटिक शिला' में वासनात्मक विस्फोट भी है। यह कुण्ठा अथवा कठोर अनुशासन एवं संयम के शिथिल होने का परिणाम है या कवि के विक्षिप्त मानस की अभिव्यक्ति है इस सम्बन्ध में किसी निश्चित धारणा को व्यक्त करना कठिन है। निराला ने अपने व्यंग्य-काव्य में युग की उस चेतना को अभिव्यक्ति दी है जो समाजवादी विचारधारा से अनुप्राणित है। इस अभिव्यक्ति में व्यक्ति-हित तथा समाज-मंगल, व्यक्ति-सत्य तथा समष्टि-सत्य, वैयक्तिक यथार्थ तथा सामाजिक यथार्थ के परस्पर-विरोधी भाव तथा विचार इनके व्यंग्य-काव्य में उपलब्ध होते हैं जिनका सामंजस्य वह आदर्शवादी स्तर पर 'परिमल' तथा

'अनामिका' की रचनाओं में स्थापित करने में प्रयासशील रहे हैं; परन्तु व्यंग्य-काव्य के यथार्थवादी धरातल पर इनमें वह समन्वय स्थापित करने में असफल रहे हैं। निराला ने व्यक्ति-हित तथा समाज-मंगल में पारस्परिक विरोध की समस्या को स्वीकार कर लिया है और इसका समाधान खोजने के लिये वह सामाजिक चेतना का मूल्यांकन व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आधार पर करना उचित समझते हैं। 'नये पत्ते' की रचनाओं में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति के मूल में व्यक्ति-चिन्तन के स्वर का नितान्त विलोप नहीं हो जाता। इन्होंने समाजवादी जीवन-दृष्टि को उसके समूचे रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसका कारण यह है कि वह छायावादी जीवन-दृष्टि के मूल में जो व्यक्ति-सत्य तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना है उसे त्यागने के पक्ष में नहीं जान पड़ते। निराला का उद्देश्य उन सामाजिक विषमताओं को निरावृत करना है जो व्यक्ति के विकास में बाधा बन कर आती है। इस कारण उन्होंने 'मास्को डायलाग्स' में उन समाजवादी नेताओं पर भी तीखा व्यंग्य कसा है जो नवीन चेतना के ठेकेदार बने बैठे हैं। निराला के व्यंग्य-काव्य की मूल विशेषता उनकी यथार्थवादी जीवन-दृष्टि तथा अभिधात्मक शैली में लक्षित होती है। सामाजिक विषमताओं ने उनके व्यंग्य को निखारा है, जीवन की कटु अनुभूतियों ने उनके काव्य को नये मोड़ दिए हैं।

निराला के काव्य में उनके व्यक्तित्व की व्यापकता विविधता तथा गतिशीलता लक्षित होती है। इनकी रचनाओं में 'जूही की कली' है जो उन्मुक्त प्रेम तथा सौन्दर्य-दृष्टि का प्रतीक है, 'तुम और मैं' है जो अद्वैतवाद तथा दार्शनिक चिन्तन का प्रतीक है, 'यमुना के प्रति' है जो भारतीय संस्कृति के प्रति कवि के अगाध स्नेह का प्रतीक है, 'बादल राग' है जो स्वच्छन्दता तथा जागरण का प्रतीक है, 'शिवाजी का पत्र' है जो राष्ट्रीयता का प्रतीक है, 'तुलसीदास' है जो नारी की प्रेरक शक्ति का प्रतीक है, 'राम की शक्ति-पूजा' है जो रहस्यात्मक शक्ति-साधना का प्रतीक है।

इस प्रकार निराला-काव्य के अनेक स्वर हैं, विविध शैलियाँ हैं, विभिन्न रूप हैं जो उनके व्यापक व्यक्तित्व की देन है तथा उस व्यक्तित्व की विसंगतियों का परिणाम हैं। इन विसंगतियों पर विजय पाने के लिये निराला का व्यक्तित्व तथा काव्य दोनों गतिशील रहे हैं और इस गतिशीलता में कभी प्रगति का स्वर उभरा है और कभी इससे प्रतिक्रिया की ध्वनि निकली है। इनके काव्य को किसी विशिष्ट क्रम में बाँधना उनके व्यक्तित्व को किसी विशिष्ट साँचे में ढालने के समान है। इसलिये निराला-काव्य के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष की उपलब्धियों तथा सीमाओं का मूल्यांकन उनके व्यक्तित्व से पृथकाया नहीं जा सकता। वस्तुपक्ष की दृष्टि से निराला के काव्य की उपलब्धि का विवेचन डा० धनंजय वर्मा ने उसकी चार विशेषताओं के रूप में किया है। इसमें स्वच्छन्दतावाद का विद्रोही स्वरूप सब से अधिक निखरा है, इसके गीतों में शास्त्रीय-संगीत-पद्धति का परिष्कार है, इसकी कुछ रचनाओं में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति इसे प्रगतिशील रूप देती है, इसमें सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यंजना भी इसे विशिष्ट महत्त्व देती है। शिल्प की दृष्टि से मुक्त-छन्द, भाषा का परिष्कार आदि की गणना भी निराला-काव्य की उपलब्धियों में होती है। इस प्रकार निराला के काव्य का वस्तुगत एवं शिल्पगत पक्षों का मूल्यांकन इनके काव्य की सामान्य विशेषताओं के विवेचन द्वारा किया गया है। इनके काव्य में जो आन्तरिक द्वन्द्व की स्थिति उपलब्ध होती है और जिसके आधार पर इनके काव्य का मूल्यांकन अधिक विशद एवं संतुलित रूप में हो सकता है उसकी प्रायः उपेक्षा की गई है। आन्तरिक द्वन्द्व की स्थिति उनके व्यक्तित्व तथा काव्य में विसंगतियों की जनक है जिसके फलस्वरूप एक ओर कवि सामन्ती रूढ़ियों का खण्डन करने के लिये बाधित हैं और दूसरी ओर वह समाजवादी सत्य को पूरी तरह आत्मसात करने में असफल रह जाते हैं। छायावादी काव्य में व्यक्ति-मूलक विद्रोह की भावना एक ओर रूढ़ियों का विरोध कराती है और

दूसरी ओर सामाजिक व्यंग्य को गहराती हैं। निराला की व्यक्तिमूलक, विद्रोहात्मक तथा द्वन्द्वग्रस्त जीवन-दृष्टि उनकी सौन्दर्यपरक कविताओं, करुणात्मक रचनाओं, अद्वैतवादी अनुभूतियों तथा व्यंग्यात्मक काव्य के मूल में है और यही जीवन-दृष्टि उनके प्रकृति-चित्रण, नारी-चित्रण, मुक्तछन्द तथा प्रतीक-विधान की प्रेरक शक्ति है; यही कवि की अनुभूति को नाम तथा अभिव्यक्ति को रूप देती है। इस आन्तरिक द्वन्द्व की स्थिति के आधार पर निराला-काव्य की विविधता, व्यापकता तथा गतिशीलता को अधिक स्पष्ट रूप में आँका जा सकता है। इस आन्तरिक विरोध को शान्त करने के लिये कवि ने वस्तु तथा शिल्प के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए हैं। इनके कवि और चिन्तक में निरन्तर संघर्ष की स्थिति रही है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की धारणा है कि निराला का व्यक्तित्व एवं काव्य बुद्धि द्वारा अनुशासित है, इसमें बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता है। जिस प्रकार प्रसाद के काव्य में राग-तत्त्व की और पंत के काव्य में कल्पना-तत्त्व की प्रधानता है, उसी प्रकार निराला का काव्य बुद्धितत्त्व द्वारा नियंत्रित है। इस कारण निराला की रहस्यवादी रचनाएँ महादेवी के रहस्यवादी गीतों की भाँति प्रेममूलक न होकर ज्ञानमूलक अथवा अद्वैतमूलक हैं और रवीन्द्रनाथ के रहस्यवादी काव्य की भाँति भावपरक न होकर मूलतः ज्ञानपरक हैं। निराला के काव्य में कल्पनातत्त्व तथा रागतत्त्व का अभाव भी नहीं है, परन्तु इन तीन तत्त्वों की सरल त्रिवेणी है। निराला की आदि रचनाओं में रागतत्त्व तथा बुद्धितत्त्व का संतुलन है परन्तु बुद्धितत्त्व बार-बार उभरने के लिये अधीर है और वह कल्पना-तत्त्व को भी अनुशासित किए हुए है। यह स्थिति छायावादी रचनाओं में उपलब्ध होती है। इसके उपरान्त बुद्धितत्त्व रागतत्त्व पर छा जाता है और कल्पनातत्त्व को भी दबोच लेता है और यह स्थिति उनके व्यंग्य-काव्य में लक्षित होती है। उनके काव्य पर दुरूहता एवं अस्पष्टता का जो आरोप लगाया जाता है उसका एक

कारण बुद्धितत्त्व तथा दार्शनिक तत्त्व की प्रधानता हो सकती है, परन्तु इसके अन्य कारण भी हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का इस सम्बन्ध में मत है—'कवि आवेशों को संयत रख कर नहीं लिख सकता। एक बात कहते-कहते उसे उसी से सम्बन्धित दूसरी बात याद आ जाती है। इसलिये उनके भावों की अनवरत धारा में ऐसे प्रसंग प्रायः छूट जाते हैं जो साधारण पाठक के लिये प्रासंगिक होते हैं और ऐसे प्रसंग प्रायः आ जाते हैं जो साधारण पाठक की दृष्टि में बहुत प्रासंगिक नहीं जँचते। इसलिये उनकी कविताएँ दुर्बोध हो जाती हैं। बड़े कथा-प्रसंगों में पाठक कुछ अनुमान द्वारा छूटे हुए स्थानों को भर लेता है पर छोटे प्रगीतों में वह कुछ समझ नहीं पाता। उनके काव्य के लोकप्रिय बनने में यह बाधा बन कर आती है।'[1] इस प्रकार डा० द्विवेदी निराला के 'तुलसीदास' 'यमुना के प्रति' तथा 'राम की शक्ति-पूजा' में जो कथा-प्रसंगों पर आधारित है दुर्बोधता के दोष को नहीं देख पाते, परन्तु रहस्यवादी गीतों में दुरूहता को पाते हैं। इस विवेचन में आलोचक के निजी संस्कार झलकते हैं। वह स्वयं प्राचीन साहित्य में दीक्षित होने के कारण बड़े प्रसंगों में छूटे हुए स्थानों को सुगमता से भर लेते हैं, परन्तु साधारण पाठक को इन रिक्त स्थानों के भरने में बौद्धिक व्यायाम करना पड़ता है। वस्तुतः दुरूहता का आभास निराला की सभी प्रकार की रचनाओं में मिलता है। इनकी कल्पना-शक्ति जब बौद्धिक अनुशासन के प्रति विद्रोह करती है तो वह प्रेषणीयता की उपेक्षा कर जाते हैं। कवि के लिये जो स्पष्ट है वह पाठक के लिये क्लिष्ट हो जाता है। इनका विद्रोही व्यक्तित्व न केवल मुक्त-काव्य अथवा मुक्त-छन्द के मूल में है वरन प्रेषणीयता के स्वरूप को भी निर्धारित करता है। इसके अतिरिक्त उनकी गुंफित समास-शैली, तत्सम शब्द-चयन, तथा विलक्षण अलंकार-

---

१. हिन्दी साहित्य : पृष्ठ ४६६

विधान भी दुरूहता को गहराते हैं। समास-बहुला शैली का परिचय इन पंक्तियों में मिल जाता है—

आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र कर वेग प्रखर,
शतशैलसंवरणशील, नीलनभ-गर्ज्जित-स्वर
प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह-भेद-कौशल-समूह-
राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह-क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरितवह्निराजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण
लोहित लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान।[1]

डा० द्विवेदी के अनुसार राम की शक्ति-पूजा की इन पंक्तियों में 'भाषा का अद्‌भुत प्रवाह' है जिसकी गति को उनकी ही दीक्षित आँख देख सकती है। भाषा का यह 'अद्‌भुत प्रभाव' संस्कृत की 'कादम्बरी' का है जिसमें शब्द-चित्र इतने गुंफित एवं उलझे हुए हैं कि उन्हें सुलझाने के लिये कल्पना-व्यायाम तथा बौद्धिक परिश्रम अपेक्षित है। निराला दुरूहता के आरोप से पूरी तरह अवगत रहे हैं और इन्होंने इन शब्द-चित्रों के आस्वादन के लिये मानसिक संस्कार एवं परिष्कार को आवश्यक माना है। इसके साथ ही इन्होंने व्यंग्य-काव्य में दुरूहता के परिहार का भरसक प्रयास भी किया है। निराला का भाषा की क्लिष्टता के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत है और वह यह है कि शिक्षा की भूमि के विस्तार से जनता ऊँचे सोपान पर आरूढ़ होगी और इससे उसके शब्द-भण्डार में वृद्धि होगी।[2]

निराला की काव्य-साधना निरन्तर गतिशील रही है। इसमें दार्शनिक की जिज्ञासा, भक्त की विह्वलता, प्रेमी की उत्कटता, क्रान्ति की उग्रता, वीर की ओजस्विता, मानव की स्पर्धा, हृदय की द्रवणशीलता, बुद्धि की

---

१. अनामिका : राम की शक्ति-पूजा, पृ० १४८।

२. महाप्राण निराला, पृ० १२५।

चातुरी, नायक की उदात्तता और नेता की अहंमन्यता के विविध स्वर ध्वनित होते हैं। एक ओर वह रहस्य के सूक्ष्म तत्त्वों की खोज में हैं और दूसरी ओर वह जीवन से अगाध मोह भी रखते हैं, एक ओर वह पुरातन में उजले रंग भरते हैं और दूसरी ओर वह आधुनिकता में रम कर उसकी विषमता पर गहरे आघात भी करते हैं, एक ओर वह वंशी की मधुर तान सुनाते हैं और दूसरी ओर वह ओज का शंखनाद भी करते हैं, एक ओर वह यथार्थ के प्रति जागरूक हैं तो दूसरी ओर वह आदर्श के प्रति भी उन्मुख हैं। इन परस्पर-विरोधी तत्त्वों से उनका व्यक्तित्व निर्मित है और इन सम-विषम स्वरों से उनका काव्य-संगीत रचित है।

●

६

महादेवी

जीवनी
काव्य-कृतियाँ
दुःखवाद का स्वरूप
प्रकृति-चित्रण
रहस्यवाद का स्वरूप
कला-पक्ष एवं गीतिकाव्य

६

महादेवी

छायावादी कवियों में महादेवी का विशिष्ट स्थान है। वह इसलिये नहीं कि वह नारी हैं, वरन इसलिये कि उन्होंने छायावादी काव्य के भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष को विकसित किया है। महादेवी की अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा इस काव्य को सबसे अधिक देन यह है कि कविता उनके कंठ से विशुद्ध अनुभूतिमयी हो कर फूटी है। हृदय की सूक्ष्मतम एवं गहनतम भावनाओं को जितनी सफलता के साथ महादेवी ने व्यक्त किया है, उतनी सफलता के साथ अन्य छायावादी कवि शायद ही कर सका हो। उनके काव्य में मात्र कला का विकास न होकर हृदय की झंकार भी है। प्रसाद, निराला और पंत वस्तु-परक कविता लिखने की ओर भी उन्मुख रहे हैं—प्रसाद 'कामायनी' लिख कर, निराला 'तुलसी-दास' और पंत प्रगतिशील कविताओं का सृजन करके। परन्तु महादेवी

ने आरम्भ से लेकर अन्त तक आत्मपरक कवितायें ही लिखी हैं। उनकी वाणी गीति-काव्य के माध्यम से मुखरित हुई है, जिसमें गहन वेदना और सुकुमार कल्पना का मधुर-मिलन है। गीति-काव्य के लिये यह आवश्यक है कि एक ही मार्मिक उद्‌गार कसक-भरे शब्दों में स्वाभाविक रूप से फूट पड़े और उसकी वेदना हृदय में घर करती चली जाए। महादेवी के काव्य का यह गुण है कि उनके गीत सीधे हृदय को झंकृत करते हैं। छायावादी काव्य में प्रसाद ने यदि मादकता को मिलाया, निराला ने उसे मुक्त छंद दिया, पंत ने शब्दों को खराद पर चढ़ा कर उसे सुडौल और सरल बनाया तो महादेवी ने उसकी भावात्मकता को समृद्ध किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रसाद, निराला और पंत ने भाव-पक्ष की उपेक्षा की है। उनकी कविता में भी भाव-पक्ष का समृद्ध रूप निखर कर सम्मुख आया है। महादेवी का कला-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष के प्रति अधिक आग्रह है। इस बीच में यदि स्वाभाविक भावना स्वतः ही नवीन छंद में निस्सृत हो गई है तो वह महादेवी का जान बूझ कर छंद-परिवर्तन करना या नवीन प्रयोग करना नहीं कहा जा सकता, जैसा कि प्रसाद, पंत तथा निराला के काव्य में हुआ है। प्रसाद ने अनेक प्रयोग किये हैं, जैसा कि उनका 'प्रेम-पथिक' लिया जा सकता है, जिसे उन्होंने ब्रजभाषा से खड़ी बोली में और बदले हुए छंदों में लिखा। पंत ने तो स्पष्ट ही 'पल्लव' की भूमिका में शब्दों की योजना में प्रयोग और ब्रज-भाषा तथा खड़ी बोली के अन्तर के साथ नवीन छन्दों की ओर भी इंगित किया है। निराला छंद के नाते विख्यात हैं। उनकी कविता 'बंधनमय छंदों की छोटी राह' छोड़ कर बही है। परन्तु महादेवी ने ऐसा नहीं किया है। उन्होंने केवल आत्म-प्रकाशन पर दृष्टि रखी है और इस बीच में यदि नवीन शब्दों, प्रतीकों, और छंदों का प्रयोग हो गया है तो वह संयोगवश ही हुआ है। और वह इतना अधिक हुआ है कि उसका विशेष कारण है। उनकी कविता में वेदना या टीस अधिक है, जो उनके काव्य

की मूल भावना है। महादेवी की कविता में वेदना और करुणा का साम्राज्य है। वेदना के ताप से गल कर उनके हृदय की द्रवीभूत अनुभूति पारे की भाँति तरल हो कर बह निकली है।

महादेवी की कविता की इस विशेषता का मूल कारण उनका जीवन है। उनका जन्म अत्यन्त सम्पन्न परिवार में हुआ है—पिता बाबू गोविन्द प्रसाद वर्मा एडवोकेट और माता श्रीमती हेमरानी देवी विदुषी तथा कला-प्रिय नारी। शिक्षा के प्रति उनके विचार बड़े उदार रहे हैं। इसीलिये महादेवी की स्कूली शिक्षा के साथ घर पर उन्हें चित्रकला और संगीतकला की शिक्षा देने का भी प्रबन्ध किया गया था। इस प्रकार उदार विचारों के पिता तथा कविता और भावुकता की मूर्ति माता द्वारा संगीतकला, चित्रकला, और काव्यकला के विकास की सुविधायें पा कर महादेवी ने अपने बाल्य-जीवन के सुखद दिवस समाप्त किये। तभी ग्यारह वर्ष की छोटी आयु में उनका विवाह हो गया। उसके बाद उन्हें महात्मा बुद्ध के जीवन और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन करने का अवसर मिला। बौद्ध-दर्शन का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने निश्चय किया कि वे विवाहित जीवन का परित्याग कर बौद्ध भिक्षुणी हो कर रहेंगी। उन्होंने अपने परिवार का अधिक विरोध न कर अपना अध्ययन जारी रखा। अन्त में प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० पास करने के बाद महादेवी ने अपने भिक्षुणी होने के स्वप्न को सेवा द्वारा साकार करना चाहा। वह तब से पति से अलग रह कर प्रयाग महिला-विद्यापीठ की आचार्या के रूप में कार्य कर रही हैं। अत्यन्त सादा जीवन बिताते हुए वह साहित्य-साधना में निरत रही हैं। उनका कथन है कि साहित्य-सेवा उनके सम्पूर्ण जीवन की साधना नहीं है। वह साहित्य-साधना तब करती हैं, जब उन्हें विद्यापीठ के कार्यों से अवकाश मिल जाता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—'मेरी सम्पूर्ण कविता का रचना-काल कुछ घंटों में ही सीमित किया जा सकता

है। प्रायः ऐसी कविताएँ कम हैं, जिनके लिखते समय मैंने रात में चौकीदार की सजग वाणी या किसी अकेले जाते हुए पथिक के गीत की कोई कड़ी नहीं सुनी।' इस प्रकार उनका जीवन मूलतः सेवा का है अथवा रचनात्मक एवं क्रियात्मक व्यक्ति का है।

कविता के संस्कार उन्हें अपनी माँ के द्वारा प्राप्त हुए हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—'माँ से पूजा आरती के समय सुने हुए मीरा, तुलसीदास आदि के स्वरचित पदों के संगीत पर मुग्ध हो कर मैंने ब्रज-भाषा में पद-रचना आरम्भ की थी। मेरे प्रथम हिन्दी-गुरु भी ब्रज-भाषा के ही समर्थक निकले, अतः उलटी-सीधी पद-रचना छोड़कर मैंने समस्या-पूर्तियों में मन लगाया। बचपन में जब पहले-पहल खड़ी-बोली की कविता से मेरा परिचय पत्रिकाओं द्वारा हुआ तब उसमें, बोलने की भाषा में ही, लिखने की सुविधा देख कर मेरा अबोध मन उसी ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा। गुरु उसे कविता ही न मानते थे। अतः छिपा-छिपा कर मैंने रोला और हरिगीतिका में भी लिखने का प्रयत्न किया। माँ से सुनी एक करुण कथा का प्रायः सौ छंदों में वर्णन कर मैंने मानो खण्ड-काव्य लिखने की इच्छा भी पूरी कर ली। बचपन की वह विचित्र कृति कदाचित खो गई है। उसके उपरान्त बाह्य-जीवन के दुःखों की ओर मेरा विशेष ध्यान जाने लगा था। पड़ोस की एक विधवा वधू के जीवन से प्रभावित होकर मैंने 'अबला' 'विधवा' आदि शीर्षकों से उस जीवन के जो शब्द-चित्र दिए थे वे उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में भी स्थान पा सके। पर जब मैं अपनी विचित्र कृतियों तथा तूलिका और रंगों को छोड़कर विधिवत अध्ययन के लिए बाहर आई तब सामाजिक जागृति के साथ राष्ट्रीय जागृति की किरणें फैलने लगी थीं, अतः उनसे प्रभावित होकर मैंने भी 'शृंगारमयी अनुरागमयी, भारत जननी भारत माता', 'तेरी उतारूँ आरती माँ भारती' आदि जिन रचनाओं की सृष्टि की वे विद्या-

लय के वातावरण में ही खो जाने के लिए लिखी गई थीं। उनकी समाप्ति के साथ ही मेरा कविता का शैशव भी समाप्त हो गया। इस समय से मेरी प्रवृत्ति एक विशेष दिशा की ओर उन्मुख हुई, जिसमें व्यष्टिगत दुःख समष्टिगत गम्भीर वेदना का रूप ग्रहण करने लगा और प्रत्यक्ष का स्थूल रूप एक सूक्ष्म चेतना का आभास देने लगा।..... करुणा-बहुल होने के कारण बुद्ध सम्बन्धी साहित्य भी मुझे बहुत प्रिय रहा है।'[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी का जीवन विचित्र परिस्थितियों के प्रभावों से पूर्ण है। सम्पन्न और शिक्षित परिवार में जन्म, चित्रकला और संगीत की शिक्षा का प्रबन्ध, बुद्ध की करुणा की गहरी छाया, दार्शनिक चिन्तन, पति से वियुक्त एकाकी जीवन, सेवा-भावना का अत्यधिक उज्ज्वल रूप आदि ने मिल कर उनके व्यक्तित्व को निखारा है। जीवन के पट में ऐसे बहुरंगी धागों का संयोग अन्यत्र मिलना कठिन है। इस प्रकार महादेवी अपने व्यक्तित्व में विशिष्ट हैं।

महादेवी के व्यक्तित्व से परिचित होने के उपरान्त उनकी कृतियों से अवगत होना अपेक्षित है। अब तक इनके पाँच काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा'। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' तथा 'सान्ध्यगीत' की १८५ कविताएँ एक ही संग्रह 'यामा' में संकलित की गई हैं। इस प्रकार आज 'यामा' और 'दीपशिखा' उनके काव्य के दो संग्रह उपलब्ध होते हैं। इन काव्य ग्रंथों में संगृहीत गीतों से जहाँ महादेवी के आध्यात्मिक चिंतन और रहस्यमयी भावना का पता चलता है, वहाँ उनकी 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' आदि गद्य-कृतियों से उनके सामाजिक चिन्तन के स्वरूप के दर्शन होते हैं। इन रेखा-चित्रों और संस्मरणों में महादेवी की आत्मा

---

१. आधुनिक कवि, भाग १

छायावाद की सुन्दर भूमि से सामाजिक यथार्थ की कठोर भूमि पर उतर आई है। लेकिन उनकी समवेदना इतनी सरल और पावन है कि जिन व्यक्तियों को लेकर ये रेखाचित्र लिखे गये हैं, उनसे महादेवी का रागात्मक सम्बन्ध हो गया है। उनकी दयनीय दशा का चित्र अंकित करते हुए महादेवी ने व्यंग्य का भी आश्रय लिया है जो आज के गद्य की एक प्रमुख विशेषता है। परन्तु गद्य में भी उनकी गहन दृष्टि का आलोक है। उनके विचारक रूप की झाँकी पाने के लिये 'शृंखला की कड़ियाँ' और 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पठनीय हैं। इनमें उनके व्यक्तित्व का सामाजिक पक्ष झलकता है जिसकी प्रायः उपेक्षा की जाती है। पहली कृति में नारी को लेकर समाज के सम्बन्ध में वस्तु-स्थिति के चित्रण के साथ वैज्ञानिक विवेचन किया गया है और दूसरी में साहित्य की समस्याओं—छायावाद, गीतिकाव्य आदि—पर कवयित्री ने अपने गम्भीर चिन्तन का परिचय दिया है। आधुनिक साहित्यिक समस्याओं पर लिखे ये निबन्ध महादेवी के विशिष्ट दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं।

उनके काव्य की मूल विशेषताओं का अनुशीलन करने के लिये उनके व्यक्तित्व के दोनों पक्षों का मन्थन आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं है कि महादेवी का व्यक्तित्व अपनी निजता रखता है। भक्ति-काल में जो स्थान मीरा को प्राप्त था वही छायावाद में महादेवी को उपलब्ध है और इसी को देख कर लोग उन्हें आधुनिक युग की मीरा भी कहते हैं। इस विषय में कुछ मतभेद भी पाया जाता है। महादेवी स्वयं इस प्रकार मीरा से उपमा देना अनुचित एवं असंगत समझती हैं। इस विषय पर सम्मति देने का लोभ संवरण करना भी कठिन है। जहाँ तक दुःख-दर्द और पीड़ा-कसक का सम्बन्ध है वहाँ तक मीरा और महादेवी में विशेष अन्तर नहीं है। मीरा राजकुमारी थीं और उन्होंने 'मेरो दर्द न जाने कोय' की पुकार लगाई थी। महादेवी यद्यपि राजघराने में उत्पन्न नहीं

हुई, परन्तु ऐसे संपन्न परिवार में उनका जन्म हुआ है जहाँ सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं। उन्होंने अपने सम्बन्ध में कहा है कि 'अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी री।' इस प्रकार वेदना और पीड़ा का संसार दोनों के पास है। अन्तर है परिस्थितियों और शिक्षा-दीक्षा का। मीरा रहस्यवादी सन्तों की परम्परा के संस्कार लेकर आई थीं और रैदास की कृपा से उन्होंने सहज ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया था। महादेवी बीसवीं सदी के वैज्ञानिक युग में पैदा हुई हैं, जहाँ वह भिक्षुणी भी नहीं बन पाईं। उनकी शिक्षा भी बड़े-बड़े ऊँचे भवनों में हुई है। मीरा ने अपने को 'गिरधर गोपाल' के प्रति समर्पित कर दिया था और 'अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोई' थी। उनका प्रियतम सगुण साकार था। महादेवी ने भी असीम के प्रति अपने को समर्पित किया है और आँसू उन्होंने भी कम नहीं बहाए हैं। उनका प्रियतम निर्गुण निराकार है। मीरा की कविता में त्रिकुटी, अनहद-नाद, सुरत-निरत, ज्ञान-दीपक, सुषुम्ना की सेज, सुन्न महल, हंस और अगम देश की चर्चा होने पर भी रहस्य भावना गौण है। उनके भावों का प्रेरक ब्रज का छलिया गिरधर नागर था। महादेवी में ऐसे प्रतीक नहीं मिलते क्योंकि आज का युग इन प्रतीकों का नहीं है। इसलिये महादेवी में नवीनता भी है और उनकी वेदना कुछ अस्पष्टता से युक्त होने पर भी तीक्ष्णता में मीरा से कम है। मीरा की सीधी अभिव्यक्ति महादेवी में नहीं है। महादेवी के विचार और कल्पनायें भी मीरा में नहीं मिलेंगी। इस प्रकार के अन्तर के होते हुए भी दोनों में कुछ समानताएँ भी हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में महादेवी और मीरा दार्शनिक दृष्टि से एक ही परम्परा की अनुयायिनी प्रतीत होती हैं।

महादेवी मीरा हैं या नहीं इस विवाद में अधिक पड़ना संगत नहीं जान पड़ता। उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व इतना प्रखर है कि उनका महत्त्व किसी प्रकार उपेक्षणीय नहीं है। उनके प्रखर व्यक्तित्व की सब से बड़ी

भावना है—उनकी कविता में दुःखवाद का प्रभाव। यह दुःखवाद, यह पीड़ा का संसार, उनके जीवन में अनजाने ही बस गया है। और जब वह बस गया है तो महादेवी उसे सँजोए चली जा रही है क्योंकि वह उनके उस प्रियतम की देन है, जो विश्व की प्रति साँस में अपना स्वर मिलाए हुए है। उनका हृदय प्रतिक्षण किसी अभाव का अनुभव करता है, उसी की खोज में लीन रहता है। वह सर्वदा शून्यता का अनुभव करती रहती हैं। उस सूनेपन में वह प्राणों का ही दीपक जला कर दीवाली मनाती रहती हैं।[1] इस सूनेपन में दीवाली मनाने का आयोजन उन्होंने इसलिये किया है कि कभी उस प्रियतम से उनका मूक-मिलन हुआ था। परन्तु आज वह सब सपना हो गया है। आज तो उस मूक मिलन द्वारा निर्मित पीड़ा के साम्राज्य में ही उन्हें रहना है जो क्षितिज के पार है, जहाँ मिटना ही निर्वाण है तथा नीरव रोदन ही जहाँ पहरेदार है।[2] पीड़ा को ग्रहण करने के कारण उनके जीवन का लौकिक सुख-स्वप्न नष्ट हो गया है। लौकिक सुख-स्वप्न के नष्ट हो जाने से उल्लास और उत्साह के केन्द्र हृदय में विषाद और निराशा ने घर कर लिया

---

१. अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली,
प्राणों का दीप जला कर करती रहती दीवाली।

२. पीड़ा का साम्राज्य बस गया,
उस दिन दूर क्षितिज के पार,
मिटना था निर्वाण जहाँ,
नीरव रोदन था पहरेदार?
कैसे कहती हो सपना है,
अलि! उस मूक मिलन की बात?
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास!

है। उनकी यह पीड़ा, जिसने विषाद और निराशा से हृदय को भर दिया है, स्वयं उनके अपने जीवन से आई है और उसका माध्यम वह प्रियतम रहा है। जब उनकी प्यार से ललचाई पलकों पर व्रीड़ा का पहरा था तब उस चितवन ने उन्हें पीड़ा का साम्राज्य दे डाला और परिणाम यह हुआ कि उस सोने के सपने को देखे युग बीत गए तथा उनकी आँखों के कोश रीते हो गए, परन्तु फिर सोने के सपने को देखने का अवसर न मिला।[1]

लेकिन यह पीड़ा उन्हें अत्यन्त प्रिय है और वह इसे छोड़ना नहीं चाहतीं। बात यह है कि विरही के लिए पीड़ा का ही एक मात्र सहारा होता है। यदि वह भी न रहे तो फिर उसका जीना दुष्कर हो जाता है। शेखसादी से एक बार किसी ने पूछा था कि तुम इस पीड़ा को क्यों अपने साथ चिपकाए फिरते हो, छोड़ क्यों नहीं देते? शेखसादी ने उसको उत्तर दिया था कि 'पीड़ा ही मेरा जीवन है, यदि इसे छोड़ दूँगा तो मैं मर जाऊँगा'। महादेवी के काव्य में कुछ इस प्रकार की ही स्थिति है। वह भी पीड़ा को अत्यन्त प्यार से सँभाल कर रखना चाहती हैं। दुःख की फिलासफी उनको बुद्ध के जीवन से मिली है और वहीं से करुणा का स्रोत भी उनके जीवन में फूटा है। परन्तु वह उनके काव्य

---

१. इन ललचाई पलकों पर
पहरा था जब व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का!
उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते!
आँखों के कोश हुए हैं
मोती बरसा कर रीते!

में अपना निजीपन बनाए हुए है। वह दुःख को सुख से अधिक महत्त्व देती हैं और उनका विश्वास है कि दुःख ही मानव मात्र को परस्पर निकट लाने का साधन है। उनका कथन है—'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेले भोगना चाहता है, परन्तु दुःख सब को बाँटकर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।' निस्संदेह उनका यह कथन सत्य है। दुःख से जीवन में जो बल आता है उससे आत्मा उज्ज्वल बनती है। उपास्यदेव की आराधना में जितना ही अधिक कष्ट अनुभव होगा उतनी ही आत्मा उसके निकट पहुँचेगी। 'नीहार' और 'रश्मि' में उनका यही दुःखवाद तीव्र रूप में प्रकट हुआ है।

सम्भवतः महादेवी को पीड़ा इसलिये प्रेय है और करुणा इसीलिये श्रेय है कि इससे जीवन की साधना पूरी होती है। यही आनन्द की चरमावस्था तक ले जाने का साधन है। तभी वह अमरों के लोक को ठुकरा देती है, और अपने मिटने के अधिकार को बचाए रखना चाहती हैं। जिस लोक में अवसाद नहीं, वेदना नहीं, जलन नहीं, ऐसे लोक को लेकर क्या होगा? उनके लिये ऐसा लोक व्यर्थ है।[1] दूसरी

---

१. जलना जाना नहीं, नहीं—
जिसने जाना मिटने का स्वाद,
क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार,

बात यह है कि यदि वह न जलेंगी तो उस पीड़ा के साम्राज्य में अन्धकार छा जाएगा इसलिए वह नहीं चाहतीं कि अपने अस्तित्व को मिटा दें।[1] महादेवी के काव्य की यह एक बड़ी विशिष्टता है कि प्रत्येक साधक अन्त में मिलन चाहता है और मिलन में उस दुःख का पर्यवसान चाहता है, जिस दुःख ने कि उसे मिलन की स्थिति तक पहुँचाया है; परन्तु वह दुःख का पर्यवसान नहीं चाहतीं। वह उस मानिनी नायिका की तरह हैं जो प्रियतम की एक भूल पर रूठ जाती है और सौ-सौ बार मनाने पर भी नहीं मानती तथा जिसके जीवन में वह एक भूल सदा के लिए तीर बन कर चुभती रहती है। इसलिए आज महादेवी ने यह दृढ़ संकल्प कर लिया है कि उनके प्राणों की क्रीड़ा कभी शेष न होगी और वह पीड़ा में प्रियतम को और प्रियतम में पीड़ा को देखेंगी—

पर शेष नहीं होगी यह,
मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुमको पीड़ा में ढूँढा,
तुममें ढूँढूँगी पीड़ा।

पीड़ा और प्रियतम एक दूसरे में ऐसे घुल-मिल गए हैं कि दोनों में कोई अन्तर ही नहीं रह गया है। इसलिये वह पीड़ा को ही सर्वस्व मान कर अपना और प्रियतम का मिलन नहीं चाहतीं, विरह में ही उन्हें आनन्द आता है—'मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ।' ऐसा वह क्यों चाहती हैं? इसका उत्तर यह है कि विरह में अतृप्ति है और जब तक अतृप्ति है, अभाव है, तब तक उन्हें उल्लास और आनन्द की प्रेरणा

रहने दो हे देव! अरे यह
मेरा मिटने का अधिकार।

१. चिन्ता क्या है, हे निर्मम, बुझ जाए दीपक मेरा,
हो जायेगा तेरा ही, पीड़ा का राज्य अँधेरा।

में अपना निजीपन बनाए हुए है। वह दुःख को सुख से अधिक महत्त्व देती हैं और उनका विश्वास है कि दुःख ही मानव मात्र को परस्पर निकट लाने का साधन है। उनका कथन है—'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेले भोगना चाहता है, परन्तु दुःख सब को बाँटकर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।' निस्संदेह उनका यह कथन सत्य है। दुःख से जीवन में जो बल आता है उससे आत्मा उज्ज्वल बनती है। उपास्यदेव की आराधना में जितना ही अधिक कष्ट अनुभव होगा उतनी ही आत्मा उसके निकट पहुँचेगी। 'नीहार' और 'रश्मि' में उनका यही दुःखवाद तीव्र रूप में प्रकट हुआ है।

सम्भवतः महादेवी को पीड़ा इसलिये प्रेय है और करुणा इसीलिये श्रेय है कि इससे जीवन की साधना पूरी होती है। यही आनन्द की चरमावस्था तक ले जाने का साधन है। तभी वह अमरों के लोक को ठुकरा देती है, और अपने मिटने के अधिकार को बचाए रखना चाहती हैं। जिस लोक में अवसाद नहीं, वेदना नहीं, जलन नहीं, ऐसे लोक को लेकर क्या होगा? उनके लिये ऐसा लोक व्यर्थ है।[1] दूसरी

---

१. जलना जाना नहीं, नहीं—
जिसने जाना मिटने का स्वाद,
क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार,

मिलती है। मिलन होने पर जीवन में कोई हलचल न रहेगी। तब जीवन बिलकुल मूक हो जावेगा, भावना-हीन सा जड़ और यह महादेवी को स्वीकार नहीं है। उनका विश्वास है कि कामनाओं की चिर-तृप्ति जीवन को निष्फल कर देती है और हमारी प्यास बुझते ही विरक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है [१] बादलों का सजल होना इसी में है कि सारा जल बरसा कर रीते हो जाएँ और सुख की पूर्णता इसी में है कि उससे मन फिर जाए।

महादेवी के काव्य में दुःखवाद, पीड़ावाद, निराशावाद आदि की अभिव्यक्ति का निरूपण प्रायः सभी आलोचकों तथा स्वयं महादेवी ने भी किया है। इस दुःख के स्वरूप तथा कारणों के सम्बन्ध में मतभेद तो पाया जाता है, परन्तु इसके महत्त्व के सम्बन्ध में किसी आलोचक को सन्देह नहीं है। कवयित्री को दुःख के दोनों रूप प्रिय हैं—एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को समस्त संसार से बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में जकड़ी हुई असीम चेतना का क्रन्दन है। यह आंशिक रूप में सत्य है कि दुःख की अनुभूति मन का परिष्कार और हृदय का विस्तार करती है। महादेवी का यह कथन है कि दुःख की अभिव्यक्ति काल और सीमा में जकड़ी हुई असीम चेतना

---

१. चिर तृप्ति कामनाओं का
कर जाती निष्फल जीवन,
बुझते ही प्यास हमारी,
पल में विरक्ति जाती बन।
पूर्णतया यही भरने की
ढुल कर, देना सूने घन,
सुख की चिर पूर्ति यही है
उस मधु से फिर जावे मन।

का क्रन्दन है। भारतीय समाज में परतंत्र नारी के क्रन्दन का भी यह प्रतीक है। इनके काव्य में दुःखवाद अथवा पीड़ावाद का स्वरूप अध्यात्मपरक अथवा समाजपरक, अलौकिक है अथवा लौकिक—इस सम्बन्ध में भारी अन्तर पाया जाता है। आचार्य वाजपेयी की धारणा है कि इनके काव्य में वेदना पहले व्यक्तिगत भावुकता के रूप में झलकती है जो क्रमशः बिखरती गई है। डा० नगेन्द्र इनकी वेदना को अध्यात्मपरक नहीं स्वीकार करते, परन्तु इसमें व्यक्तिगत वासना का परिष्कार अवश्य मानते हैं। कुछ आलोचक वेदना के अध्यात्मपरक स्वरूप को खोजने के लिये इनके काव्य में रहस्यानुभूति की उन तीनों स्थितियों का उद्घाटन भी करते हैं जिनका निरूपण सन्तकाव्य में उपलब्ध होता है। इन्होंने परमात्मा को प्रियतम के रूप में और महादेवी को उसकी साधना में मग्न आत्मा के रूप में उपस्थित किया है। प्रियतम के वियोग में आत्मा की विकलता का व्यापक चित्रण विरह की अभिव्यक्ति में हुआ है। वेदना की अभिव्यक्ति के लिये महादेवी ने दो विधियों को अपनाया है। एक में उनकी आत्म-वेदना का स्पष्ट कथन है और दूसरी में प्रकृति के प्रतीकों के माध्यम से पीड़ा की अभिव्यक्ति है। इन दोनों शैलियों में दूसरी शैली अधिक सम्पन्न एवं कलात्मक है। इस प्रकार वेदना-भाव की अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रायः प्रतीकात्मक है।

इतना होने पर भी महादेवी का एक स्वप्न अवश्य है, जिसकी स्निग्धता से वह परिचित हैं और उनका विश्वास है कि उनका आज का विषाद कभी सुख में बदल जायगा। उनका यह स्वप्न है—'जिस प्रकार जीवन के उषाकाल में मेरे सुखों का उपहास-सा करती हुई विश्व के कण-कण से एक करुणा की धारा उमड़ पड़ी है, उसी प्रकार संध्याकाल में जब लम्बी यात्रा से थका हुआ जीवन अपने ही भार से दब कर कातर-क्रन्दन कर उठेगा, तब विश्व के कोने-कोने में एक अज्ञात पूर्व सुख मुस्करा उठेगा'। 'नीरजा' में महादेवी अपने इस कथन की सार्थकता

सिद्ध करती प्रतीत होती हैं। यहाँ वह दुःख के साथ सुख का अनुभव कभी-कभी कर लेती हैं। अब उनका विषाद मिट-सा चला है। यही भावना 'सांध्यगीत' में अधिक परिष्कृत रूप में व्यक्त हुई है। अब उन्हें अपने हृदय में उस अज्ञात प्रियतम की झलक स्पष्ट प्रतीत होती है। उन्हें एक करुण अभाव में चिरतृप्ति का संसार संचित दिखाई देता है, एक लघु क्षण निर्वाण के सौ-सौ वरदान देने वाला जान पड़ता है और उन्हें आभास होता है कि वेदना के विनिमय में उन्होंने किसी निधि को पा लिया है।[1] आज उनके प्राणों में दूर के संगीत की भाँति कोई गूँजता है और उन्हें अपने को खोकर कुछ खोई हुई वस्तु मिल गई है। विरह की निशा मिलन के मधु-दिन में स्नात होकर आई है। आज उनके हृदय में कोई आकर बस सा गया है।[2] यही कारण है कि वह आज अपने हृदय को अथवा आत्मा को दीपक की भाँति मधुर-मधुर जलने का आदेश देती हैं। 'नीहार' में उनका कथन था—'हे नभ की दीपावलियो! तुम पल भर के लिये बुझ जाना क्योंकि करुणामय को तम के परदे में आना भाता है'।[3] लेकिन 'नीरजा' में प्रियतम के पथ के

---

१. एक करुण अभाव में चिर-तृप्ति का संसार संचित
एक लघु क्षण दे रहा निर्वाण के वरदान शत शत,
पा लिया मैं ने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में,
कौन तुम मेरे हृदय में?

२. गूँजता उर में न जाने दूर के संगीत-सा क्या,
आज खो निज को मुझे खोया मिला विपरीत-सा क्या,
क्या नहा आई विरह-निशि मिलन मधु-दिन के उदय में,
कौन तुम मेरे हृदय में?

३. हे नभ की दीपावलियो!
तुम पल भर को बुझ जाना,

आलोक के लिये उनको अपनी आत्मा को दीप की भाँति जलाए रखना है।[1] 'सांध्य-गीत' में भी उन्हें यही भावना आगे ले जाती है और विरह की घड़ियाँ उन्हें मधुर मधु की यामिनी सी जान पड़ती हैं—'विरह की घड़ियाँ हुईं अलि, मधुर मधु की यामिनी-सी'। 'दीप-शिखा' में तो साधना के प्रारम्भ से लेकर सिद्धि प्राप्त करने तक की सभी स्थितियों के दर्शन हो जाते हैं। उन्होंने अपनी साधना का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि मैं दीप के समान अविराम मिटती हुई स्वजन के समीप-सी आ रही हूँ।[2] सम्भवतः इसीलिए उनका चितेरा तूलिका रख कर सो गया है। ठीक भी है मिलन का प्रभात आए और कल्पना साकार हो जाए तथा चित्र में प्राणों का संचार हो जाए तब साधना की पूर्ति के अन्तिम क्षण का आगमन समझ लेना चाहिए।[3] इस प्रकार पीड़ा उनके काव्य में साधना का माध्यम रही है, जिसके द्वारा वह मिलन की स्थिति तक पहुँचती हैं।

महादेवी ने 'नीहार' से लेकर 'दीप-शिखा' तक वेदना की विविध

करुणामय को भाता है,
तम के परदे में आना।

१. मधुर-मधुर मेरे दीपक जल
युग-युग, प्रति दिन, प्रतिक्षण, प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।

२. दीप-सी में
आ रही अविराम मिट-मिट स्वजन और समीप सी मैं॥

३. सजल है कितना सवेरा।
कल्पना निज देख कर साकार होते
और उसमें प्राण का संचार होते
सो गया रख तूलिका दीपक चितेरा।

स्थितियों तक विभिन्न अनुभूतियों का चित्रण किया है। इनके काव्य में संयोग अथवा मिलन के चित्र सांकेतिक रूप में ही मिलते हैं। विरह की स्थिति में जहाँ मिलन का संकेत मिल जाता है, वहाँ विरह का स्वरूप भी रोमांटिक तथा मधुर है। महादेवी के काव्य में वेदना को अध्यात्मपरक न मानने वाले आलोचक उनके एकाकी जीवन को ही इसका कारण समझते हैं। किसी अभाव ने उनके जीवन को एकाकिनी बरसात बना दिया है। इस अभाव अथवा अतृप्ति को वे स्थूल एवं शारीरिक नहीं मानते वरन सूक्ष्म एवं मानसिक रूप में स्वीकार करते हैं। इस तरह महादेवी के दुःखवाद को अतृप्त कामवासना के परिणाम के रूप में निरूपित किया गया है, अतृप्ति को आध्यात्मिक अनुभूति से जोड़ा गया है और इसके अतिरिक्त उनके व्यक्तिगत जीवन को भी आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है। दुःखवाद का कारण सामाजिक सम्बन्धों में देखने की अपेक्षा अन्य सम्बन्धों में खोजने का प्रयास किया है जिसके फलस्वरूप परस्पर-विरोधी मंतव्यों की अभिव्यक्ति हुई है। महादेवी के दुःखवाद का आधार लौकिक अथवा अलौकिक है यह विवादास्पद है, परन्तु इसके मूल में कारण मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक हैं। वास्तविक प्रेम का जीवन क्यों विरह तथा वेदना का जीवन बन जाता है—इसका अनुशीलन अभी अपेक्षित है। इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि महादेवी के प्रियतम और उनकी पीड़ा ऐसे घुलमिल गए हैं कि इनमें अन्तर का अभाव है। उठे हुए जीवन में मीरा और गिरधर नागर, कबीर और साहब, और सामान्य जीवन में लैला और मजनूँ के प्रेम में अन्तर नहीं रह जाता। इसी प्रकार का प्रेम महादेवी तथा उनके चिर-सुन्दर में उपलब्ध होता है। उनके काव्य की इस मूल विशेषता के पश्चात दृष्टि सहसा उनके माधुर्य भाव की ओर चली जाती है। मीरा की भाँति वह भी माधुर्य-भाव की उपासिका हैं। माधुर्य भाव में प्रिया और प्रियतम का सम्बन्ध माना जाता है। भगवान को साधकों ने कभी माता, कभी पिता, कभी

स्वामी, कभी सखा, कभी प्रियतमा और कभी प्रियतम के रूप में आँका है। इन सभी रूपों में प्रियतम-प्रियतमा का रूप सब से अधिक आनन्द-प्रद है, क्योंकि इसमें परस्पर के भाव-प्रकाशन में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रहता। गोपियों की कृष्णोपासना भी इसी रूप की थी, इसीलिये वे कृष्ण के निकटतम थीं। महादेवी भी माधुर्य-भाव से ही अपने प्रियतम को स्मरण करती हैं। वह नारी हैं और नारी के लिए इससे अधिक स्वाभाविक पथ दूसरा नहीं हो सकता। यह भी एक कारण है कि उन्होंने अपने ब्रह्म को प्रियतम का रूप दिया है। वह अपने प्रियतम को बहुधा 'प्रिय' कह कर पुकारती हैं। उसके सौन्दर्य का वर्णन करते समय 'सुन्दर', 'चिर सुन्दर' और उसकी उपेक्षा को बताते हुए 'निठुर', 'निर्मोही', 'निर्मम' आदि कह कर भी सम्बोधित करती हैं। इस प्रकार वह समयानुकूल संबोधनों की कल्पना करती हैं। महादेवी की विशेषता यह है कि वह सर्वत्र गम्भीर रहती हैं। कभी उनको गोपियों की भाँति प्रियतम से छेड़-छाड़ या हास-परिहास करने का विचार नहीं आता। वस्तुतः वह सूक्ष्म ब्रह्म की उपासिका हैं जहाँ उनकी कोई प्रतिद्वंद्विनी नहीं है और जहाँ असीम पथ पर उन्हें स्वयं आगे बढ़ना है। इसलिए उनकी पूजा भी स्वयं मन के भीतर होती है। किसी मन्दिर में उनका प्रियतम नहीं है, जहाँ वह मीरा की भाँति नाच सकें। वह तो बाह्य पूजा के विधान को भी स्वीकार नहीं करतीं। उनकी दृष्टि में बाह्य पूजा या अर्चना व्यर्थ है। जब उनका लघुतम जीवन ही उस असीम का सुन्दर मन्दिर है, उनकी श्वासें नित्य प्रिय का अभिनन्दन करती रहती हैं, पद-रज धोने के लिए लोचनों के जल-कण उनके पास हैं, पुलकित रोम ही अक्षत हैं, पीड़ा ही चन्दन है, स्नेह-भरा मन झिलमिलाते दीप की भाँति जलता रहता है, दृग-तारक ही कमल पुष्प का काम देते हैं, हृदय की धड़कन ही धूप बन कर उड़ती रहती है, अधर 'प्रिय-प्रिय' जपते हैं और पलकों का नर्तन ताल देता है, तब बाह्याडम्बर की क्या आवश्यकता

है ?[1] इसीलिए वे शून्य मन्दिर में स्वयं प्रियतम की प्रतिमा बन जाना चाहती हैं और उनके गीले नयन आरती करना चाहते हैं।[2] यह सब देख कर लगता है कि महादेवी पर भक्तों और सन्तों का गहरा प्रभाव पड़ा है। जहाँ इस प्रकार के निवेदन हैं, वहाँ भक्तों और सन्तों से प्रभावित भक्ति-भावना का ही प्रकाशन अधिक है, रहस्य-भावना का कम। उन्होंने मधुरतम व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करके उसके प्रति आत्म-निवेदन किया है। इस आत्म-निवेदन में उनकी आत्मा स्वकीया की भाँति अपने प्रियतम के पथ में आँखें बिछाए रहती है और निरन्तर उनकी पूजा-अर्चना का विधान करती है।

महादेवी की कविता में तीसरा विशेष तत्त्व है—उनके द्वारा गृहीत प्रकृति का स्वरूप। छायावाद में प्रकृति का कई रूपों में उपयोग हुआ है। कहीं वह सचेतन मानवी बन कर सामने आई है, कहीं स्वतंत्र चित्रण के रूप में और कहीं मानव-मन में उठती सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों की व्यंजना में सहायता देने के लिए। यह अन्तिम रूप ही प्रमुख है जिसमें

---

१. क्या पूजा क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे।
पद-रज को धोने उमड़े आते लोचन में जल कण रे।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे।
स्नेह-भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे।
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे।
धूप बने उड़ते रहते हैं, प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे।
प्रिय-प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे।

२. शून्य मन्दिर में बनूँगी आप मैं प्रतिमा तुम्हारी।
मेरे गीले नयन बनेंगे आरती।

मानव ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया है। प्रकृति मानो एक अंग है, जिसके द्वारा भावनाएँ सरलता से व्यक्त हो जाती हैं। आज ही नहीं रीतिकाल में भी जब कि प्रकृति जड़ बन कर रह गई थी, उसका यह रूप किसी न किसी प्रकार सामने आता रहा। छायावाद तो प्रकृति को सचेतन करने के लिए आया ही था। छायावाद में कहीं तो यह हुआ है कि भावनाएँ ही प्रकृति का माध्यम हुई हैं और कहीं प्रकृति चित्रण से ही भावनाएँ व्यक्त हुई हैं और कहीं दोनों का समानुपात हुआ है। स्वतंत्र प्रकृति-चित्रण इस काल में कम ही हुए हैं और जो हुए हैं वे भी कला-विन्यास के लिये। महादेवी ने प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण बहुत कम किए हैं। प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण के लिये 'यामा' में उनकी एक ही कविता है—'हिमालय के ऊपर'। उसमें भी उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति उभर कर आई है। प्रकृति के रूपों, दृश्यों और भावों को महादेवी ने एक चेतन व्यक्तित्व दिया है। इसे यों कहें कि प्रकृति उनके साथ ही उनके प्रियतम के प्रति आत्म-निवेदन में सहायक होकर समर्पित हो गई है तो अधिक संगत होगा। यही रूप उनके काव्य में अधिक प्रमुखता रखता है। वह भी अन्य कवियों की भाँति ब्रह्म की ओर जाती हुई प्रकृति के सौन्दर्य से आकर्षित हो कर उसमें कुछ काल के लिये खो जाती हैं। लेकिन ऐसी कविताओं में भी उनकी अन्तिम पंक्ति से वह अपने जी की जलन भी व्यक्त कर ही देती हैं। मन की तीव्र व्यथा उन्हें इतनी प्रिय है कि उससे वह स्वयं को बचा नहीं सकतीं और सर्वत्र उसकी छाया छा ही जाती है। 'रश्मि' नामक कविता में ही प्रभात के स्वतंत्र और सुन्दर चित्र मिलते हैं। लेकिन उसके अन्त में नींद अपने स्वप्न-पंख फैला कर क्षितिज के पार उड़ गई है और अध-खुले दृगों के कंज-कोश पर विस्मृति का खुमार छाया हुआ है। यही नहीं प्रभात-काल की स्वर्ण वेला में यह हृदय-चितेरा अश्रु-हास ले कर सुधि-विहान रँग रहा है। महादेवी के काव्य में प्रकृति के अनेक रूपक मिलते हैं। 'रूपसि

तेरा घन केश-पाश' में पावस का, 'धीरे धीरे उत्तर क्षितिज से आ वसन्त रजनी' में वसन्त की रात्रि का, 'लय गीत अमर, पद ताल अमर' में प्रकृति का अप्सरा के रूप में चित्रण आदि प्रकृति के ऐसे सांग रूपक हैं जिनमें प्रकृति का मानवीकरण किया गया है और उसका स्वरूप नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष हो गया है। इन से भी अधिक प्रकृति का स्वरूप वहाँ खुला है, जहाँ प्रकृति के साथ कवयित्री ने अपने जीवन को एकाकार कर दिया है। इस दृष्टि से 'प्रिय! सान्ध्य गगन मेरा जीवन' वाला गीत उत्कृष्ट है। सांध्य गगन के सौन्दर्य के साथ अपने जीवन का सांमजस्य स्थापित किया गया है। महादेवी का कथन है कि मेरा जीवन सांध्य गगन की भाँति है, गोधूलि वेला के कारण धुँधला क्षितिज मेरे हृदय का विराग है, सान्ध्य नभ की लालिमा सा ही मेरा सुहाग है, संध्या की शून्य छाया के समान ही राग-हीन मेरी काया है और रँगीले घन ही मेरे सुधि भरे स्वप्न हैं। इस प्रकार संध्या और मेरे जीवन में कोई अन्तर नहीं है।[1] इन पूर्ण रूपकों के अतिरिक्त ऐसे खण्ड-रूपकों की भरमार है जहाँ प्रकृति के कुछ चित्र लेकर अपनी भावनाओं को व्यक्त किया गया है। 'विरह का जलजात जीवन! विरह का जलजात!' और 'मैं नीर भरी दुख की बदली' आदि गीतों में ऐसे ही रूपक उपयुक्त हुए हैं।[2] इस प्रकार महादेवी के काव्य

---

१. प्रिय! सांध्य गगन, मेरा जीवन!
यह क्षितिज बना धुँधला विराग
नव अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधि-भीने स्वप्न रँगीले घन!

२. (क) विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।
वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास,

में प्रकृति के रंगीन चित्र असंख्य हैं, पर वे या तो उनकी भावना से रँगे हुए हैं या उनमें उनकी भावना व्याप्त है। प्रकृति उनके काव्य में एकाकार होकर उनकी विरह-मिलन की अनुभूतियों के चित्रण में सहायक बन कर आती है। उनके काव्य में प्रकृति शृंगार की वस्तु है, प्रियतम की ओर संकेत करने वाली सहचरी है, अपनी आत्मा की छाया है, ब्रह्म की छाया है। इस प्रकार प्रकृति-चित्रण उद्दीपन, अलंकरण, मानवीकरण के रूपों के अतिरिक्त उस विराट चेतना को अभिव्यक्ति देने के लिये भी हुआ है जिसकी छाया वह प्रकृति में देखती हैं। उनकी विराट तक पहुँचने की साधना के पथ पर प्रकृति सदैव उनके साथ रही है। महादेवी ने छायावाद तथा प्रकृति के नये सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी।' इस प्रकार छायावादी कवि के लिये प्रकृति का एक-एक कण एक सजीव व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। वह उसकी स्वतंत्र सत्ता की ओर आकृष्ट हुआ। प्रकृति महादेवी के काव्य के भावपक्ष का ही नहीं कलापक्ष का भी शृंगार करती है जिसमें नारी की अलंकार-प्रियता लक्षित होती है। उन्होंने प्रकृति को ससीम तथा असीम में तादात्म्य स्थापित करने के लिये माध्यम एवं साधन भी बनाया है।

अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात!

(ख) मैं नीर भरी दुख की बदली!
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली।

उनके काव्य में प्रकृति और पीड़ा दोनों का इष्ट की सिद्धि के लिये समान महत्त्व है। इस सम्बन्ध में वह अपनी गहन तथा व्यापक दृष्टि का परिचय देती हुई लिखती हैं—'जड़ चेतन के बिना विकास-शून्य है और चेतन जड़ के बिना आकार-शून्य है। इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया ही जीवन है।' महादेवी के काव्य में प्रकृति-चित्रण तथा प्रकृति-दर्शन का यह मूलाधार है।

इसके अतिरिक्त महादेवी के काव्य में रहस्यवाद की भी अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। रहस्यानुभूति का सम्बन्ध साधकों एवं सन्त कवियों से चला आ रहा है। परन्तु महादेवी साधक नहीं आराधक हैं जैसा उनके माधुर्य-भाव के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है। इस आराधना के कारण उनका कवि सदैव शिशु की भावुकता से अभिभूत रहा है। इसीलिए उनकी अनुभूति कभी क्षीण नहीं पड़ी। 'दीप-शिखा' के गीतों में भी जहाँ चिंतन अधिक गहरा हो गया है, वह अपने उसी सहज आकर्षक रूप में विद्यमान हैं। उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है—'मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस (प्राकृतिक) अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना इस काव्य का (रहस्यवादी काव्य का) दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।' उसके प्रथम रूप के बारे में वह कहती हैं—'छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-विन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति में मानवीय भावों की छाया या उसके साथ मानव-भावना का तादात्म्य महादेवी की सम्मति

में छायावाद है और जब प्रकृति में एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके प्रति आत्म-निवेदन किया जाता है, तब रहस्यवाद हो जाता है। इस प्रकार रहस्यवाद छायावाद का दूसरा सोपान है।

महादेवी के काव्य में चिन्तन का पुट गहरा होता गया है और चिन्तन दर्शन की ओर ले जाता है, जिसके भावात्मक प्रकाशन को रहस्यवाद कहते हैं। आत्मा और परमात्मा दोनों एक हैं। आत्मा परमात्मा से वियुक्त होकर माया के आवरण में अपने शुद्ध स्वरूप को न देख सकने के कारण परमात्मा का अनुभव नहीं कर सकती। यदि साधना द्वारा माया का आवरण हटा दिया जाए तो परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। यह आत्मा के परमात्मा तक पहुँचने का साधन है। रहस्यवादी कवि भी इसका सहारा लेता है। वह सृष्टि में सर्वत्र उसी की छाया देख कर पूछ उठता है कि न जाने वह कौन है, जो तारों में हँसता, विद्युत में चमकता और ओस-विन्दुओं में रोता है। उस 'कौन' के लिये उसकी आत्मा जिज्ञासा-भाव से पीड़ित हो उठती है। प्रकृति के परिवर्तन में उसे उसी का भाव जान पड़ता है।[1] इसके साथ-साथ वह अपने प्रियतम के पथ की ओर निरन्तर बढ़ता जाता है और उस पथ पर चलते हुए उसे विरह की तीव्र वेदना सहनी पड़ती है। यह विरह की तीव्र वेदना ही रहस्यवादी कवि के काव्य का प्राण होती है। ऐसे स्थलों पर वह लौकिकता के रूपकों को अपनाने के लिये बाध्य होता है। महादेवी ने स्वयं

---

१. जब कपोल-गुलाब पर शिशु-प्रात के
सूखते नक्षत्र-जल के विन्दु से
रश्मियों की कनक धारा में नहा
मुकुल हँसते मोतियों का अर्घ्य दे,
स्वप्न शाला में यवनिका डाल जो
तब दृगों को खोलता वह कौन है?

इस सम्बन्ध में कहा है कि रहस्यवाद में मर्मस्पर्शी व्यंजना के लिए लौकिकता का इतना आधार अत्यन्त आवश्यक होता है। उनके शब्दों में, 'जायसी की परोक्षानुभूति चाहे जितनी ऐकांतिक रही हो, परन्तु उनकी मिलन-विरह की, मधुर और मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना क्या किसी लोकोत्तर लोक से रूपक लाई थी? उनके आध्यात्मिक संकेतों से अपरिचित होने पर भी उनके लौकिक रूपकों से घनिष्ठ परिचय रहता है। कबीर की ऐकान्तिक रहस्यानुभूति के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। कबीर और जायसी की भाँति ही महादेवी की रहस्यानुभूति भी लौकिक रूपकों द्वारा व्यक्त हुई है। वह भी अपने को उसी एक-मात्र सत्ता की चिर-विरहिणी समझती हैं और उसी की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं। वह उससे भिन्न नहीं हैं क्योंकि जैसे सिन्धु को वीचि-विलास अपना कुछ परिचय नहीं दे सकते, उसी प्रकार कवयित्री के बुदबुद प्राण भी उसी महासागर में लीन होते और उसी से प्रकट होते हैं।[1] उनकी आत्मा का परमात्मा से वही सम्बन्ध है जो विधु-बिम्ब से चन्द्रमा का सम्बन्ध होता है। इसीलिए उनका कथन है कि उस किरण को कौतूहल के बाण खींच कर विश्व में ले आते हैं और जब ओस से धुले पथ में तेरा छिपा आह्वान आता है तो वही किरण अपना अधूरा खेल भूलकर तुम्हीं में अन्तर्धान हो जाती है।[2] यह अनुभव कर कवयित्री अपना परिचय

१. सिन्धु को क्या परिचय दें देव, बिगड़ते वीचि-विलास?
क्षुद्र हैं मेरे बुद-बुद प्राण तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश।

२. तुम हो विधु के बिम्ब, और मैं
मुग्धा रश्मि अजान
जिसे खींच लाते अस्थिर कर
कौतूहल के वाण।
ओस धुले पथ में छिप तेरा जब आता आह्वान।
भूल अधूरा खेल तुम्ही में होती अन्तर्धान।

नहीं देना चाहतीं। जब वह और प्रियतम एक ही हैं तब फिर परिचय कैसा? चित्र का रेखाओं से, राग का स्वर से, असीम का सीमा से और काया का छाया से जो सम्बन्ध है वही आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध है। फिर परिचय देना व्यर्थ है।[1] जब इस स्थिति का अनुभव हो जाता है तब व्यथा न जाने कहाँ चली जाती है, नयन श्रवण-मय और श्रवण नयनमय हो जाते हैं। रोम-रोम में एक नया स्पन्दन होने लगता है और छाले प्रसन्नता से फूल बन जाते हैं।[2] सीमा असीम में मिट जाती है और असीम सीमा में बँध जाता है। विरह की रात तब मिलन का प्रात बन जाती है।[3] तब आराधिका बन्दिनी होकर भी बंधनों की स्वामिनी सी हो जाती है—'बन्दिनी बन कर हुई मैं बंधनों की स्वामिनी सी।' यही वह स्थिति है जिससे अभिभूत होकर वह गा उठती है कि 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ'। तब समस्त विश्व का सुख-दुःख प्रियतम के कारण मधुर बन जाता है।[4] और आराधिका का स्पर्श पाते

---

१. चित्रित तू मैं हूँ रेखाक्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम, तू असीम मैं छाया का भ्रम
काया छाया में रहस्यमय! प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या?
तुझ मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या?

२. नयन श्रवण-मय श्रवण नयन-मय आज हो रहे कैसी उलझन,
रोम रोम में होता री सखि एक नया उर का सा स्पन्दन,
पुलकों से भर फूल बनाए गिने प्राणों के छाले हैं
मुस्काता संकेत भरा नभ अलि, क्या प्रिय आने वाले हैं?

३. चिर विरह की रात को अब
तू मिलन का प्रात रे कह।

४. मधुर मुझ को हो गए सब
मधुर प्रिय की भावना ले।

ही काँटे कलियाँ और प्रस्तर रसमय हो जाते हैं—'मेरे पद छूते ही होते काँटे कलियाँ, प्रस्तर रसमय'। इस प्रकार महादेवी में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है और वह कबीर और जायसी के बाद हिन्दी में रहस्यवाद की परम्परा को समृद्ध करने वाली आधुनिक कवयित्री हैं। मीरा की-सी तीखी और सरल अनुभूति उनमें नहीं है, परन्तु कल्पना के मधुर संयोग से उन्होंने जिस भावना-लोक में अपने प्रियतम के साथ आँख-मिचौनी खेली है और प्रकृति के सौन्दर्य के माध्यम से उससे साक्षात्कार किया है, वह मीरा के काव्य में उपलब्ध नहीं होता। उनकी सूक्ष्म रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति में कहीं-कहीं अस्पष्टता भी लक्षित होती है। इसके अनेक कारण हैं। प्रतीकात्मक पद्धति के कारण अस्पष्टता सभी छायावादी कवियों की रचनाओं में उपलब्ध होती है। महादेवी में अस्पष्टता का एक कारण यह भी है कि साधना की जिस भूमिका से उनका आत्मनिवेदन हुआ है, वह एकदम बुद्धि-गम्य नहीं होता। उनके नारी-हृदय ने संयम की सीमारेखा को नहीं लाँघा है। यह भी एक कारण है जिससे उनका काव्य कहीं-कहीं अस्पष्ट है। इतना होने पर भी यदि उनके जीवन और साधना-पथ को समझ लिया जाए तो उनकी कविता समझने में कोई कठिनाई न होगी।

महादेवी के काव्य का कलापक्ष भी उतना ही सम्पन्न है जितना कि उसका भावपक्ष। वह इसलिए नहीं कि उन्होंने प्रसाद, निराला आदि की भाँति कोई नयी क्रान्ति की है। उसकी सम्पन्नता स्वाभाविकता में है। उनकी दृष्टि में कविता हृदय की अनुभूति है। पालिश करने से उसका स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए वह जो रचनाएँ लिखती हैं, एक ही बार लिखती हैं, उसे 'संशोधन', 'खराद' या 'पालिश' की कसौटी पर नहीं कसतीं। यही कारण है कि उनके काव्य में कृत्रिमता का आभास कम मिलता है। उसमें हृदय से उद्भूत भावों और अनुभूतियों की एकरूपता प्रलक्षित होती है। इस अकृत्रिमता के कारण ही

उनकी भाषा परिष्कृत, मधुर और कोमल है। स्वाभाविकता के प्रति उनका इतना आग्रह है कि मात्राओं की पूर्ति और तुक के लिए कुछ शब्दों का अंग-भंग भी हो गया है। 'बातास' का 'बतास', 'आधार' का 'अधार', 'ज्योति' का 'ज्योती', 'कर्णधार' का 'कर्णाधार' लिखने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। उनकी कविता में कहीं-कहीं अंत्यानुप्रास भी नहीं मिलते हैं; परन्तु तुक और शब्दों के ऐसे प्रयोग काव्य की गति को मंद नहीं करते वरन उसमें स्वाभाविकता ला देते हैं।

उनकी अभिव्यक्ति में दूसरी विशेषता यह है कि वह सूक्ष्मतम भावनाओं को वाणी देने के कारण संकेतात्मक है। उसमें शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग, अमूर्त वस्तुओं के लिए मूर्त योजनाएँ, भावों और प्राकृतिक रूपों के मानवीकरण आदि छायावादी शैली की सभी विशेषतायें पाई जाती हैं। उनके काव्य में शब्द-चित्र भी अधिक मिलते हैं। इसका कारण यह है कि वह चित्रकार भी हैं। उनकी अन्तिम कृति 'दीप शिखा' में प्रत्येक कविता की पृष्ठभूमि के लिये एक-एक चित्र दिया गया है। 'यामा' में भी ऐसे ही रेखा-चित्र हैं। इन चित्रों में ऐसे रंगों का विधान है जो दृश्य या रूप को ज्यों का त्यों उतार दें। चित्रकार की तूलिका और कवि की वाणी दोनों के संयोग से उनकी कविता खिल उठती है। एक आलोचक ने यह ठीक ही लिखा है कि महादेवी के काव्य में एक ओर 'चित्रकला की गोद में काव्य-कला खेलती है और दूसरी ओर काव्य-कला की अमूर्तता रेखा और रंग के सहारे चित्रित (मूर्त) हो गई है।' उनके चित्रों में दीपक, शतदल और काँटे तथा बादल आदि का प्रयोग वैसे ही हैं जैसे उनके गीतों में।

महादेवी ने गीतिकाव्य ही अधिक लिखा है और अंतर्मुखी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए गीतिकाव्य ही उपयुक्त माध्यम होता है। इन गीतों में उनके हृदय का हर्ष-विषाद सहज रूप में व्यक्त हो उठा है। महादेवी ने लिखा है—'गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से

सम्बन्ध रखने वाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति से ही रहेगा।'''साधारण गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।' वास्तव में उनके गीत निराला की भाँति ताल-स्वर के सीमित बंधन में बंद नहीं हैं, वे अपनी ध्वन्यात्मकता में ही गेय हैं, जिनमें संगीत काव्य का अनुयायी है और वह वृत्तियों के चित्रों को गति और सौन्दर्य देता है। गीतों की जो परम्परा वैदिक काल से ले कर उपनिषद काल एवं महाकाव्य-काल तक किसी न किसी रूप में चलती रही है उसका प्रथम स्वर हिन्दी में विद्यापति द्वारा गूँजा। उसके बाद कबीर की प्रेम-भक्ति की वाणी भी पदों द्वारा जनता तक पहुँची सूर और तुलसी ने भी उस परम्परा को समृद्ध बनाया। इसका चरम विकास मीरा के काव्य में उपलब्ध होता है। मीरा के गीत हृदय की कसक के सहारे स्वरों में ध्वनित हुए हैं। मीरा के बाद इसका स्वाभाविक रूप महादेवी में ही मिलता है। छायावादी युग में प्रसाद, निराला, पंत तथा अन्य कवियों के गीत भी मिलते हैं, परन्तु गीतिकाव्य का इस प्रकार का विकास उनमें नहीं है।

महादेवी के कलापक्ष की विशेषता उनके अलंकार-विधान तथा प्रतीक-पद्धति में भी झलकती है। उनकी दृष्टि में अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं भावों की अभिव्यक्ति के लिये विशेष द्वार बन कर आते हैं। उनके काव्य में अलंकारों का शुक-प्रयोग नहीं हुआ है। छायावादी काव्य में अलंकारों का प्रयोग रूप-साम्य की दृष्टि से न होकर प्रायः प्रभाव-साम्य की दृष्टि से हुआ है। नवीन सौन्दर्य-बोध को अभिव्यक्ति देने के लिये महादेवी ने पुराने अलंकारों की नवीन रूप में उद्भावना की है और नवीन अलंकारों की सृष्टि भी की है। उनके प्रिय अलंकारों में उपमा, रूपक, अन्योक्ति, समासोक्ति, मानवीकरण तथा विशेषण-विपर्यय हैं। अन्योक्ति तथा समासोक्ति अलंकार रहस्यानुभूति को व्यक्त करने के लिए विशेष रूप से सहायक होते हैं। 'टूट गया वह

दर्पण निर्मम' 'कीर का प्रिय आज पिंजर खोल दो' में अन्योक्ति का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त उनके काव्य में विरोधमूलक अप्रस्तुत की अनुपम छटा भी देखने को मिलती है—

एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का संसार संचित।
नाश भी हूँ अनन्त विकास का क्रम भी।
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी। आदि।

इन पंक्तियों में विरोधाभास का अनूठा चमत्कार है जो महादेवी की कला की विशेषता है। उनकी प्रतीक-पद्धति उनके कला-पक्ष की विशेषता है। उनकी कृतियों के नाम भी—रश्मि, नीहार, नीरजा, सांध्यगीत, दीपशिखा आदि प्रतीकात्मक हैं। उनके काव्य में कुछ प्रतीक परिचित होने के कारण बुद्धिगम्य हैं, कुछ अपरिचित होने के कारण किंचित बाधा डालते हैं; परन्तु कुछ प्रतीक अनेक अर्थों में प्रयुक्त होकर अर्थ में व्याघात उत्पन्न करते हैं। परिचित प्रतीकों में सागर संसार के लिये, तरी जीवन के लिये, पतवार साहस के लिये, तम अज्ञान और आलोक ज्ञान के लिये हैं। अपरिचित प्रतीकों में शलभ की कल्पना आदर्श प्रेमी के रूप में करने के अतिरिक्त मोहमूलक आकर्षण के रूप में भी की गई है। इसके साथ दीपक की कल्पना आत्मा के रूप में की गई है। एक प्रतीक का प्रयोग अनेक भावों को व्यक्त करने के लिये भी हुआ है। सुख के लिये मधु, रश्मि तथा मलयपवन तीनों का प्रयोग हुआ है। सरिता के दो पुलिन कभी विरह-मिलन के लिये तो कभी जीवन-मृत्यु के लिये प्रयुक्त हुए हैं। इसलिये प्रतीकों के अर्थ-सौष्ठव को प्रसंग के आधार पर ही स्पष्ट किया जा सकता है।

काव्य के कला-पक्ष में शब्द-चयन, प्रतीक-विधान, अलंकार-विधान आदि के अतिरिक्त उसके छन्द-विधान का विश्लेषण भी अपेक्षित है। महादेवी ने हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग किया है। इनके छन्दों में चरणों तथा पदों का विन्यास भाव-लय

के अनुरूप हुआ है। तुकान्त कभी पहले और दूसरे चरण का है, कभी दूसरे और चौथे चरण का है और कभी सभी चरण समतुकान्त हैं। अनेक उर्दू छन्दों का हिन्दीकरण भी किया गया है। गीत में पहली पंक्ति संगीत के बोल के रूप में अथवा लोक-गीत की टेक के रूप में भी उपस्थित की गई है—'मुखर पिक हौले हौले बोल', 'बीन भी हूँ, तुम्हारी रागिनी भी हूँ', 'अलि, मैं कण-कण को जान चली' आदि पंक्तियों को गुनगुनाया जा सकता है। भक्ति-काव्य में सभी पंक्तियाँ प्रायः सममात्रिक तथा समतुकान्त होती थीं, परन्तु महादेवी ने शास्त्रीय आधार का परित्याग कर छन्द-विधान में अपनी स्वच्छन्दतावादी दृष्टि का परिचय दिया है। इस प्रकार उनके काव्य का कला-पक्ष नवीन चेतना तथा सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के लिये छायावादी काव्य-शैली की प्रायः सभी विशेषताओं से युक्त है, परन्तु उसकी विशिष्टता महादेवी के व्यक्तित्व का भी आभास देती है।

महादेवी के काव्य की भावगत तथा कलागत विशेषताओं का विश्लेषण करने के उपरान्त उनके काव्य का मूल्यांकन अभी अपेक्षित है। उनके काव्य के भाव-पक्ष में निराशा और वेदना, करुणा और अवसाद, प्रकृति का मानवीकरण, जिज्ञासात्मक रहस्य-भावना, अतृप्त प्रेम और उसका परिष्कार तथा उन्नयन, सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति आदि उपलब्ध होते हैं और इस भाव-पक्ष को व्यंजित करने के लिये उसके कला-पक्ष में नवीन अलंकार-विधान, प्रतीक-विधान, लाक्षणिक शब्दावली, नवीन छन्द-विधान आदि का प्रयोग हुआ है। इन दोनों के मूल में व्यक्तिवाद का स्वर है जिसके परिणाम-स्वरूप महादेवी अपने नवीन जीवन-बोध तथा नवीन सौन्दर्य-बोध को अभिव्यक्ति देने के लिये प्रयत्नशील हैं। इस नवीन जीवन-बोध ने उनके गीतों में व्यक्त प्रेम की पीर को गहन एवं अनुपम रूप दिया है। उनके गीतिकाव्य में वैयक्तिक अनुभूति के तल पर सामाजिक बन्धनों में जकड़ी हुई भारतीय नारी की

घनीभूत वेदना झंकृत हुई है। इस वेदना से मुक्ति पाने की आकांक्षा भी कहीं-कहीं व्यक्त हुई है, जिसकी आलोचकों ने प्रायः उपेक्षा की है। इसलिये महादेवी के काव्य का मूल्यांकन एकांगी रूप में ही हो सका है। एक नारी होने के कारण उन्होंने अतृप्त प्रेम को खुल कर व्यक्त करने की अपेक्षा प्रतीक-पद्धति का आश्रय लिया है। इसलिये उनकी वेदना तथा पीड़ा का स्वरूप लौकिक न होकर अलौकिक है, मानवीय न होकर रहस्यात्मक है। इस वेदना से मुक्ति पाने की कामना को भी महादेवी ने प्रतीकों के माध्यम से ही व्यक्त किया है। वह दीपक के माध्यम से अपनी विरह की स्थिति को व्यंजित करती हैं। दीपक का काम हर रंग में जलना होता है और उसके जलने की भी एक अवधि है। 'दीपशिखा' में साधना के आरम्भ से लेकर सिद्धि-प्राप्ति तक की स्थितियों का चित्रण है। अब वेदना को विदा करने की वेला आ पहुँची है। निशा का अन्त होने पर दीपक का बुझ जाना अवश्यम्भावी है, दीपक-चितेरे का तूलिका रख कर सो जाना स्वाभाविक है। परन्तु एक रहस्यवादी के लिये प्रायः विरह-काल की अवधि नहीं होती। महादेवी के लिये 'रात की उर में दिवस की चाह' का जो शर है वह अपने लक्ष्य को बींध चुका है। इस प्रकार वेदनावाद के अन्धकार में जीवन-दिवस की चाह अन्ततः उनके काव्य को दीप्त कर देती है। उनके काव्य का मूल्यांकन करते हुए आलोचकों ने मुक्ति पाने की इस आकांक्षा को प्रायः उपेक्षित ही किया है। इसलिये उन्होंने उनके काव्य को केवल आँसुओं से सिक्त तथा वेदना से युक्त पाया है। यह दृष्टिकोण उनके काव्य के सामाजिक पक्ष की अवहेलना करता है। महादेवी के इस सामाजिक पक्ष की अभिव्यक्ति उनकी गद्य-रचनाओं में स्पष्ट उपलब्ध होती है। अतः उनके काव्य का मूल्यांकन करने के लिये उनके रहस्यवाद तथा वेदनावाद के मूल में मुक्ति की आकांक्षा से अवगत होना अपेक्षित है। महादेवी के काव्य में सामाजिक बन्धन से मुक्ति की आकांक्षा का स्वरूप प्रतीकों

के माध्यम से व्यक्त होने के कारण रहस्यात्मक है। यदि उनके प्रतीक-विधान का सूक्ष्म विश्लेषण और इन प्रतीकों का विवेचन तत्कालीन सामाजिक परिवेश में किया जाए तो महादेवी के रहस्यवाद का लौकिक स्वरूप तथा वेदनावाद का सामाजिक पक्ष स्पष्ट हो सकता है जो उनके काव्य के सही मूल्यांकन के लिये वांछित एवं अपेक्षित है।

७

अज्ञेय

परिवेश
काव्य-कृतियाँ
चिन्तन
काव्य-विकास
छायावाद, प्रयोगवाद, नयी कविता
वस्तुपक्ष
शिल्पपक्ष

७

अज्ञेय

छायावादी काव्य के उपरान्त हिन्दी कविता में यथार्थ के नवीन धरातलों, चेतना के नवीन स्तरों तथा जीवन की नवीन भूमियों की खोज एवं अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति ने अधिक बल पकड़ा जिसके फलस्वरूप हिन्दी कविता विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगी। इनमें दो प्रमुख धाराएँ सामाजिक तथा वैयक्तिक यथार्थ को प्रधान रूप में आत्मसात किए हुए हैं। इन दो मूल दृष्टियों के आधार पर जीवन तथा जगत को आँकने तथा व्यंजित करने की प्रवृत्ति 'तार सप्तक' (१९४३) की रचनाओं में मिल जाती है। अज्ञेय की कविता मूलतः एवं अन्ततः व्यक्ति-सत्य की जीवन दृष्टि से प्रभावित तथा अनुप्राणित है। व्यक्ति-सत्य को अभिव्यक्ति देने वाली काव्य-धारा को प्रायः प्रयोगवाद की संज्ञा से अभिहित किया जाता है जिसका अज्ञेय ने घोर विरोध किया है। इसका

मूल कारण यह है कि वह प्रयोग को कविता के लिये साध्य के रूप में स्वीकार न कर साधन के रूप में अपेक्षित मानते हैं। इनकी धारणा है कि व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि के परिणामस्वरूप आज एक ही सामाजिक स्तर पर दो व्यक्तियों के सौन्दर्य-बोधों तथा विचार-धरातलों में समानता उपलब्ध नहीं होती जो पुरातन काल में संभव थी। इसलिये आज के जटिल जीवन को अभिव्यक्ति देने की समस्या कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति है, सामाजिक चेतना को अधिक महत्त्व देने वाले कवि को भी प्रयोग का आश्रय लेना पड़ा है। इसलिये प्रयोग स्वयं कविता का वाद नहीं हो सकता। इस नामकरण के मूल में उतनी ही असंगति है जितनी छायावाद के मूल में है। एक बार नामकरण हो जाने पर नाम से मुक्ति पाना कठिन हो जाता है। इसलिये नामकरण के औचित्य को अधिक महत्त्व न देकर अज्ञेय की समस्त रचनाओं के मूल स्वर के आधार पर इनके काव्य के वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष का मूल्यांकन अधिक संगत तथा उपादेय है। इनके काव्य का वस्तु-पक्ष व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति-यथार्थ, व्यक्ति-हित एवं व्यक्ति-चिन्तन की जीवन-दृष्टि से रूपायित है। इसलिये वह 'तार सप्तक' के वक्तव्य में अपनी तथा युग की मूल समस्या का निरूपण करते हुए लिखते हैं—'जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी संपूर्णता में पहुँचाया जाय—यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएँ हैं—कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक, अन्तः या बहिर्मुखी।'[1] इस प्रकार अज्ञेय की दृष्टि में अनुभूति के रूप, गुण, सामाजिक, असामाजिक आदि की समस्याएँ इतर एवं गौण हैं। वह आधुनिक युग के मानव अथवा व्यक्ति को 'यौन वर्जनाओं का पुंज' मानते हैं। इनकी यह धारणा

---

१. तार सप्तक : पृ० ७५।

पाश्चात्य मानसशास्त्रियों के सिद्धान्तों तथा लारेंस की मान्यताओं से प्रभावित है। आज के व्यक्ति की चेतना तथा उसका सौन्दर्य-बोध यौन कल्पनाओं एवं कुण्ठित वासनाओं से आक्रान्त है। अज्ञेय उसकी चेतना को वर्गगत वर्जनाओं से भी लदा हुआ अनुभव करते हैं। इसलिये इनका विद्रोहशील व्यक्तित्व एवं क्रान्तिशील मानस इन्हें व्यक्ति-कामी बनने के लिये प्रेरित एवं बाधित करते हैं। वह जीवन और जगत का मूल्यांकन व्यक्तिमूलक दृष्टि से करते हैं और इसके लिये उन्होंने पाश्चात्य चिन्तन-पद्धतियों, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों, काव्य-रचनाओं तथा आलोचना-प्रणालियों से प्रेरणा भी प्राप्त की है। अज्ञेय की काव्य-रचनाओं में छायावाद के प्रति प्रतिक्रिया एवं विद्रोह की स्थिति भी लक्षित होती है। छायावाद के मूल में भी व्यक्तिवाद का स्वर है और प्रयोगवाद का आधार भी व्यक्तिमूलक है, परन्तु इन दोनों की व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि में सूक्ष्म अन्तर पाया जाता है। जहाँ छायावादी काव्य की जीवन-दृष्टि व्यक्तिमूलक भावना से प्रभावित है, वहाँ प्रयोगवादी कविता की जीवन-दृष्टि व्यक्ति-मूलक धारणा से प्रेरित है; जहाँ छायावाद का आधार आदर्शमूलक है, वहाँ प्रयोगवाद का आधार यथार्थमूलक है; जहाँ छायावाद की मूलचेतना भावात्मक है, वहाँ प्रयोगवाद की मूल चेतना बौद्धिक है। इस प्रकार छायावाद तथा प्रयोगवाद के दृष्टिकोण में समानता एवं विषमता की स्थिति उपलब्ध होती है और विषमता के कारण इन दो काव्य-धाराओं अथवा काव्य-प्रवृत्तियों के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष में अन्तर पाया जाता है।

अज्ञेय का काव्य-जीवन छायावादी रचनाओं से आरम्भ हुआ है। इन्होंने अंग्रेज़ी के रोमांटिक काव्य तथा हिन्दी के स्वच्छन्तादवादी साहित्यिक आन्दोलन को दाय के रूप में प्राप्त किया है और उत्तरछायावादी काव्य की व्यक्तिमूलक धारा को स्वरूप एवं दिशा देने का प्रयास किया है। इसलिये अज्ञेय का उत्तरछायावादी कविता की इस धारा के साथ

न केवल घनिष्ठ सम्बन्ध है, वरन वह इस धारा के प्रतिनिधि कवि भी माने जाते हैं। इनके काव्य का विश्लेषण एवं विवेचन करने से पहले इनके जीवन तथा दृष्टिकोण का परिचय पाना अपेक्षित है। इनकी जीवन तथा व्यक्ति-सम्बन्धी अतिसंक्षिप्त जानकारी उपलब्ध होती है। इनका पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है और इनका जन्म ७ मार्च १९११ को कसिया, जिला देवरिया में हुआ था। बचपन लखनऊ, कश्मीर, नालन्दा और नीलगिरि में बीता; शिक्षा मद्रास और लाहौर में हुई; बी० एस-सी० करके अंग्रेजी विषय में एम० ए० की पढ़ाई करते समय क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रसंग में फ़रार हुए और १९३० के अन्त में पकड़े गए; चार वर्ष जेल में और दो वर्ष नज़रबन्द रहे। इस के उपरान्त किसान आन्दोलन में भाग लिया और साहित्यिक क्षेत्र में 'सैनिक', 'विशाल-भारत', 'बिजली', 'प्रतीक' आदि का सम्पादन किया। अंग्रेजी की एक त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन भी किया है। दूसरे महायुद्ध में तीन वर्ष सेना में भी काम किया है। देश तथा विदेश की खूब यात्रा की है। इनकी पहली कहानी १९२४ में और पहली कविता १९२७ में प्रकाशित हुई थी। अब तक इनके आठ काव्य संग्रह, तीन उपन्यास, छह कहानी संग्रह, एक भ्रमण-वृत्तान्त तथा दो निबन्ध-संग्रह छप चुके हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'तार सप्तक', 'दूसरा सप्तक' तथा 'तीसरा सप्तक' काव्य-संग्रहों का सम्पादन और शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के 'श्रीकान्त' तथा जैनेन्द्र कुमार के 'त्यागपत्र' का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है। इनका जीवन तथा व्यक्तित्व-सम्बन्धी कृपण परिचय 'आत्मनेपद' के लेखों और विचार-सम्बन्धी विस्तृत निरूपण 'त्रिशंकु' तथा 'प्रतीक' की भूमिकाओं एवं वक्तव्यों तथा 'प्रतीक' की सम्पादकीय टिप्पणियों में उपलब्ध होता है जिनके आधार पर इनके काव्य का मूल्यांकन अपेक्षित है। इनके कविता-संग्रहों के नाम इस प्रकार हैं—भग्नदूत १९३३, चिन्ता १९४२, इत्यलम् १९४६,

हरी घास पर क्षण भर १९४९, बावरा अहेरी १९५४, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये १९५७, अरी ओ करुणा प्रभामय १९५९, आँगन के घर द्वार १९६१। इन काव्य-संग्रहों के क्रमिक विश्लेषण से ही इन के काव्य-विकास का विवेचन संगत एवं उपयुक्त प्रतीत होता है। इनके समूचे साहित्य का अध्ययन इनके काव्य के स्वरूप को उद्घाटित करने में सहायक हो सकता है जो इस निबन्ध की परिधि में संभव नहीं है। अज्ञेय के व्यक्ति एवं कवि का इतना घोर विरोध हुआ है कि इन्हें छायावादी कवियों के भाँति अपने काव्य का स्वयं स्पष्टीकरण करना पड़ा है। अपने विषय में वाचाल होने की अपेक्षा इन्हें रोमांटिक कवि बायरन की भाँति मौन धारण करना अधिक अभीष्ट है; परन्तु आलोचक तथा पाठक के कुतूहल को किंचित शान्त करने के लिये 'आत्मनेपद' के लेखों में अपने निजी जीवन की कुछ परतों को उघाड़ने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में वह लिखते हैं—'और उस प्रकार की चर्चा अपने विषय में पहले नहीं की है, अथवा अपने निजी जीवन के विषय में लोगों के कुतूहल को जानकर भी अपने से दूर रखता आया हूँ, तो आज उनका शमन करना चाहने की कुछ सफाई तो अपेक्षित हो सकती है। उत्तर में कहूँ कि कुछ वर्षों से लगता रहा है कि यह कुतूहल (जिसे आज भी कुछ अच्छा या उचित नहीं मानता हूँ) और अशमित कुतूहल से उत्पन्न अनेक प्रकार के तनाव एक दीवार—से मुझे उनसे अलग करते रहे हैं जिन्हीं के के लिए आखिर मैं लिखता हूँ।'[१] इस प्रकार जीवन में व्यक्तित्व की खोज करने वाले और काव्य में इस व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देने वाले कवि ने पूरे बुरके का परित्याग कर घूँघट डालना स्वीकार किया है ताकि इनके पाठकों को इनकी किंचित झलक मिल सके। यह प्रयास 'आत्मनेपद' के लेखों में लक्षित होता है। इस प्रयास को वह समकालीन परि-

---

१. आत्मनेपद : पृ० ६।

स्थिति में 'मानो घमसान युद्ध में कवच उतार कर और निरस्त्र होकर, मर्म-स्थलों को जान-बूझ कर अरक्षित करने आना है—मार खाने आना है।'[1] इसे वह समझदारी न कह कर भी वांछनीय मानते हैं। इनके व्यक्तित्त्व के सम्बन्ध में जो धारणाएँ बनी हुई हैं तथा भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं उनके प्रति वह सचेत हैं—जैसे अज्ञेय आत्मलीन एवं आत्म-केन्द्रित हैं, अहंकारग्रस्त हैं, अवसरवादी हैं, सामाजिक दायित्व से हीन हैं, अराजकतावादी हैं, पथभ्रष्ट हैं और अन्य साहित्यिकों को पथभ्रष्ट करने की क्षमता भी रखते हैं, असंगतियों एवं विसंगतियों के पुंज हैं। अन्तिम धारणा के अतिरिक्त इन्होंने अन्य भ्रान्तियों का 'कठघरे से' नामक प्रश्नोत्तर में निराकरण करने का प्रयत्न किया है जिसका सूत्रपात सर्वेश्वरदयाल सक्सेना द्वारा प्रेषित एक लिखित प्रश्नावली से हुआ था।[2] अन्तिम धारणा का स्पष्टीकरण इसलिये आवश्यक न समझा गया हो कि प्रत्येक व्यक्ति असंगतियों एवं विसंगतियों का पुंज होता है और इस धारणा की पुष्टि आधुनिक मनोविज्ञान के द्वारा हो चुकी है। और अज्ञेय स्वयं को एक नश्वर व्यक्ति से अधिक नहीं मानते जिसका व्यक्तित्व कितना ही असाधारण क्यों न हो—'लेखक का अहं और उसका व्यक्तित्व तो नश्वर है ही और नश्वरता के नियम से किसी तरह बच नहीं सकता। इस लेखक का जो जीवन-दर्शन है, उसमें उस नश्वरता को पूरी तरह स्वीकार किया गया है, बल्कि अपने बने रहने के लिए पुनर्जन्म का हीला भी नहीं छोड़ा गया है—वह तो मानता है कि इसकी नश्वरता ही इसे वह अद्वितीयता देती है जो इसका रस और इसका प्रमाण है।"[3] इस नश्वरता की धारणा ने कवि की रचनाओं को अनुरंजित किया है।

---

१. आत्मनेपद : पृ० ८,६ ।
२. आत्मनेपद : पृ० १७१।
३. आत्मनेपद : पृ० ८।

इन्होंने इस रहस्य को पूरी तरह आत्मसात करने का प्रयास किया है कि 'एक दिन प्रतिभा का भी स्रोत चुक जायगा और कृतिकार की रचनाएँ सूखे पत्तों के समान झर जाएँगी। इसलिये जब तक इनकी प्रतिभा का स्रोत चुक नहीं जाता तब तक वह अपने साहित्यिक दायित्व को ओढ़ने के पक्ष में है।'[1]

अज्ञेय के काव्य का मूल्यांकन करने के लिये अंशतः इनके व्यक्ति तथा जीवनानुभव से और मूलतः इनके युग की चेतना तथा इनकी निजी धारणाओं तथा मान्यताओं से अवगत होना आवश्यक है। इनके विश्वासों तथा जीवन-मूल्यों का ज्ञान इसलिये भी आवश्यक है कि इन का व्यक्तित्व जटिल है और इनका काव्य जटिलतर है। इनका व्यक्तित्व एवं काव्य पाश्चात्य साहित्यिक विचारधाराओं तथा मौलिक कृतियों से प्रभावित है और इनकी उपलब्धि एक बुद्धिजीवी साहित्यकार की जीवन-दृष्टि से भारतीय जीवन के उस वर्ग का चित्रण करने में लक्षित होती है जो बौद्धिक स्तर पर सचेत एवं जागरूक है। अज्ञेय ने स्वयं घोषित किया है कि इनके कृतित्व को द्वितीय महायुद्धोत्तर साहित्य-धाराओं से सम्बद्ध माना जाए जिन के द्वारा जीवन की विषम एवं जटिल परिस्थिति तथा उसकी समस्याओं को अभिव्यक्ति मिली है।[2] इस नवीन वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए इन्होंने सबसे पहले प्रयोग एवं प्रेषणीयता की समस्या को उठाया है जिसका समाधान 'तार सप्तक' (१९४३) के वक्तव्य में उपलब्ध होता है। इस वक्तव्य को लेखक ने 'आत्मनेपद' के निबन्ध-संग्रह में 'प्रयोग और प्रेषणीयता' के नाम से प्रकाशित किया है। वह कवि के कथ्य को उसका आत्मा के सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं और इस सत्य को व्यक्तिबद्ध न मानते हुए इसे अधिक-से-अधिक विशद रूप देने

---

१. आत्मनेपद : पृ० ९, १०।

२. Contemporary Indian Literature, page 48

के पक्ष में हैं। वह व्यक्ति-सत्य और व्यापक सत्य की दो पराकाष्ठाओं के बीच अनेक स्तरों की उद्भावना करते हुए कवि को किसी एक स्तर पर आसीन पाते हैं। वह यह भी अनुभव करते हैं कि आज के जटिल जीवन में व्यापकता का परिवेश सीमित होता जा रहा है। इसलिये इस जटिल जीवन की अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये साधारणीकरण की समस्या प्रेषणीयता में परिणत हो रही है। पुरातन काल में जीवन का स्वरूप इतना जटिल, विषम तथा भिन्न नहीं था जितना वह आज बन चुका है; उस समय पाठकों की जीवन-परिपाटियों में इतना घोर वैषम्य नहीं था जितना आज है। आज से कवि का आशय पूँजीवादी संस्कृति तथा व्यक्तिवादी विचारधारा से है जिसने मानव को व्यक्ति बना दिया है, उसे विशिष्ट रूप दिया है। इस लिये आज मानव की भाषा की अपेक्षा व्यक्ति की भाषा को अपनाने से ही उसके अनुभूत को व्यक्त किया जा सकता है। उसका अनुभूत सामाजिक है या असामाजिक यह बात गौण है।[1] अज्ञेय की दृष्टि में मूल समस्या प्रेषणीयता की है। वह यह स्वीकार करते हैं कि भाषा एक से अधिक को बोधगम्य हो, अन्यथा वह भाषा नहीं है। इस के साथ ही वह आज के कवि का भाषा को एसोटेरिक (esoteric) या गूढ़ बनाना उसकी विवशता मानते हैं।[2] यह आज की स्थिति की विडम्बना है कि एक ओर व्यक्ति का जीवन ज़टिल से जटिलतर बनता जा रहा है और दूसरी ओर वैज्ञानिक आविष्कार एवं साधन उसे एक निश्चित साँचे में ढाल रहे हैं। इन वैज्ञानिक साधनों में समाचारपत्र, रेडियो, साहित्य आदि की गणना की जा सकती है जो उसके चिन्तन का सरलीकरण कर रहे हैं। अज्ञेय के लिये भाषा को गुप्त, व्यक्तिगत, गूढ़ सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक रूप देना आपद्धर्म है। इस

---

१. आत्मनेपद : पृ० ३७।

१. आत्मनेपद : पृ० ३८।

कारण वह स्वयं को प्रयोगशील कवि मानते हैं और प्रयोग को अधिक महत्त्व देने पर इन्हें प्रयोगवादी कवि की संज्ञा दी जाती है। इन्होंने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में प्रयोगवाद नाम का एक मतवाद के रूप में इन शब्दों में विरोध किया है—'प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे। न प्रयोग अपने में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का कोई वाद नहीं है। कविता भी अपने-आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कवितावादी' कहना।'[1] इस स्पष्टीकरण के बाद भी आलोचकों ने इनके काव्य को प्रयोगवाद की संज्ञा देना सार्थक समझा है। छायावाद नाम भी उतना सार्थक अथवा निरर्थक है जितना प्रयोगवाद। यदि निराला यह घोषित करते, जिसकी संभावना आज नहीं है, कि मुझे छायावादी कवि की संज्ञा देना उतना ही असंगत है जितना कवितावादी कहना तो इस नाम से उनका छुटकारा नहीं हो सकता। अज्ञेय ने प्रयोग को दोहरे साधन के रूप में स्वीकार किया है—एक तो वह सत्य को पाने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है और दूसरे वह प्रेषण के माध्यम को भी जानने का साधन है। इस प्रकार प्रयोग का महत्त्व वस्तुगत एवं शिल्पगत दोनों हैं। प्रयोग के लिये इतना आग्रह युग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिणाम ही कहा जा सकता है।

अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में कवि की दूसरी समस्या को उठाया है और वह काव्य के वस्तु की है। वह काव्य के विषय और काव्य की वस्तु में अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'यह बात कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि काव्य का विषय और काव्य की वस्तु अलग-अलग चीजें हैं; पर जान पड़ता है कि इस पर बल की आवश्यकता प्रतिदिन बढ़ती जाती है। यह बिल्कुल संभव है कि हम

---

१. दूसरा सप्तक : पृ० ६।

काव्य के लिए नये से नया विषय चुनें पर वस्तु उसकी पुरानी ही रहे ; जैसे यह भी संभव है कि विषय पुराना रहे पर वस्तु नयी हो। ··· विषय केवल 'नये' हो सकते हैं 'मौलिक' नहीं--मौलिकता वस्तु से सम्बन्ध रखती है। विषय सम्प्रेष्य नहीं है, वस्तु सम्प्रेष्य है।'[1] इस प्रकार सूत्रात्मक शैली में वह विषय तथा वस्तु में भेद को स्पष्ट करते हैं और यह भेद पाश्चात्य आलोचना में अधिक विशद रूप में निरूपित हुआ है। विषय-वस्तु-सम्बन्धी भेद को स्पष्ट करने के लिये कहा जा सकता है कि जीवन, मरण, प्रेम, नारी, प्रकृति आदि काव्य के शाश्वत विषय रहे हैं; परन्तु विभिन्न युगों में इनके प्रति कवि की दृष्टि बदलती रही है। इसलिये इनकी अनुभूति में अन्तर पड़ता गया है। इस अनुभूति को ही काव्य की वस्तु की संज्ञा दी जाती है। छायावादी कवि की प्रेम की अनुभूति उत्तरछायावादी कवि की अनुभूति से भिन्न है। अज्ञेय काव्य-सत्य को व्यक्तिगत मानते हुए लिखते हैं—'काव्य में सत्य क्योंकि वस्तु-सत्य का रागाश्रित रूप है, इसलिये उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य की गुंजाइश तो है ही, बल्कि व्यक्ति की छाप से युक्त होकर ही वह काव्य का सत्य हो सकता है।'[2] काव्य-वस्तु के इस वैयक्तिक पक्ष का प्रगतिवादी आलोचकों ने घोर विरोध किया है। इस सम्बन्ध में डा० नामवरसिंह का मत है कि आजकल प्रयोगवादी काव्य को वाद-विशेष से मुक्त करने के लिये तथा इसे व्यापक काव्य-प्रवृत्ति का स्वरूप देने के लिये इसे नयी कविता के नाम से अभिहित किया जा रहा है। वह प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, नयी कविता आदि को समाज-विरोधी, ह्रासशील व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही विस्तार समझते हैं। शिवदानसिंह चौहान को भी प्रयोगवादी काव्य में मनुष्य के जीवन-बोध को खण्ड एवं विकृत बनाने

---

१. तीसरा सप्तक : पृ० १४, १५।
२. तीसरा सप्तक : पृ० १६।

का उद्देश्य ही दिखाई देता है। वह समझते हैं कि प्रयोगशीलता का आडम्बर तो समाजद्रोही भावनाओं और जीवन के प्रति घोर अनास्था तथा उसमें कुण्ठा को एक दुरूह संकेतात्मक भाषा, अस्वाभाविक अलंकार-योजना और अहंवादी वचन-भंगिमा में छिपाने का उपक्रम मात्र है।[1] वह प्रयोगवादी कविता को छायावादी कविता से ह्रास का ही विकृत रूप मानते हैं।[2] डा० नगेन्द्र को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से प्रयोगवाद के वस्तु-पक्ष में रस का और शिल्पपक्ष में साधारणीकरण का अभाव खटकता है। इसी प्रकार आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी विशुद्ध काव्य की दृष्टि से प्रयोगवादी कविता को अकाव्य की कोटि में रखना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनकी धारणा है कि प्रयोगवादी कवि पर एक अतिरिक्त बौद्धिकता का शासन है। वह अनिश्चित मानसिक स्थिति का व्यक्ति है और काव्य की वास्तविक भावभूमि पर पहुँचने में अक्षम है। वह यह स्वीकार करते हैं कि उसका व्यक्तित्व किसी हद तक जटिल मानसिक उपकरणों से बना होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपनी संवेदनाओं को सुलझा न सके और काव्यात्मक या भावात्मक अभिव्यक्ति न कर सके।'[3] आचार्य वाजपेयी प्रयोगवादी रचनाओं के इस मूल्यांकन के उपरान्त इन्हें हिन्दी के विशाल काव्योद्यान में एक उपेक्षित स्थान देने के लिये उद्यत भी हो जाते हैं। आचार्य शुक्ल भी इसी प्रकार छायावादी काव्य को शैली-मात्र की संज्ञा देकर उसे 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में स्थान देने के लिये तैयार हो गए थे। इस प्रकार अज्ञेय तथा अन्य कवियों की प्रयोगवादी रचनाओं पर आलोचकों ने अपनी-अपनी जीवन-दृष्टियों तथा अलग-अलग सिद्धान्तों

---

१. काव्यधारा : पृ० ४५।

२. काव्यधारा : पृ० ४६।

३. आधुनिक साहित्य, प्रयोगवादी रचनाएँ : पृ० २२

के आधार पर वस्तु एवं शिल्प-सम्बन्धी आरोप लगाए हैं। अज्ञेय ने सप्तकों के सम्पादक के रूप में तथा 'आत्मेनपद' के लेखों में अपनी कविता के स्वरूप को वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से स्पष्ट करने तथा इसके सम्बन्ध में भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयास भी किया है। इन का मन्तव्य है कि प्रगतिवाद सब से अधिक समाजग्राही रहा है; पर केवल इसी से यह प्रमाणित नहीं हो सकता कि उस वाद के कवियों में गहरी सामाजिक चेतना है, या कि जैसी है वही उसका स्वस्थ रूप है।[1] प्रगतिवाद के मूल में जो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन है वह उसे इस रूप में स्वीकार नहीं करते। वह मार्क्सवाद को इतिहास के समझने की एक पद्धति मात्र मानते हैं जिसने इतिहास की गतिविधि पर नयी दृष्टि दी है और दूसरे इसे अर्थ-दर्शन के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है। इसे व्यापक जीवन-दर्शन मान लेना एक बड़ी भूल है और अन्तिम मान लेना तो मार्क्स की शिक्षा के विरुद्ध है। जहाँ तक जीवन-दर्शन की बात है वह डारविन, आइनस्टाइन तथा फ्रायड की देन को एक नवीन जीवन-दर्शन के निर्माण में अधिक सहायक समझते हैं। अपनी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए इनका वक्तव्य है—'आधुनिक युग का कोई भी संतोष-जनक जीवन-दर्शन किसी एक व्यक्ति के अवदान पर आधारित नहीं हो सकता। वह कई क्षेत्रों की कई प्रतिभाओं के अवदान और कई विज्ञानों के शोध की उपलब्धियों का समन्वय माँगता है। आज के अतिविशेषीकृत युग में यह समन्वय भी बहुत कठिन हो गया है और इधर प्रयास भी बहुत कम हुआ है।[2] इस प्रकार वह मार्क्सवाद को एक पूरे जीवन-दर्शन के रूप में अस्वीकार करते हुए उसे भौतिकवाद अथवा जड़वाद का भी एक अंग मानते हैं। इस सम्बन्ध में मेरी धारणा यह

---

१. तीसरा सप्तक : पृ० १८

२. आत्मनेपद : पृ० २००

है कि किसी कवि या साहित्यकार की जीवन-दृष्टि तो हो सकती है जो विभिन्न चिन्तन-धाराओं का परिणाम होती है, परन्तु उसका जीवन-दर्शन नहीं होता। जीवन-दर्शन जीवन तथा जगत के प्रति एक व्यवस्थित चिन्तन-प्रणाली के रूप में प्रतिपादित किया जाता है जो दार्शनिक का क्षेत्र है ; साहित्यकार या कवि का नहीं है। वेदान्त जीवन-दर्शन है ; परन्तु निराला की इस दर्शन से प्रभावित जीवन-दृष्टि है। इसी प्रकार मनोविश्लेषणवाद, अस्तित्ववाद आदि जीवन-दर्शन हैं और इन से प्रभावित अज्ञेय की व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि है जो समष्टि-चिन्तन की अपेक्षा व्यक्ति-चिन्तन से अनुप्राणित है। इनकी रचनाओं में सामाजिक चेतना का अभाव नहीं है, समाजवादी चेतना का अभाव है। वह सामाजिक चेतना को व्यक्ति-सत्य की कसौटी पर आँकते एवं परखते हैं। इनके काव्य में व्यक्ति पूर्णतया अपने सामाजिक परिवेश से वंचित नहीं है, उसके लिये यह परिवेश प्रत्यक्ष न हो कर परोक्ष है। इनकी काव्य-वस्तु पर जो दूसरा आरोप लगाया जाता है वह बौद्धिकता से सम्बद्ध है। इन्होंने बौद्धिकता के औचित्य को अपनाया है और कभी-कभी इसमें रस की निष्पत्ति को खोजने का भी प्रयास किया है। वह सत्य की उपलब्धि को एक साधना मानते हैं और सुन्दर उसकी रागदीप्ति का उपकरण या साधन है।[1] इनका उद्देश्य तो रागदीप्त सत्य है, परन्तु यह सत्य बुद्धि द्वारा भी चमत्कृत है। इनकी रचनाएँ कभी-कभी मनोविश्लेषण की भूमिका पर प्रतिष्ठित होती हैं और इनमें अवचेतन की स्थिति को व्यक्त करने के लिये बौद्धिक प्रक्रिया से काम लिया गया है। अज्ञेय की कविता छायावाद के मोहभंग से आरम्भ होती है। इसलिये इसमें छायावादी कल्पनाशीलता के विपरीत यथार्थ के प्रति आग्रह बढ़ता गया है जिसके परिणामस्वरूप बौद्धिकता को प्रश्रय मिला

---

१. आत्मनेपद पृ० २०८।

है, उदात्त के स्थान पर वस्तुओं के लघु रूप को उद्घाटित किया गया है, अप्सरामयी, श्रद्धामयी, गरिमामयी, कल्पनामयी नारी को सामान्य भावभूमि पर उतारा गया है, अस्पृश्य प्रेम को मांसल रूप दिया गया है। भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की स्थापना युग की माँग है और मानस का विकास है; भावुकता किशोरावस्था की और बौद्धिकता प्रौढ़ावस्था की प्रतीक मानी जाती है। इसलिये डा० जगदीश के मतानुसार नयी कविता का लक्ष्य रसानुभूति कराना नहीं है। बुद्धि भावों को स्थायी होने नहीं देती और फलतः आलम्बन स्थिर नहीं रहते।[1] उनकी दृष्टि में यह कविता रिझाती कम है, सताती अधिक है। व्यंग्य कसना, चोट करना, झकझोर देना, टोक देना, सोचने पर बाध्य करना इसका स्वभाव है। रसानुभूति इसके विपरीत है, वह भावों के गहरे सामंजस्य को लेकर चलती है। रसास्वादन के क्षणों में चेतना के बौद्धिक व्यापार शान्त हो जाते हैं। इस कविता के आस्वादन में बौद्धिक व्यापार अधिक क्रियाशील हो जाते हैं। नये युग का वातावरण बुद्धि को असंतुष्ट रख कर भावों तक जाने की अनुमति नहीं देता। डा० गुप्त ने रसवादियों को झुँझलाने के लिये बुद्धिरस की भी उद्भावना की है। इस प्रकार अज्ञेय की कविता में बौद्धिकता का महत्त्व है, इसमें भाव-प्रणाली की अपेक्षा प्रभाव-प्रणाली है। इसकी बौद्धिकता भी कबीर की उलटवासियों तथा सूर के कूटों की दुरूहता से भिन्न कोटि की है। आज के विशेषीकरण के युग में काव्य का भी विशेषीकरण हो रहा है। इसके मूल में वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जो सभी परम्पराओं पर प्रश्न चिह्न लगाने और रूढ़ियों का विरोध करने की प्रेरणा देता है। इसके फल-स्वरूप काव्य के वस्तुगत तथा शिल्पगत प्रश्नों को उठाकर इनके उत्तर नयी भाषा में देने का प्रयास हो रहा है और यह भाषा बौद्धिकता एवं

---

१. आलोचना ७ : पृ० ५६।

वैज्ञानिकता से अनुरंजित है तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों से प्रभावित है। अज्ञेय का प्रयोगात्मकता के प्रति आग्रह संयोगवश तथा चमत्कार वश न होकर कारणवश है।

अज्ञेय के काव्य की उपलब्धियों तथा सीमाओं का मूल्यांकन करने के लिये इनकी रचनाओं को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ छायावाद से प्रभावित हैं जिनके अन्तर्गत भग्नदूत (१९३३), चिन्ता (१९४२) तथा इत्यलम् (१९४६) की भी कुछ रचनाएँ हैं। इत्यलम् में 'वंचना के दुर्ग' तथा 'मिट्टी की ईहा' प्रधानतः और शेष रचनाएँ गौणतः प्रयोगवादी कविता की कोटि में रखी जा सकती हैं। इसके बाद के कविता-संकलन 'हरी घास पर क्षण भर' (१९४९), 'बावरा अहेरी' (१९४९), 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' (१९५७) तथा 'अरी ओ करुणा प्रभामय' (१९५९) की रचनाओं को नयी कविता से सम्बद्ध किया जाता है जिसे प्रयोगवादी कविता से अधिक व्यापक-प्रवृत्ति कहा गया है और जिसमें प्रयोग का महत्त्व जितना शिल्पगत है उतना ही वस्तुगत है। नयी कविता को नवस्वच्छन्दतावाद तथा नवयथार्थवाद की संज्ञाओं से भी अभिहित किया जाता है—इसके नाम पाश्चात्य हैं, रूप भारतीय है। अज्ञेय ने तीसरे सप्तक की भूमिका में नयी कविता के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस कारण भी इनका नाम नयी कविता की स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति से भी सम्बद्ध किया जाता है। इसका आभास बीज रूप में 'इत्यलम्' की कुछ रचनाओं में उपलब्ध होता है, परन्तु इसका विकसित एवं स्पष्ट रूप तथा इसकी निश्चित उपलब्धि को अज्ञेय के अन्तिम चार संकलनों की कविताओं में देखा जा सकता है। इन रचनाओं में नयी कविता की सीमाएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं। इस विषय में एक आलोचक का मत है—'प्रयोगवाद अपनी सारी शक्ति तथा सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति अकेले

अज्ञेय के माध्यम से पा सका। यह अवश्य है कि नयी कविता की दृष्टि से प्रयोगवाद के प्रवर्तक को भी बहुत दूर तक आधुनिक नहीं कहा जा सकता।'[1] इस आलोचक की धारणा है कि नयी कविता की प्रथम अनुभूति का श्रेय रामस्वरूप चतुर्वेदी को है और फिर लक्ष्मीकान्त वर्मा को है। इस अनुभूति का आधिकारिक रूप भी डा० जगदीश गुप्त तथा रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'नयी कविता' के अंकों में उपलब्ध होता है।[2] इस प्रकार वह आंशिक रूप में अज्ञेय की रचनाओं को नयी कविता से सम्बद्ध करते हैं। वह स्वीकार करते हैं कि अज्ञेय ने युग की आवश्यकताओं के अनुकूल अपने काव्य-व्यक्तित्व का परिष्कार अवश्य किया है। इनका प्रयोगवाद नयी कविता में परिणत हुआ है। इसका परिणाम यह निकलता है कि प्रयोगवाद के बाद अज्ञेय के काव्य का अधिक विकास नहीं हो पाया है। आलोचक के इस परिणाम से सहमत होना कठिन है। अज्ञेय का काव्य-व्यक्तित्व सदैव सचेत, जागरूक एवं विकासशील रहा है, परन्तु इसके मूल में सदैव व्यक्ति-चिन्तन एवं व्यक्ति-सत्य की जीवन-दृष्टि रही है। इसका प्रमाण 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की रचनाओं में भी मिल जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिवाद के अतिरिक्त उत्तरछायावादी काव्य के साथ अज्ञेय का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इनकी कविताओं का प्रथम संग्रह 'भग्नदूत' (१९३३) है और इनकी पहली कविता १९२७ में छपी थी। अपनी पहली कविता के विषय में इन्होंने स्वीकार किया है कि उस पर 'गीतांजलि' का प्रभाव है।[3] यह 'चिन्ता' (१९४२) में संगृहीत है जो आजकल अप्राप्य है। इस संग्रह में यह छठी कविता है जिसका आरम्भ है—'तेरी आँखों में क्या मद है'

---

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी नवलेखन, पृ० ४१।
२. ,, ,, ४१।
३. आत्मनेपद : पृ० २५।

और अन्त है—'जिसको लिखकर तेरे आगे हाथ जोड़ रह जाता हूँ।' अज्ञेय यह स्वीकार करने से भी संकोच नहीं करते कि इस रचना में जो आँखों के मद की बात है वह अनुभूत न होकर कल्पित है। इसलिये इस सूचना से असहमत होकर वह एक और कविता को अपनी पहली रचना के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो आज भी इन्हें रुचिकर है। इसका स्वर भी 'गीतांजलि' के संगीत से प्रभावित है। इस में सरल विश्वास की सहज अभिव्यक्ति है जो छायावाद की विशेषता है और जो आज कवि के लिये कठिन है। यह सरल एवं सहज विश्वास किशोरावस्था में या वृद्धावस्था में कैशोर मानस की स्थिति में संभव होता है। इस स्थिति की अभिव्यक्ति 'चिन्ता' तथा 'इत्यलम्' में संकलित 'भग्नदूत', 'बन्दी-जीवन', एवं 'हिय-हारिल' की रचनाओं में उपलब्ध होती है। भग्नदूत में बाईस, बन्दी जीवन में सत्ताईस और हिय-हारिल में बत्तीस रचनाएँ संगृहीत हैं जिनका मूल स्वर रोमांटिक है और जिनकी शब्दावली प्रधानतः छायावादी है। 'भग्नदूत' की पहली रचना में जिसे वह अपनी प्रथम कविता का महत्त्व देते हैं रोमांटिक भाव की अभिव्यक्ति है—

दृष्टिपथ से तुम जाते हो जब
तब ललाट की कुंचित अलकों,
तेरे ढरकीले आँचल को,
तेरे पावन चरण-कमल को,
छूकर धन्य भाग अपने को लोग मानते हैं सब के सब।
मैं तो केवल तेरे पथ से
उड़ती रज की ढेरी भर के,
चूम चूम कर संचय करके
रख भर लेता हूँ मरकत-सा मैं अन्तर के कोषों में तब।

इन पंक्तियों की भाषा अवश्य अटपटी है, परन्तु इनमें व्यक्त वस्तु का स्वरूप छायावादी है। इसी प्रकार रहस्य, घट, असीम प्रणय की तृष्णा,

तेरा प्रस्थान, गीत, लक्षण नामक कविताओं में न केवल भाव एवं विचार छायावादी कोटि में आते हैं वरन इनकी अभिव्यक्ति के लिये शब्द-चयन, अलंकार-विधान तथा छन्द-तन्त्र भी इस काव्यधारा के द्योतक हैं। इन रचनाओं में मन-मोहक माया, भौरों की गुंजार, मधुमय मधु का संसार, मन्द बतास, बूँदों का उल्लास आदि शब्द-विन्यास छायावादी साँचे में ढला हुआ है। इसका स्पष्ट परिचय 'लक्षण' नामक कविता में उपलब्ध होता है—

आँसू से भरने पर आँखें
और चमकने लगती हैं।
सुरभित हो उठता समीर
जब कलियाँ झड़ने लगती हैं।
बढ़ जाता है सीमाओं से
जब तेरा यह मादक हास,
समझ तुरत जाता हूँ मैं
'अब आया समय विदा का पास'।

इसी प्रकार 'हिय-हारिल' की रचनाओं में भी छायावादी स्वर प्रमुखतः तथा इससे मोहभंग का स्वर अंशतः ध्वनित होता है। काव्य वस्तु की दृष्टि से कवि अपना नया पथ प्रशस्त करने के लिये प्रयासशील है और काव्य-शैली की दृष्टि से उसने अपना नया पथ खोज लिया है। इसका आभास 'रहस्यवाद' नामक कविता में मिल जाता है—

मैं भी एक प्रवाह में हूँ—
लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है,
मैं उस असीम शक्ति से
सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूँ—
अभिभूत होना चाहता हूँ
जो मेरे भीतर है

शक्ति असीम है,
मैं शक्ति का एक अणु हूँ,
मैं भी असीम हूँ।
एक असीम बूँद—
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करती है।

यह अज्ञेय के रहस्यवाद का स्वरूप है जो महादेवी के रहस्यवाद के निकट है, परन्तु इस में रागात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता अधिक है और संगीतात्मकता का अभाव है। इसके काव्य-विकास से अवगत होने के लिये इनकी छायावादी रचनाओं का विश्लेषण एवं विवेचन अपेक्षित है। इनमें कवि अभी छायावादी शिशुवत जिज्ञासा से अभिभूत है; वह वैज्ञानिक बोध के स्तर पर नहीं आ सका है; वह अभी असीम और ससीम की परिधि में जीवन के रहस्य को व्यक्त करने में संलग्न है। इसी तरह वह 'स्मृति' में अनन्त के अचिर जाल, सीमा-हीन विरह-रजनी, आँसुओं के अविराम पावस के माध्यम से अपनी प्रिया का स्मरण करते हैं। 'अतीत की पुकार' से भी छायावादी ध्वनि निकलती है —

यही है मिलन-मार्ग का सेतु
हृदय की यह स्मृति-प्यार-पुकार—
इसी में, रहकर भी विच्छिन्न
हमारा है अनन्त अभिसार।

इन पंक्तियों में महादेवी के विरह तथा मिलन की बात का अविकल अनुवाद न होकर उसकी प्रतिध्वनि है। इससे मोह-भंग की स्थिति तथा इस पर विजय पाने की अभिलाषा का स्वर 'धूल भरा दिन' में गुंजित हुआ है—

आज धूल के जग में बन्धन
एक-एक करके टूटेंगे,

निर्मम मैं, निर्मम वसन्त, बस
अविरल मर-मरकर फूटेंगे।

यदि अज्ञेय की रचनाओं में छायावादी भाव-स्तर, सौन्दर्य-बोध आदि की अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण खोजना हो तो 'हिय हारिल' में संकलित 'मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ', 'नाम तेरा', 'एक चित्र' नामक कविताओं में इसे पाया जा सकता है। अज्ञेय ने महादेवी की वीणा उधार माँग कर इस पर इन गीतों को गाया है। इन रचनाओं में कवि महादेवी के स्वर में रहस्य-भावना, मानववादिता, जीवन की नश्वरता, चिन्तन में महा-मिलन के राग को आलापते हैं। 'एक चित्र' के अन्त में कवि का कथन है—

छवि-दर्शन तो दूर, मुझे
तेरा चिन्तन ही महा-मिलन है।

इसी प्रकार वह विरह के भाव को 'नाम तेरा' की पहली पंक्तियों में व्यक्त करते हैं—

पूछ लूँ मैं नाम तेरा।
मिलन रजनी हो चुकी, विच्छेद का अब है सवेरा।

वह चिर-मिलन की स्थिति से निराश हो चुके हैं, स्वयं को नियति का दास अनुभव करने लगे हैं, प्रेम की क्षणिक अनुभूति को महत्त्व देने लगे हैं, और अन्त में रहस्य की शरण लेते हैं। वह प्रेम के क्षणभंगुर एवं नश्वर स्वरूप को इन शब्दों में चित्रित करते हैं—

प्रेम को चिर-ऐक्य कोई
मूढ़ होगा तो कहेगा—
विरह की पीड़ा न हो तो
प्रेम क्या जीता रहेगा?
जो सदा बाँधे रहे वह
एक कारावास होगा—

घर वही है जो थके को
रैन भर का हो बसेरा ! पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

वह तड़ित को बाँधने में अक्षम हैं, पथ के बीच में डेरा डाल कर रुकने के पक्ष में नहीं हैं। काम की सहज अनुभूति को पाकर वह विदा लेना चाहते हैं और इस अनुभूति को पाप-पुण्य की भावनाओं से मुक्त मानते हैं—

प्रकृत है अनुभूति ; वह
रसदायिनी निष्पाप भी है ,
मार्ग उसका रोकना ही
पाप भी है, शाप भी है ;
मिलन हो, मुख चूम लें ;
आई विदा, लें राह अपनी-
मैं न पूछूँ, तुम न जानो
क्या रहा अंजाम मेरा ! पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

इस काम-वासना की परिणति मोह-भंग की स्थिति में होती है। कवि का स्वप्न टूट चुका है, निराशा का अंधकार गहरा हो चुका है, नश्वरता की भावना घनीभूत हो चुकी है, भावुकता एवं आदर्शवादिता को ठेस लग चुकी है। वह क्लान्ति एवं विश्रान्ति की स्थिति में विरह को महत्त्व देने लगते हैं—

पा न सकने पर तुझे
संसार सूना हो गया है—
विरह के आघात से प्रिय !
प्यार दूना हो गया है।

अब वह अपनी वेदना के क्षितिज को आँसुओं से छाया हुआ पाते हैं, बाट जोहते-जोहते अपने नयनों को पका हुआ पाते हैं, प्राणों को थका हुआ और गानों को बिखरा हुआ पाते हैं। इसलिये वह याचना

करते हैं—

आज छू दे यन्त्र से ओ
दूर के मेहमान मेरे—
आज चिन्तामय हृदय है
थक गए हैं प्रान मेरे।[1]

वह इस विश्रान्ति एवं क्लान्ति की स्थिति पर विजय पाने के भी आकांक्षी हैं। हारिल नामक पक्षी कवि की इस आकांक्षा का प्रतीक है, वह शून्य आकाश में उड़ान लगाना जानता है, धरती पर उतर कर रोना नहीं चाहता—

उड़ चल हारिल, लिए हाथ में
यही अकेला ओछा तिनका—
ऊषा जाग उठी प्राची में
कैसी बाट, भरोसा किन का!
शक्ति रहे तेरे हाथों में—
छूट न जाय यह चाह सृजन की
शक्ति रहे तेरे हाथों में
रुक न जाय यह गति जीवन की।[2]

इन पक्तियों में हारिल कवि की महत्त्वाकांक्षा, अडिग आस्था तथा अदम्य साहस का प्रतीक है। उस में उथल-पुथल मचाने की क्षमता है, क्रान्ति लाने की शक्ति है, विद्रोह करने का साहस है। इन स्वरों को कवि 'बन्दी स्वप्न' की कविताओं में भी ध्वनित कर चुके हैं जिनकी रचना इन्होंने कारावास के बन्दी-जीवन में की थी। इन में इनकी सामाजिक चेतना उभर कर व्यक्त हुई है और दुखिया भारत माँ के

---

१. इत्यलम् : चिन्तामय, पृ० १२५, १२६, १२७
२. " उड़ चल, हारिल, पृ० १४६

प्रति इनकी सहानुभूति तथा सामाजिक विषमता के प्रति घृणा के भाव निजी महत्त्व रखते हैं।

अज्ञेय इन रचनाओं में छायावादी काव्य की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की उपलब्धि एवं सीमा का आभास देते हैं। इनके वस्तुपक्ष में व्यक्तिवाद, अतृप्त प्रेम, निराशा और वेदना, करुणा और अवसाद, जिज्ञासात्मक रहस्य-भावना, मुक्ति की कामना, राष्ट्रीयता आदि उपलब्ध होते हैं और इस वस्तु-पक्ष को अभिव्यक्ति देने के लिये इसके शिल्प-पक्ष में लाक्षणिक शब्दावली, प्रतीकात्मक भाषा तथा आलंकारिक शैली का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त इन रचनाओं में मोह-भंग का स्वर भी ध्वनित हुआ है जिसके कारण प्रेम के उदात्त स्वरूप तथा सत्य के शाश्वत रूप पर प्रश्नचिह्न लगाए गए हैं। इन में भाव-प्रवणता का प्राधान्य है, परन्तु कभी-कभी बौद्धिकता भी उभर कर व्यक्त हुई है। नारी तथा प्रकृति के प्रति भी अज्ञेय का दृष्टिकोण छायावाद के विकास का न होकर ह्रास का है। प्रकृति तथा नारी के चित्रण में कवि का आदर्शवादी सौन्दर्य-बोध यथार्थ के धरातल पर उतरने के लिये अधीर है जिसका स्पष्ट परिचय 'चिन्ता' में आकर उपलब्ध होता है। इसलिये वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से 'चिन्ता' को अन्य रचनाओं से भिन्न स्वीकार किया गया है।[1] इसमें नारी और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या को उठाया गया है और इसके प्रतिपादन में लारेंस की सेक्स-सम्बन्धी विचारधारा का प्रभाव लक्षित होता है। अज्ञेय पुरुष और स्त्री के पारस्परिक यौन सम्बन्ध को पति और पत्नी के सामाजिक सम्बन्ध तक सीमित न रख कर चिरन्तन पुरुष तथा चिरन्तन नारी के रूप में 'गतिशील' सम्बन्ध को स्वीकार करने के पक्ष में हैं। नारी और पुरुष में आकर्षण एवं विकर्षण की स्थिति जिसे दोनों का संघर्ष भी कह

---

१. आलोचना २५ : पृ० २२७

सकते हैं, 'चिन्ता' का मूल विषय है। इस स्थिति की अभिव्यक्ति लारेंस की कविताओं तथा उपन्यास-कृतियों में हो चुकी थी। इस विषय की व्याख्या करते हुए कवि 'चिन्ता' की भूमिका में लिखते हैं—'पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध पति और पत्नी का नहीं, चिरन्तन पुरुष और चिरन्तन स्त्री का सम्बन्ध अनिवार्यतः एक गतिशील सम्बन्ध है। (गतिशील की अपेक्षा इसे गत्यात्मक कहना अधिक संगत होगा), पुरुष और स्त्री की अवस्थिति एक कर्षण की अवस्था है। वह शक्ति आकर्षण का रूप ले ले अथवा विकर्षण का।'''नाटकीय भाषा में हम इसे पुरुष और स्त्री का संघर्ष कह सकते हैं। यह मूल संघर्ष 'चिन्ता' का विषय है।' इस पुस्तक को दो खण्डों में विभाजित किया गया है—विश्वप्रिया में पुरुष का और एकायन में स्त्री का दृष्टिकोण निरूपित है। इसका आधार मानवीय प्रेम है जिसके उद्भव, विकास, द्वन्द्व, ह्रास, मन्थन, पुनरुत्थान तथा चरम संतुलन द्वारा इस समस्या पर प्रकाश डाला गया है। मानव-प्रेम की इस गाथा को कहने के लिये कवि ने गद्य-पद्यमय प्रसंगों का चयन किया है। अज्ञेय का पुरुष 'विश्वप्रिया' में असाधारण तत्त्वों से निर्मित है, परन्तु 'एकायन' में नारी का स्वरूप सहज एवं स्वाभाविक है जिसकी उद्भावना लारेंस ने अपनी कृतियों में की है। इस उद्भावना पर मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का भी प्रभाव है। 'चिन्ता' में पुरुष का व्यक्तित्व असाधारण है और वह नारी के माध्यम से इसकी खोज में है। वह यह जानने के लिये अधीर है—

कहाँ कौन है जिसको है मेरी परवाह,
जिसके उर में मेरी कृतियाँ जगा सकें उत्साह।[1]

पुरुष शेखर की भाँति मौलिक कृतिकार है, अहंवादी है, क्रांतिकारी है, विद्रोही है। वह अपने व्यक्तित्व का विकास नारी के माध्यम से करना

---

१. चिन्ता : पृ० ५६।

चाहता है और बाधा पड़ने पर उसका अदम्य अहंकार इन शब्दों में फूट पड़ता है—

तोड़ दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान
तुम हँसी कह दो कि अब उत्संग वर्जित है
छोड़ दूँ कैसे भला जो अभीप्सित है
कोषवत् सिमटी रहे यह चाहती नारी
खोल देने, लूटने का पुरुष अधिकारी।
... ...

बद्ध है मम कामना में तेरा क्षणिक हास
मेघ-उर में बुझेगा दामिनी का लास
दूर रहने की हृदय में ठानती क्या हो
मत हँसो नारी, मुझे अपना वशीकृत जान
तोड़ दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान।[1]

नर और नारी के इस द्वन्द्व में जयमाला पहनने का अधिकारी पुरुष है जो वशीकृत होकर भी नारी के अभिमान को तोड़ने की क्षमता रखता है। वह शेखर की तरह अनेक नारियों के सम्पर्क में आता है और प्रत्येक सम्पर्क में नयी अनुभूति को प्राप्त कर अपने असाधारण व्यक्तित्व को और भी असाधारण बनाता है। नारी का स्वरूप कल्पनामयी, वायवी, श्रद्धामयी, गरिमामयी न होकर वासनात्मक, मांसल एवं यथार्थ है जो कवि के नवीन दृष्टिकोण का द्योतक है। इनकी कविता ने 'चिन्ता' में आकर नया मोड़ लिया है। छायावादी जीवन-दृष्टि से अज्ञेय का कवि असंतुष्ट है। वह मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर भावबोध के नये स्तरों, सौन्दर्य-बोध के नये तत्त्वों तथा यथार्थ के नये धरातलों का अन्वेषण करना चाहता है। इसलिये अज्ञेय छायावादी भावभूमि

---

१. चिन्ता : पृ० ४८, ४९।

का परित्याग कर काव्य के क्षेत्र में नये प्रयोगों की ओर अग्रसर होते हैं जिनका परिचय 'वंचना के दुर्ग' की रचनाओं में प्राप्त होता है। इन रचनाओं को पहले 'तार सप्तक' (१९४३) में और फिर 'इत्यलम्' (१९४६) में 'वंचना के दुर्ग' के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया है। इन कविताओं में अज्ञेय के प्रयोगवादी काव्य का स्पष्ट रूप लक्षित होता है जिसका आभास 'चिन्ता' में मिल चुका है। इन रचनाओं के वस्तुपक्ष तथा शिल्प-पक्ष को निरूपित करने के लिये कवि को 'तार सप्तक' में एक विस्तृत वक्तव्य देना पड़ा है। इस संग्रह के प्रकाशन का पहला सिद्धान्त यह था कि इस योजना का मूल आधार सहयोग होगा। यह सिद्धान्त 'तार सप्तक' के आर्थिक पक्ष से सम्बन्ध रखता है। इस का दूसरा सिद्धान्त यह था कि कविता को प्रयोग का विषय माना गया था। कवि का यह दावा नहीं था कि उसने सत्य को पा लिया है। वह स्वयं को केवल अन्वेषी मानता था। वह राही भी नहीं था राहों का अन्वेषी था। यही एक दृष्टिकोण कवियों को एक सूत्र में बाँधने की क्षमता रखता था। इसके अतिरिक्त इस संग्रह के कवियों में मतों की विविधता, दृष्टियों की विभिन्नता, रुचियों की अनेकरूपता, काव्य-वस्तु एवं काव्य-शिल्प की नवीनता उपलब्ध होती है। अज्ञेय की रचनाओं में दोनों की नवीनता है। इन्होंने वस्तु तथा शिल्प के क्षेत्र में प्रयोग को इतना महत्त्व दिया है कि इन रचनाओं को प्रयोगशील की अपेक्षा प्रयोगवादी कहा गया है। छायावाद के उपरान्त 'वैयक्तिक कविता' ने नया मोड़ लिया है। इसके वस्तुपक्ष में जीवन की सार्थकता एवं निरर्थकता, तुच्छता, कुरूपता एवं पंगुता, शून्यता एवं असारता और कभी-कभी आस्था एवं आत्मविश्वास के स्वरों को अभिव्यक्ति मिली है। इसके शिल्प-पक्ष में बौद्धिक अलंकार-विधान, यौन प्रतीक-विधान, मुक्त छन्द-विधान, स्मरणचित्र तथा लोकगीत शैली आदि का समावेश है। इस आधार पर 'वंचना के दुर्ग' तथा 'मिट्टी की ईहा' की कविताओं को

जो 'इत्यलम्' में संकलित हैं प्रयोगवादी काव्य की कोटि में रखा जाता है। इन में व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि है, जीवन के प्रति रागदीप्त बौद्धिक प्रतिक्रिया है, मोहभंग की स्थिति है, भावात्मक आदर्शवाद के प्रति विमुखता है, यथार्थवाद के प्रति उन्मुखता है, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह है, सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन के प्रति जागरूकता है, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा स्मरण-चित्रण की शैली के कारण अस्पष्टता एवं दुरूहता है और प्रकृति के प्रति उदासीनता एवं अनासक्ति की दृष्टि है। कवि प्रकृति के उपकरणों का मानसिक स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग करते हैं। वह 'सावन-मेघ' में अपनी दमित वासना को प्रकृति के द्वारा इन शब्दों में साकार रूप देते हैं—

घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र, यदि तड़ित से झुलसा हुआ
आह मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो नारि ?

इन पंक्तियों में दमित वासना की अभिव्यक्ति यौन प्रतीकों के माध्यम से हुई है जिसका आभास छायावादी काव्य में भी मिल जाता है, परन्तु जिसकी नग्नता प्रयोगवादी कविता की उपलब्धि है। इस कविता के अन्त में रति-भाव का समापन इन शब्दों में हुआ है—

वासना के पंक सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य सी निर्लज्ज, नंगी
औ समर्पित !—(इत्यलम् : पृ० १५५)

अपने कठोर पौरुष के दृढ़ स्वर को ध्वनित करने के लिये भी कवि को यौन-प्रतीक का आश्रय लेना पड़ता है। इनका 'मैं' 'हम' में परिणत हो गया है और इस प्रकार शक्ति का संचय कर कवि का अहं आदिहीन, शेषहीन पथ पर अग्रसर है—

जिस पर
एक दृढ़ पैर का ही स्थान है
और वह दृढ़ पैर मेरा है,
गुरु, स्थिर, स्थाणु सा गड़ा हुआ
तेरी प्राण-पीठिका पै लिंग-सा खड़ा हुआ।[२]

कवि का हम पुनः मैं में परिणत हो जाता है जब वह कहते हैं कि पैर मेरा है और वह लिंग की भाँति सब को चुनौती देता है। अज्ञेय ने प्रेम के जिस स्वरूप को व्यंजित किया है वह वासना से युक्त एवं सिक्त है, उसकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष एवं परोक्ष है, स्पष्ट एवं प्रतीकात्मक है। इसके अतिरिक्त वह प्रेम के उस स्वरूप का भी उद्‌घाटन करते हैं जो सहज एवं स्वाभाविक है, वासना तथा भौतिक धारणाओं से मुक्त है, सामाजिक स्तर पर न होकर प्राकृतिक स्तर पर है। इसकी प्रेरणा इन्होंने लारेंस की जीवन-दृष्टि से प्राप्त की है जिसके अनुसार प्रेम का स्वरूप नैसर्गिक है, जिसकी उपलब्धि के लिये लारेंस को सामाजिक लांछनों के प्रहार सहन करने पड़े थे। 'अचरज' नामक कविता में दो पक्षियों के माध्यम से इस नैसर्गिक प्रेम को सजीव एवं सबल अभिव्यक्ति मिली है। यह स्थिति सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए कवि के लिये अचरज है—

एक तार पर बिजली के वे सटे ए बैठे थे—
दो पक्षी छोटे-छोटे
घनी छाँह में, जग से अलग; किन्तु परस्पर सलग।

---

१. इत्यलम् : पृ० १५७।

और नयन शायद अधमीचे।
और उषा की धुँधली-सी अरुणाली थी सारा जग सींचे।

इस पक्षी-युग्म को अलगाने के लिये हवा का झोंका आया; परन्तु वे एक-दूसरे से विच्छिन्न नहीं हो सके—

उस समय भी तो उनके उर के भीतर
कोई खलिश नहीं थी—कोई रिक्त नहीं था—
नहीं वेदना की टीसों को स्थान कहीं था।
तब भी तो वे सहज परस्पर
पंख से पंख मिलाए
वाताहत तम की झकझोर में भी अपने चारों ओर
एक प्रणय का निश्चल वातावरण जमाए
उड़े जा रहे थे, अतिशय निर्द्वन्द्व—
और विधि देख रही थी—निस्पन्द!

इस दृश्य को देख कर कवि का हृदय ईर्ष्या से भर जाता है और इन्हें समस्त जगत इस ईर्ष्या-भाव में डूबा हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार सामाजिक तथा प्राकृतिक जीवन में इस तरह की विषमता की अनुभूति कवि को यह सोचने के लिये बाधित करती है कि यह स्थिति क्या सत्य हो सकती है। क्या प्रणय का व्यापार इस प्रकार नैसर्गिक एवं उन्मुक्त हो सकता है? क्या सामाजिक बन्धन प्रणय का परिष्कार करते हैं या इसे विकृत बनाते हैं? इन पंक्तियों में पारस्परिक सम्बन्ध सहज एवं स्वाभाविक है। इस सहज प्रेम की कल्पना वह 'बाहु मेरे रुके रहे' में भी करते हैं—

वासना से याचना से हम परे थे—
सहज अनुरागी
नहीं मुझ में अहं की अभिव्यंजना जागी।
नहीं उमड़ता घुमड़ता संक्षुब्ध उर में

वासना का बुदबुदाता ज्वार।

इस कविता के अन्त में प्रेम धृति को चिरन्तन गति बना कर और शमन में जीवन को जगाकर स्तब्ध स्वर में घोषित करने लगता है कि इस में वासना की गंध नहीं है; इसका स्वरूप नैसर्गिक एवं प्राकृतिक है। प्रणय के वासनामुक्त पक्ष को निरूपित करने के लिये अज्ञेय यह कल्पना भी कर लेते हैं कि प्राकृतिक स्तर पर प्रेम काम-वासना से मुक्त होता है। यदि यह मुक्त होता तो कवि दो सटे हुए पक्षियों के जोड़े के दृश्य को देखने से भी वंचित रह जाते और इन्हें आश्चर्य-विभोर होने का अवसर भी न मिलता। छायावादी काव्य में प्रेम का स्वरूप भव्य एवं उदात्त था; परन्तु प्रयोगवादी रचनाओं में इसकी अभिव्यक्ति यथार्थ के धरातल पर हुई है। 'रात होते—प्रात होते' में प्रतीकात्मक शैली में वंचिता नारी काम की अनुभूति को यथार्थ के धरातल पर इन शब्दों में व्यक्त करती है—

उड़ गया वह बावला
पंछी सुनहला
कर प्रहर्षित देह की रोमावली को
प्रात होते।

इस प्रकार वासना के यथार्थ रूप के प्रति आग्रह प्रयोगवादी कविता की विशेषता है। छायावादी कुहासे से निकल कर कवि जीवन-वास्तव के नये धरातलों की खोज में है। यथार्थ की स्वीकृति के साथ यह मानना भी आवश्यक हो जाता है कि जीवन में कुरूपता, तुच्छता, क्षुद्रता, वेदना आदि उतने ही सशक्त हैं जितने कि सुन्दरता, उदात्तता, भव्यता, आनन्द आदि सत्तम हैं। छायावादी काव्य में कुरूपता से पलायन है और प्रयोगवादी कविता में इसे स्वीकार करना आवश्यक माना गया है। 'वंचना के दुर्ग' तथा 'मिट्टी की ईहा' की कुछ रचनाओं में यथार्थ के इस पक्ष की अभिव्यंजना उपलब्ध होती है 'उषःकाल की भव्य शान्ति'

में जब चेतना से नींद का आँचल अनायास उठ जाता है तब कवि स्वयं स्तब्ध एवं अचंचल स्थिति में पाता है—

मैं ही हूँ वह पादाक्रान्त रिरियाता कुत्ता—
मैं ही वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला—
मैं वह छप्पर-तल का अहंलीन शिशु-भिक्षुक[1]

इन बिम्बों के माध्यम से उषा की रहस्यमय एवं भव्य शान्ति को तुच्छ रूप में चित्रित किया है। इसी प्रकार शिशिर की राका-निशा के यथार्थ रूप को व्यक्त करते हुए कवि का कथन है—

वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
शिशिर की राका-निशा की शांति है निस्सार।[2]

इसकी निस्सारता का कारण कवि की मोह-भंग की स्थिति है। सित चाँदनी कवि की दृष्टि में वंचना मात्र है, वह अब लोरी देकर इनकी चेतना को सुला नहीं सकती। अज्ञेय जीवन-यथार्थ के प्रति सचेत एवं जागरूक है ; वह इसके कुरूप पक्ष की अवहेलना नहीं करते। वह इस सित चाँदनी की भव्यता में कुछ और ही देखते हैं—

सिहरते-से, पंगु ठुंडे
नग्न बच्चे, दईमारे पेड़ !

और इन पेड़ों के अतिरिक्त

पास फिर, दो भग्न गुम्बद—
निबिड़ता को भेदती चीत्कार-सी मीनार—
बाँस की टूटी हुई टट्टी, लटकती
एक खम्भे से फटी-सी ओढ़नी की चिन्दियाँ दो चार

---

१. इत्यलम् : पृ० १६५।
२. इत्यलम् : पृ० १६६।

निकटतर धँसती हुई छत आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव,
धैर्य-धन गदहा।[1]

इस प्रकार पादाक्रान्त रिरियाता कुत्ता और मूत्र से सिंचित वृत्त में तीन टाँगों पर खड़ा गदहा प्रयोगवादी कविता के नवीन बिम्ब-विधान के सूचक हैं जिसके मूल में मोहभंग की प्रवृत्ति है जो जीवन की तुच्छता, पंगुता, कुरूपता का सामना करने के लिये कवि को बाधित करती है। इस प्रवृत्ति के उद्भव एवं प्रसार को न केवल अकाव्यात्मक घोषित किया गया है वरन इसे विकृत मनोवृत्ति का परिणाम भी कहा गया है।[2] अज्ञेय 'महीवाल से' नामक कविता में भी यथार्थ के प्रति आग्रह को परिष्कृत रूप में व्यक्त करते हैं जिसमें व्यंग्य का पुट मोह-भंग की चेतना को गहराता है—

क्रौंच बैठा हो कभी बल्मीक पर
तो मत समझ
वह अनुष्टुप् बाँचता है संगिनी के स्मरण के—
जान ले, दीमकों की टोह में है।[3]

इन पंक्तियों में दीमकों की टोह को शिवदान सिंह चौहान ने मनुष्य के प्रेम और सौन्दर्य की पुनीत भावनाओं के उपहास के रूप में ग्रहण किया गया है। इनका मत है कि इस में पशुता को गौरान्वित किया गया है। इस प्रयास में झुँझलाहट, खीज, कुण्ठा तथा हीन-भाव की अभिव्यक्ति है। चौहान की मार्क्सवादी दृष्टि में यह ओछे तल की भाव-भंगिमा का

---

१. इत्यलम् : पृ० १६६।
२. समालोचक : यथार्थवाद विशेषांक, पृ० १३३
३. हरी घास पर क्षण भर, पृ० ४५

परिणाम है। इसका कारण यह है कि अज्ञेय व्यक्ति-चेतना से इतने आक्रान्त हैं कि वह सामाजिक जीवन के साथ किसी प्रकार के सामंजस्य की कल्पना नहीं कर सकते। इसलिये वह उच्चतर जीवन-मूल्यों के प्रति एक सहज आस्था नहीं रखते और दीमकों की टोह में व्यस्त रहते हैं।[1] अज्ञेय की छायावादी 'पल्लव' तथा 'परिमल' में व्यक्त 'उच्चतर जीवन-मूल्यों' के प्रति आस्था टूट चुकी है; वह मोह-भंग की स्थिति में जीवन के यथार्थ को पकड़ने के लिये प्रयासशील हैं। इस प्रयास में वह रिरियाते कुत्ते, तीन टाँगों पर खड़े गदहे तथा दीमकों की टोह में बल्मीक पर बैठे क्रौंच को देखते हैं जो आरोपित आदर्शवाद, खोखली भव्यता, रिक्त उदात्तता के प्रति प्रतिक्रिया का परिणाम है। वह अपनी जीवन-दृष्टि को व्यक्तिमूलक स्वीकारने से भी संकोच नहीं करते, अपनी व्यक्ति-चेतना के प्रति निष्ठावान हैं। यह व्यक्ति-चेतना कभी-कभी बिम्बों के संयोजन में इतना बिखराव ला देती है कि ये रचनाएँ अस्त-व्यस्त स्मरण-चित्रों का पुंज बन जाती हैं। इन रचनाओं में 'चार का गजर' 'कंकरीट का पोर्च', 'पार्क की बेंच' की गणना की जा सकती है। 'चार के गजर' में अज्ञेय किसी की स्मृति में इतना लीन हो जाते हैं कि वह आसपास के परिवेश में अराजकता का ही चित्रण करने में संलग्न हो जाते हैं। जब वह स्वप्न से जागते हैं तो चार का गजर इन्हें खड़कता सुनाई देता है। इसी प्रकार 'कंकरीट के पोर्च' में चेतना-प्रवाह के माध्यम से वह मोह-भंग की स्थिति का चित्रण करते हैं। कविता के पहले अंश में कवि की दृष्टि एक डाक्टरनी के नये बँगले के कंकरीट के बढ़े हुए निराधार पोर्च पर टिकती है और जब इनकी ऊँघती आत्मा जाग कर इन्हें चेतावनी देती है कि घर पराया है, तब वह विलायती मलाई का स्मरण करने लगते हैं

---

१. काव्यधारा : पृ० ४५

जिसे कवि ने एक दिन खाया था। डाक्टरनी के लिये बँगले तथा विलायती मलाई का आन्तरिक सम्बन्ध कवि के उपचेतन पर ही अंकित कहा जा सकता है जो वहाँ से उभर कर व्यक्त हुआ है। इस प्रकार उपचेतन की समस्या को महत्त्व देकर कवि ने मुक्त आसंग (free association) के माध्यम से उसे उघाड़ने का प्रयास किया है। इन रचनाओं में शब्दों का वैयक्तिक प्रयोग, वाक्य-विन्यास में गद्य की लय, छन्द-विधान में मुक्त-छन्द और प्रतीक-विधान में यौन एवं बौद्धिक प्रतीकों के प्रति आग्रह इनकी शिल्पगत विशेषताएँ हैं। इनके वस्तुपक्ष में व्यक्ति-सत्य अथवा व्यक्ति-यथार्थ को अभिव्यक्ति देने का प्रयास लक्षित होता है जिसके लिये कभी-कभी लोकगीत-शैली को भी अपनाया गया है।[1] इस प्रकार 'चिन्ता', 'वंचना के दुर्ग' तथा 'मिट्टी की ईहा' की रचनाओं में प्रयोगवादी काव्य का अपरिपक्व स्वरूप लक्षित होता है जिसका परिष्कार अज्ञेय के 'हरी घास पर क्षण भर' में किया गया है। इन रचनाओं में न केवल प्रयोगवादी काव्य के वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष का विकास हुआ है, वरन इनमें नयी कविता का स्वर भी ध्वनित हुआ है। इस प्रकार अज्ञेय छायावादी तथा प्रयोगवादी काव्य की मंज़िलों को पार कर काव्य के नये पथ को प्रशस्त करने के लिये प्रयत्नशील जान पड़ते हैं।

अज्ञेय ने मोहभंग की स्थिति से निकल कर आस्था, निष्ठा, आत्म-विश्वास के धरातल पर 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी' 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' तथा 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की कविताओं में युग की आवश्यकताओं के अनुकूल अपने काव्य-व्यक्तित्व का परिष्कार किया है। प्रयोगवाद अपनी समस्त सम्भावनाओं तथा सीमाओं के साथ कवि के माध्यम से अभिव्यक्ति पा सका है। इन कविताओं में न केवल प्रयोगवादी काव्य का परिष्कृत रूप उपलब्ध होता है वरन नयी कविता

---

१. इत्यलम् : पृ० १८५, २०४, २०६।

का स्वरूप भी लक्षित होता है। नयी कविता को एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में प्रतिपादित किया जा रहा है और नयी कविता की दृष्टि से अज्ञेय को बहुत दूर तक आधुनिक नहीं कहा जाता।[1] इस सम्बन्ध में एक आलोचक का मत है कि इनका काव्य-व्यक्तित्व नयी कविता की पृष्ठभूमि है। वह नयी कविता के लक्षणों की तालिका प्रस्तुत कर अज्ञेय की इन रचनाओं का मूल्यांकन नयी कविता के आधार पर करते हैं। इस नवीन काव्य-प्रवृत्ति के लक्षणों में सामान्य वस्तुओं तथा अकिंचन परिस्थितियों से रागात्मक सम्बन्ध, गहरा तथा तीखा व्यंग्य जो जीवन के प्रति एक रचनात्मक दृष्टिकोण दे सकता हो, बिखरे भाव-चित्रों का निस्संकोच प्रयोग, नयी छन्द-योजना जो शब्दों के ध्वन्यात्मक तथा आन्तरिक अर्थों का समन्वय कर सके, बौद्धिकता और अन्त में एक नये व्यापक तथा उदार मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास आदि की गणना की जाती है। नयी कविता के इन लक्षणों की कसौटी पर अज्ञेय की रचनाएँ खरी उतरती हैं। इन रचनाओं को नयी कविता की उपलब्धि के रूप में तो स्वीकृत एवं उद्धृत किया गया है, परन्तु 'शुद्ध' नयी कविता की दृष्टि से इन्हें प्रयोगवादी काव्य का परिष्कृत रूप मान कर नयी कविता से अलगाया गया है अथवा नयी कविता की पृष्ठभूमि माना गया है। 'हरी घास पर क्षण भर', 'नदी के द्वीप', 'नयी व्यंजना', 'यह दीप अकेला', 'दफ्तर : शाम', 'जो कहा नहीं गया', 'देना जीवन' 'जितना तुम्हारा सच है', 'सत्य तो बहुत मिले', 'मैं वहाँ हूँ', 'इतिहास की हवा', 'हमने पौधे से कहा', 'नयी कविता : एक सम्भाव्य भूमिका', 'नया कवि', 'बड़ी लम्बी राह', 'नये कवि से', 'इशारे ज़िन्दगी के', 'बिकाऊ', 'नया कवि : आत्मोपदेश', 'ब्रह्म मुहूर्त्त : स्वास्ति वाचन' आदि रचनाओं को नयी कविता की उपलब्धि

---

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी : नवलेखन, पृ० ४१।

की मान्यता न देना इस काव्य-प्रवृत्ति को विपन्न बनाना है। अज्ञेय की 'यह दीप अकेला' नामक कविता एक आलोचक की दृष्टि में 'आधुनिकता स्वचेतना तथा बौद्धिकता की सशक्त अभिव्यक्ति है' जो नयी कविता के तीन प्रधान लक्षण हैं—

यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्वभरा मदमाता, फिर
इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति दे दो।

इस रचना में काव्य-व्यक्तित्व के अतिरिक्त दायित्व की अभिव्यक्ति है जो कविता के नये आयाम से सम्बद्ध है। इस में कवि के 'व्यक्तित्व की खोज' का स्वर ध्वनित है। इसलिये अज्ञेय को व्यक्तिवादी की अपेक्षा व्यक्तित्ववादी की संज्ञा देना अधिक संगत है और व्यक्तित्ववाद इनकी रचनाओं को नयी कविता के धरातल पर प्रतिष्ठित करता है।[1] इस प्रकार इन का काव्य वादों से मुक्त नहीं हो पाता और यह इसका सबसे बड़ा वरदान एवं अभिशाप है। नयी कविता छायावाद की भाँति केवल शैलीगत आन्दोलन नहीं है, इसके मूल में विशिष्ट जीवन-बोध है जो इसके शिल्प की प्रेरक शक्ति हो सकता है। नयी कविता की प्रवृत्तियों में मानवतावाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है और यह इसकी आधारशिला

---

१. हिन्दी नवलेखन : पृ० ४५

है।[1] छायावाद में भी मानवतावाद है, प्रगतिवाद में भी मूल स्वर मानवतावाद का है, प्रयोगवाद में भी मानवतावाद है और आचार्य हजारीप्रसाद के मतानुसार भक्ति-काव्य के मूल में भी मानवतावादी चेतना है। इस मानवतावाद का स्वरूप इतना अस्पष्ट एवं व्यापक है कि इस में समस्त साहित्य को समेटने की क्षमता उपलब्ध होती है। वस्तुस्थिति यह है कि मानतावाद का मूल्यांकन विभिन्न दृष्टिओं से हुआ है और इन में दो प्रधान हैं—एक समाज-मंगल, समष्टि-सत्य से प्रभावित है और दूसरी व्यक्ति-हित, व्यक्ति-सत्य एवं व्यक्ति-यथार्थ से अनुप्राणित है। इन में परस्पर विरोध भी पाया जाता है। प्रगतिवाद, भक्ति-काव्य तथा आचार्य द्विवेदी के मानवतावाद के मूल में समष्टि-सत्य, समाज-मंगल की दृष्टि है और छायावाद, प्रयोगवाद, तथा नयी कविता के मानवतावाद के मूल में व्यक्ति-विकास, व्यक्ति-सत्य एवं व्यक्ति-हित की दृष्टि है—एक में व्यक्ति को समाज-सत्य के आधार पर आँका गया है और दूसरी में समाज-सत्य को व्यष्टि-हित की कसौटी पर परखा गया है। समष्टि-सत्य एवं समष्टि-यथार्थ और व्यक्ति-सत्य एवं व्यक्ति-यथार्थ के भी अलग-अलग स्तर हैं। आचार्य द्विवेदी की समाज-मंगल सम्बन्धी जीवन-दृष्टि का स्वरूप सामान्य एवं आदर्शवादी है और प्रगतिवाद के समाज-कल्याण का स्वरूप विशिष्ट, वैज्ञानिक एवं यथार्थ-वादी है। इसी प्रकार छायावाद में व्यक्ति-चिन्तन का स्वरूप सामान्य एवं आदर्शवादी है और प्रयोगवाद में इसका स्वरूप विशिष्ट एवं यथार्थवादी है। मानवतावाद के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए तथा इस से सम्बद्ध भ्रान्तियों का परिहार करने के लिये इसके मूल में व्यक्ति-चिन्तन तथा समष्टि-चिन्तन की जीवन-दृष्टियों से अवगत होना अपेक्षित है। अज्ञेय के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन्होंने अपने काव्य के नये चरण में व्यक्ति

---

१. हिन्दी नवलेखन : पृ० ४४

के सामाजीकरण पर विशेष बल दिया है और इस प्रवृत्ति को नयी कविता का लक्षण माना गया है। 'यह दीप अकेला' के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में भी व्यक्ति के सामाजीकरण पर विशेष बल दिया है। 'नया कवि : आत्मोपदेश' में कवि स्वयं को उपदेश देते हुए कहते हैं—

गैर को मत कोंच
तू पहचान अपनापन :
चुनौती है जहाँ
तू अविकल्प साहस कर :
'यहाँ प्रतिरोध दुर्बल है, सुलभ जय' सोच
ऐसा, साहसिक मत बन।
अभियान में जिन खाइयों में
कूदना है, कूद :
भरा है उन में अँधेरा इसलिए
मत नयन अपने मूँद !
दीठ की मत डींग भर :
जो दिखा उसके बूझने की
तू तपस्या कर :
झाड़ मत पन्ना खड़ा कर
स्वयं अपने-आप से तू झर।
प्यास पर तू विजय पा, पर
और जो प्यासे मिलें, उनके लिए
चुपचाप निश्चल स्वच्छ शीतल
प्राण-रस से भर।[1]

अज्ञेय व्यक्ति के परिष्कार को उस पराकाष्ठा तक पहुँचा देते हैं जिससे

---

१. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ० ५१।

वह अन्य व्यक्तियों के विकास में बाधा बन कर न आए। यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के प्रति कवि की आस्था का परिणाम है—

कहाँ जाता है, इसे मत भूल :
कौन आता है, न इसको भी
कभी मन से उतरने दे।
राह जिसकी है उसी की है।
कगारे काट, पत्थर तोड़,
रोड़ी कूट, तू पथ बना लेकिन
प्रकट हो जब जिसे आना है
तू चुपचाप रास्ता छोड़ :
मुदित-मन वार दे दो फूल,
उसे आगे गुज़रने दे।[1]

अन्तिम दो पंक्तियों में व्यक्ति का इतना परिष्कार एवं सामाजीकरण हो चुका है कि वह मुदित मन से अन्य पथिकों पर दो फूल वारने को तैयार हो जाता है, उन्हें राह देने की बात तो गौण है। कवि दुःख की पावन शक्ति के माध्यम से भी व्यक्ति-विकास की दृष्टि को निरूपित करते हैं। अपनी प्रेयसी की सुधि जब कवि के हृदय में बरसने लगती है तो इनकी अन्तरात्मा बोल उठती है—

तुम्हें भी यही प्रिय होता।
क्योंकि तुमने भी निकट से दुःख जाना था।
दुःख सबको माँजता है
और—
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना न जाने, किन्तु—
जिनको माँजता है

---

१. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ० ५२।

उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रखें।[1]

इस प्रकार अज्ञेय दुःख की घनी अनुभूति पा कर व्यक्ति-विकास का संदेश देते हैं। दुःख भी व्यक्ति का समाजीकरण करता है। इस सामाजीकरण के मूल में कवि की व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि है जिसकी विशद अभिव्यक्ति इनकी प्रसिद्ध 'हरी घास पर क्षण भर' तथा 'नदी के द्वीप' नामक रचनाओं में देखने को मिलती है। पहली रचना में सहज प्रेम के माध्यम से व्यक्ति-विकास की धारणा को पुष्ट किया गया है। इसमें हरी घास नवीन चेतना की प्रतीक है, माली चौकीदार सामाजिक बन्धनों के प्रतीक हैं, सहज प्रणय की स्थिति में आत्मविस्मृति मुक्ति के बोध का प्रतीक है। वह नागरिक सभ्यता पर व्यंग्य इसलिये कसते हैं कि इसमें साबुन की चिकनाहट है और करुणा एवं सहानुभूति का अभाव है। अज्ञेय की दृष्टि में सहज प्रेम का विकास व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रतीक है। इसलिये वह क्षण भर के लिये अपने बन्धु के मुख तथा आँखों को निहारना और उसके आन्तरिक मन में झाँकना चाहते हैं। इस प्रकार इनका निहारना दमित वासना की विकृति का परिणाम नहीं है। इसलिये वह अपने बन्धु के साथ हरी घास पर बैठना नगरी की 'बुदकती अकुलाहट' से पलायन नहीं मानते। इसके साथ वह वहाँ से चलने को तैयार हो जाते हैं—

चलो, उठें अब;
अब तक हम थे बन्धु
सैर को आये–
[देखे हैं क्या कभी घास पर लोट-पोट होते सतभैये शोर मचाते]
और रहें बैठे तो
लोग कहेंगे

---

१. हरी घास पर क्षण भर : पृ० ५५।

धुँधले से दुबके प्रेमी बैठे हैं।
वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने :
[जिसके खुले निमन्त्रण के बल
जग ने उसे सदा रौंदा है
और वह नहीं बोली]

इस कविता में मुक्ति-बोध के विस्तार की कामना है, नैसर्गिक प्रेम के विकास की अभिव्यक्ति है, क्षणवाद का निरूपण है और सभ्य, शिष्ट जीवन की दरारों का निराकरण है। कवि इसे व्यक्तित्व के विकास के लिये अभीष्ट मानते हैं। व्यक्तित्व की खोज, व्यक्तित्व के विकास तथा व्यक्ति के सामाजीकरण के लिये अज्ञेय जीवन-नदी में द्वीप होने की स्थिति को न वरदान और न ही अभिशाप समझते हैं। वह 'नदी के द्वीप' में इस स्थिति को नियति का परिणाम मानते हैं। वह स्वीकार करते हैं कि नदी द्वीपों की माँ है, वह व्यक्तित्व का परिष्कार करती है, उसे आकार देती है। इस कविता में व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने की धारणा को सबल अभिव्यक्ति मिली है—

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।[1]

इसलिये नदी को बहने के लिये आमन्त्रित करते हैं—

नदी तुम बहती चलो।
भूखंड से जो दाय हम को मिला है, मिलता रहा है,

---

१. हरी घास पर क्षण भर पृ० ६५

माँजती, संस्कार देती चलो।[1]

और यदि कभी नदी द्वीपों को नष्ट भी कर दे और वे रेत बन जाएँ तो कवि को पूरा विश्वास है कि द्वीप नया रूप धारण करेंगे—

उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम, जमेंगे हम, कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना।[2]

इस प्रकार वह समष्टि-चेतना की उपादेयता तथा उसकी संहार शक्ति दोनों को स्वीकार करते हैं, परन्तु इनके आत्मविश्वास का स्वर इतना सबल है कि वह व्यक्तित्व के अस्तित्व को खो कर भी उसे पाना चाहते हैं। यह इनके काव्य का मूल स्वर है जो बार-बार 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये' तथा 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की अधिकांश रचनाओं में ध्वनित होता है।

अज्ञेय के काव्य के वस्तुपक्ष का मूल्यांकन करने के लिये इनकी इस व्यक्तित्वमूलक जीवन-दृष्टि के जटिल स्वरूप से अवगत होना आवश्यक है जो इनकी अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति के मूल में है। इस जीवन-दृष्टि का संस्कार, परिष्कार एवं विकास हुआ है। इस विकास के कारण इनके काव्य में इस दृष्टि के तीन चरण दृष्टिगत होते हैं। प्रारम्भिक छायावादी रचनाओं में इनकी व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि का रूप भावात्मक एवं आदर्शवादी है; प्रयोगवादी रचनाओं में यह चेतना आत्मकेन्द्रित एवं आत्मलीन होकर बौद्धिक एवं यथार्थवादी धरातल पर व्यक्त हुई है और नयी कविता की रचनाओं में यह सामाजिक पक्ष की ओर उन्मुख है। इस सामाजिक उन्मुखता में भी कवि की वैयक्तिक

---

१. हरी घास पर क्षण भर : पृ० ६६।
२. हरी घास पर क्षण भर, पृ० ६६।

चेतना है जिसके आधार पर कवि जीवन तथा जगत को आँकते, परखते एवं व्यक्त करते हैं। इस सामाजिक उन्मुखता के कारण इनके काव्य में आस्था का स्वर अधिक दृढ़ और रंग अधिक गहरा हो गया है—

मैं आस्था हूँ
तो मैं निरन्तर उठते रहने की शक्ति हूँ :
मैं व्यथा हूँ
तो मैं मुक्ति का श्वास हूँ,
मैं गाथा हूँ
तो मैं मानव का अलिखित इतिहास हूँ,
मैं साधना हूँ
तो मैं प्रयत्न में कभी शिथिल न होने का निश्चय हूँ
मैं संघर्ष हूँ जिसे विश्वास नहीं,
जो है मैं उसे बदलता हूँ
जो होगा उसे मुझे ही तो लाना है।[1]

मानव के व्यक्तित्व की सेतु के रूप में कल्पना द्वारा कवि इस चेतना के सामाजिक पक्ष को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

दूर दूर दूर—मैं सेतु हूँ
किन्तु शून्य से शून्य तक का सतरंगी सेतु नहीं,
वह सेतु
जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है,
जो हृदय से हृदय को
श्रम की शिखा से श्रम की शिखा को
कल्पना के पंख से कल्पना के पंख को

---

१. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : पृ० २१।

विवेक की किरण से विवेक की किरण को
अनुभव के स्तम्भ से अनुभव के स्तम्भ को मिलाता है,
जो मानव को एक करता है,
समूह का अनुभव जिसकी मेहराबें हैं

और जन-जीवन की अजस्र प्रवाहमयी नदी जिसके नीचे से बहती है।[1] इन पंक्तियों में वह समूह अथवा जन-जीवन के अनुभव के माध्यम से सामाजिक चेतना की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। इस प्रकार सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति परोक्ष न होकर प्रत्यक्ष है, मौन न होकर वाचाल है। जन-जीवन अथवा लोक-सम्पृक्ति की भावना को नयी कविता का लक्षण माना जाता है। अज्ञेय के काव्य में इस भावना का रूप सहज न होकर यत्नसाध्य है। इससे पहले भी कवि ने लोक-सम्पृक्ति की भावना को लोक-गीत शैली के माध्यम से व्यंजित किया है।[2] नयी व्यंजना के लिये इन्होंने अनुभव कर लिया है—

मानव के प्रत्येक अहं में
सामाजिक अभिव्यक्ति पा चुका
एक मौन ही है जो अब भी
नयी कहानी कह सकता है ;
इसी एक घट में नवयुग की
गंगा का जल रह सकता है;
संसृतियों की, संस्कृतियों की
तोड़ सभ्यता की चट्टानें—
नयी व्यंजना का सोत बस

---

१. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : पृ० २१।
२. इत्यलम् : फूल कांचनार के : पृ० १८५।

इस राह से बह सकता है।[1]

अज्ञेय अपने व्यक्तित्व के घट में नवीन चेतना के गंगा-जल को संचित करते रहे हैं और वहाँ से नयी व्यंजना के झरने को बहाते रहे हैं। इन्हें अपनी अनुभूति के अतिरिक्त कुछ व्यक्त करना अभीष्ट नहीं है। वह उतना ही कहना चाहते हैं जितना उनका सच है।[2] अज्ञेय अपनी जीवन-दृष्टि का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—'आज साहित्यकार के लिये समस्या का रूप नया और जटिलतर होते हुए भी मूलतः समस्या वही है। एक स्वाधीन व्यक्तित्व का निर्माण, विकास और रक्षण। लेखक को वह स्थिति और वातावरण खोजना और गढ़ना है जिसमें स्वाधीन व्यक्तित्व पनप सके, उन साधनों को पाना और बनाना है जिनके द्वारा वह व्यक्तित्व अभिव्यक्त हो सके। उसे न समष्टि में विलीन हो जाना है न निरे स्वच्छन्दतावाद में पलायित होना है; न 'सर्वसत्तावाद स्वीकार करना है न सम्पूर्ण अराजकता।'[3] इस प्रकार वह स्वाधीन विवेक के प्रति जागरूक होने में साहित्यकार के दायित्व को निभाने के पक्ष में हैं। इसमें इनके व्यक्तित्व का मूल तत्त्व तथा काव्य का मूल उद्देश्य सन्निहित है। वह व्यक्तिमूलक या व्यक्तित्वमूलक जीवन-दृष्टि के स्तर पर ही लोक-सम्पृक्ति की भावना को आँकते तथा व्यंजित करते हैं। अज्ञेय ने काव्य की वस्तु, उसमें व्यक्त जीवन के मूल्यों, मानवीय अनुभूति तथा नैतिकता के स्वरूप पर चिन्तन एवं मनन किया है और इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि आज काव्य की वस्तु तथा के मूल्यों के लिये संकट की स्थिति है। आज जितनी श्रद्धा संदिग्ध है उतना ही संदेह संदिग्ध है।[4] इस संकट

---

१. हरी घास पर क्षण भर : पृ० ५१
२. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये पृ० १४
३. आत्मनेपद : पृ० ११४
४. आत्मनेपद : पृ० १६६

की चेतना आधुनिकता का लक्षण है जिसकी अभिव्यक्ति नयी कविता में उपलब्ध होती है। आधुनिकता की समस्या कवि के लिये विकट रूप धारण कर रही है। वह नैतिकता के प्रश्न को उठाकर लिखते हैं कि इसका उत्तर पहले ईश्वर तथा धर्म देता था, आज इसका उत्तर स्वयं मानव को देना है। नैतिकता आज ईश्वरसम्भूत न होकर मानवसम्भूत है। मानवीय अनुभूति तथा उससे सम्बद्ध नैतिकता से मुक्ति पाना असंभव है। इसलिये नैतिकता मानवीय संघर्षों और अनुभूतियों के संदर्भ में ही सार्थक है। उसे संदर्भ से काट कर नहीं ग्रहण किया जा सकता।[1] आज के साहित्यकार के लिये अनुभूति पर विशेष आग्रह क्षण के महत्त्व को स्थापित करता है। इसकी अभिव्यंजना अज्ञेय की रचनाओं में बार-बार उपलब्ध होती है। वह क्षण और क्षणिकता में भेद को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—क्षण का आग्रह क्षणिकता का आग्रह नहीं है, अनुभूति की प्राथमिकता का आग्रह है। और अनुभूति को अनुभावक से अलग नहीं किया जा सकता—अनुभूति अद्वितीय है क्योंकि कोई दूसरे की अनुभूति नहीं माँग सकता।[2] क्षण पर अतिरिक्त आग्रह करना कवि की व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि का परिणाम है और इस पर यूरोप के अस्तित्ववाद का भी गहरा प्रभाव है। अज्ञेय अस्तित्ववाद के सिद्धान्त से भी सहमत नहीं जान पड़ते जिसके अनुसार मानव यन्त्र-सभ्यता के कारण प्रकृति के सामने इतना नगण्य हो गया है कि उसके व्यक्ति-जीवन की अनुभूतियाँ कोई अर्थ ही नहीं रखतीं। कभी-कभी अपवाद के रूप में अज्ञेय के काव्य में इस स्वर को भी सुना जा सकता है—

छिछली उथली घनी चौंध से अन्ध

---

१. आत्मनेपद : पृ० १६२

२. आत्मनेपद : पृ० १६६।

घूमते हैं हम
अपने रचे हुए
मायावी उजियाले में
गहरे में—कुछ इतना सूना जो
भिद कर भी लौटा ही देता है प्रकाश :
सतहों पर—टूटी चमकीली सतहों को बाँध-बाँध
उलझाने वाला
सतहों का ही जटिल पाश।
सतहें—कच टुकड़े
यही जुटा पाये हम
भीतर किरण रही जो
वह
नीलाम चढ़ गयी।[1]

इन पंक्तियों में जीवन की नगण्यता एवं मतली की अनुभूति है जो यन्त्र-सभ्यता का परिणाम है। अन्तिम तीन पंक्तियों में पूँजीवादी संस्कृति पर व्यंग्य भी कसा गया है। किरण का नीलाम होना इस संस्कृति के कारण संभव हुआ है, कच के टुकड़ों को ही जुटा पाना आज के मानव की उपलब्धि है जिसके मूल में जीवन-मूल्यों का विघटन है। इस विकट स्थिति से निकल कर अज्ञेय क्षण के महत्त्व को इन शब्दों में स्वीकारते हैं—

हमें किसी कल्पित अजरता का मोह नहीं।
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात कर लें—
उसकी विविक्त अद्वितीयता

---

१. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ० ३०, ३१।

आप को, कमपि को, क ख ग को
अपनी-सी पहचनवा सकें,
रसमय करके दिखा सकें—
शाश्वत हमारे लिये वही है।[1]

इस क्षण को शाश्वत रूप देकर वह इसमें सम्पूर्णता को व्याप्त एवं प्रवहमान पाते हैं, सत्य को साक्षात्कार करते हैं। इनकी दृष्टि में कोई भी सत्य अविकल रूप में अधिक नहीं जी सका है, वह चाहे बुद्ध, ईसा या गाँधी का सत्य हो। इनकी धारणा है कि आज के गाँधियन सत्य को महात्मा गाँधी भी नहीं पहचानते थे। इसलिये सत्य क्षण में निहित रहता है और इसलिये वह क्षण के अखंड पारावार का आचमन करना चाहते हैं। यह पारावार उस महासागर से बड़ा है जिसे अगस्त्य मुनि ने पिया था। इनके लिये क्षण ही एक अमरत्व है। इस नाम की कविता में क्षण के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

नहीं बाँध कर रखा जाता
छोटा-सा पल छिन
चढ़ डोले पर चली जा रही
काल की दुलहिन।[2]

इसलिये एक बार जो होता है वह सदा के लिये हो जाता है और यही अमरता है। वह हरी घास पर भी क्षण भर बैठ कर उठ जाते हैं और क्षण भर की अनुभूति को शाश्वत रूप देते हैं। अज्ञेय के क्षणवाद पर लारेंस के मनोविश्लेषणवाद तथा भोगवाद, सार्त्र के अस्तित्ववाद तथा आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रभाव माना गया है।[3] निराला

---

१. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : पृ० ४४।
२. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : पृ० ४२।
३. आलोचना : अंक २५ पृ० २४८

के मतानुसार इस क्षणवाद ने नये कवियों को विराटता से विमुख कर दिया है। इसका परिणाम यह बताया जाता है कि इसने नयी कविता की वस्तु को भोगवाद तथा वेदनावाद और इसके शिल्प को बिम्बवाद तथा प्रतीकवाद की ओर मोड़ा है।[1]

इस प्रकार क्षण की अनुभूति को भोगवाद की संज्ञा दी गई है और भोग के अभाव में दुःख की अनुभूति स्वाभाविक है। क्षण की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों तथा बिम्बों का अतिरिक्त सहारा लेना भी अपेक्षित है। अज्ञेय दुःख की पावन-शक्ति में आस्था रखते हैं। इनका विश्वास है कि दुःख के माध्यम से व्यक्तित्व का विकास और मन का परिष्कार होता है। यह हृदय के कलुष को भी धोता है। इसलिये यह व्यक्तित्व को माँजता है। कवि दुःख को पाने के लिये याचना करते हैं—

जीवन,
देना
ऐसा सुख जो सहा न जाय
इतना दर्द
कि कहा न जाय।
... ...
जो भी देना, इतना भर-भर
एव अहं में वह न समाय—
एक ज़िन्दगी एक मरण का घेरा जिसको बाँध न पाय।[2]

वह काव्य रचना के लिये केवल तीन शब्द माँगते हैं—एक शब्द वह जो कभी जिह्वा पर न ला सकें, दूसरा वह जिसे जिह्वा पर ला सकें परन्तु जो इनके दर्द से ओछा पड़ता हो और तीसरा वह जिसे पाकर वह मौन

---

१. आलोचना : अंक २५ पृ० २४६
२. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : पृ० ६४

रह जाएँ।[1] एक रचना में कवि यह भी कहते हैं कि दुःख देकर, दुःख पी कर और दुःख जीकर भी इन्हें मुक्ति नहीं मिली।[2] जीवन में एक बार जब दुःख की रेखा अंकित हो जाती है तो वह अमिट बनी रहती है।

एक रेखा जिसे
न बदला जा सकता है न मिटाया जा सकता है
न स्वीकार द्वारा ही डुबा दिया जा सकता है
क्योंकि वह दर्द की रेखा है
और दर्द
स्वीकार से भी मिटता नहीं है।[3]

इसका कारण यह है कि कवि की दृष्टि में दर्द पाप नहीं है और पाप स्वीकार से मिटता है। अज्ञेय के काव्य में दर्द का इतना महत्त्व है कि वह इसे एक 'जीवन-दर्शन' के रूप में ग्रहण करते हैं। 'सागर पर साँझ' नामक कविता में कवि के हृदय में दर्द का ज्वारभाटा आता है और वह इसके साथ बह जाते हैं—

दर्द कुछ मैला नहीं,
कुछ असुन्दर, अनिष्ट नहीं,
दर्द की एक अपनी दीप्ति है
ग्लानि वह नहीं देता।
तुम ने यदि
दर्द ही लिखा है,
भद्दा कुछ नहीं लिखा, झूठा कुछ नहीं लिखा,

---

१. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : पृ० ६८
२. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : पृ० ६६
१. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ० १३६

तो आश्वस्त रहो :
हम उसे गहरा ही करेंगे, सारमय बनायेंगे,
उस में रंग भरेंगे, रूप अवतरेंगे,
उसे माँज-माँज कर नयी एक आभा देते रहेंगे
काल भी उसे एक ओप ही देगा और।

इन पंक्तियों में उस दर्द की अभिव्यक्ति है जो हर तीखी अनुभूति के साथ व्यक्ति को अधिक जागरूक बनाने की क्षमता रखता है। इस में आस्था की ध्वनि है और आस्था की यह ध्वनि अध्यात्म तथा दर्शन की आस्था के स्वर से भिन्न है। यह आस्था महादेवी की भाँति मूक स्वरों में पीड़ा वहन करने की क्षमता से भी भिन्न है क्योंकि यह प्रियतम की अपेक्षा वस्तुस्थिति से साक्षात्कार कराती है। यह रहस्यात्मक, समन्वयात्मक, भावात्मक न हो कर विश्लेषणात्मक, बौद्धिक तथा मानवीय है। इसका विकास यथार्थ के धरातल पर हुआ है।

इस प्रकार अज्ञेय के काव्य का वस्तुपक्ष अनेक तन्तुओं से बुना गया है। इसमें दुःख एवं क्षण का महत्त्व है, मोह-भंग एवं आस्था का स्वर है, यथार्थ के प्रति आग्रह है, सहज प्रेम की अभिव्यक्ति है, व्यक्तित्व की स्थापना तथा उसका परिष्कार है, अकिंचन परिस्थितियों तथा सामान्य वस्तुओं से बौद्धिक एवं रागात्मक सम्बन्ध है, व्यंग्य का पुट है, सामाजिक चेतना की अभिव्यंजना है, लोक-सम्पृक्ति की भावना है, छायावादी तथा प्रयोगवादी जीवन-बोध है, आधुनिकता एवं वैज्ञानिकता की ध्वनि है और अहंवादी प्रवृत्ति है। इनके अतिरिक्त बौद्धिक चेतना अथवा बौद्धिकता इनकी काव्य-वस्तु की विशिष्टता है। वह बुद्धि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—कुछ लोग हैं जो कहते हैं कि बुद्धि के वैभव के साथ मानव का ह्रास हुआ है। मैं ऐसा नहीं मानता—नहीं मान सकता—मेरी प्रतिज्ञा ही इस परिणाम को असंभव बना देती है क्योंकि मेरे निकट नीति-ज्ञान-विवेक स्वयं बुद्धि का वैभव है। मैं यही कहूँगा कि

साहित्य की यह नयी प्रवृत्ति नैतिक शिथिलता या नैतिक ह्रास की नहीं, नैतिक बोध की परिपक्वता की सूचक है।[1] इन शब्दों में वह अपनी भीष्म प्रतिज्ञा तथा बौद्धिकता के महत्त्व को व्यक्त करते हैं। बौद्धिकता की प्रवृत्ति को वह न केवल नये साहित्य का अभिन्न अंग मानते हैं वरन नैतिक बोध के विकास के लिये अपेक्षित भी समझते हैं। इसलिये कवि ने छायावादी भावनात्मक बोध का परित्याग किया है। नयी कविता वालों का यह आग्रह है कि बौद्धिकता अथवा वैज्ञानिकता जीवन के उस पक्ष को बल दे जिससे विवेक और सौन्दर्य के साथ भावनाओं को अधिक मानीय स्तर पर प्राप्त किया जा सके। इन कवियों की दृष्टि में मानवीय होना ही नैतिक है।[2] नैतिकता का नया बोध आरोपित न होकर आन्तरिक है और इसका विकास व्यक्ति के विवेक पर आधारित है। इनका दृढ़ विश्वास है समाज के यथार्थ को व्यक्ति-सापेक्ष होना ही पड़ेगा। नैतिकता का बोझ और उसका दायित्व अन्ततोगत्वा व्यक्ति पर आकर ही टिकता है, इसका मापदण्ड और इसका केन्द्रविन्दु व्यक्ति के द्वारा स्थापित किया जा सकता है। समाज कितना विकसित है इसकी अन्तिम कसौटी इस बात में है कि व्यक्ति कितना विकसित है। व्यक्ति की संभावनाओं और उसकी स्वतन्त्र सत्ता द्वारा ही सामाजिक यथार्थ की परिभाषा आधारित हो सकती है।[3] इस स्पष्ट वक्तव्य में नयी कविता की मूल विचारधारा का परिचय मिलता है। अज्ञेय की जीवन-दृष्टि अन्ततः एवं मूलतः व्यक्तिमूलक है जिसके आधार पर इनकी काव्य-वस्तु का मूल्यांकन किया गया है। यह जीवन-दृष्टि समाज की सीमाओं, संभावनाओं, मान्यताओं तथा मर्यादाओं को निर्धारित करती है और सामाजिक चेतना को निजी

---

१. आलोचना ६ : पृ० १३१।

२. नयी कविता के प्रतिमान : पृ० २१६।

३. नयी कविता के प्रतिमान : पृ० २२६, २२७।

परिधि में आत्मसात करती है। इसका स्वरूप व्यक्ति-निरपेक्ष न होकर व्यक्ति-सापेक्ष है। इसके परिणामस्वरूप अज्ञेय की कविता में एक ओर परम्परागत आत्मसमर्पण की भावना का तिरस्कार है और दूसरी ओर व्यक्ति-निरपेक्ष समाजवादी विचारधारा की अवहेलना है। कवि की जीवन-दृष्टि से सहमत अथवा असहमत होना आचार्यों, मनीषियों तथा प्रगतिवादियों को ही अधिक शोभा देता है। आज की परिस्थिति में जीवन का मूल्यांकन तथा साहित्य का सृजन दो परस्पर-विरोधी धरातलों पर हो रहा है—एक के मूल में व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति-चिन्तन तथा व्यक्ति-हित की जीवन-दृष्टि है और दूसरे के मूल में समष्टि-सत्य, समष्टि-चिन्तन तथा समाज-मंगल की विचाराधारा है। अज्ञेय की काव्य-वस्तु व्यक्ति-मूलक है। इसलिये समष्टि-मूलक जीवन-दृष्टि के आधार पर इसका मूल्यांकन करना निजी पूर्वाग्रह को ही घोषित करना है।

अज्ञेय की विशिष्ट काव्य-वस्तु के लिये विशिष्ट काव्य-शिल्प की अपेक्षा स्वाभाविक है। इसके काव्य के शिल्प-पक्ष का विवेचन भी इसके वस्तु-पक्ष के संदर्भ में करना संगत जान पड़ता है। इनके अलंकार एवं प्रतीक-विधान, भाषा एवं छन्द-योजना में प्रयोगशीलता एवं बौद्धिकता के तत्त्व हैं। इस विषय पर कवि के दृष्टिकोण का विशद एवं विस्तृत निरूपण उपलब्ध होता है। इनके काव्य-शिल्प में प्रतीक-विधान का विशेष महत्त्व है। वह प्रतीक को सत्यान्वेषण का साधन मानते हैं। इसलिये काव्य-सत्य को अभिव्यक्ति देने के लिये कवि आदि काल से प्रतीकों की, नये प्रतीकों की सृष्टि करता आया है, और जब वैसा करना बन्द कर देता है तब उसका काव्य जड़ हो जाता है—या जब जड़ हो जाता है तब वैसा करना बन्द करके पुराने प्रतीकों पर ही निर्भर करने लगता है।[1] लोक-काव्य तथा लोक-गाथा में सब से अधिक प्रतीक

---

१. आत्मनेपद : पृ० ४१।

मिलते हैं। इसलिये प्रतीक स्वयं में अनिष्ट होकर भी अभीष्ट हैं। इस सम्बन्ध में कवि की शंका यह है कि ये प्रतीक कहीं निजी न रह जावें, क्योंकि निजी को सामान्य बनाना ही कवि का कर्म है।[1] निजी को सामान्य बनाना अज्ञेय का उद्देश्य है, परन्तु इस प्रयास में वह स्वयं कितना सफल हो सके हैं यह दूसरी बात है। वह नये उपमानों, प्रतीकों तथा बिम्बों की आवश्यकता को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

अगर मैं तुम को
ललाती साँझ के नभ की तारिका
अब नहीं कहता
या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुई,
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।[2]

इस प्रकार प्रतीक उन मुद्राओं के समान हैं जो घिस कर अपना मूल्य खो देती हैं। पुराने प्रतीकों का अवमूल्यन नवीन वस्तुस्थिति एवं चेतना का परिणाम है। काव्य की वस्तु युग तथा व्यक्ति की चेतना से रूपान्तरित होती रहती है। इस रूपान्तरित एवं नवीन वस्तु की अभिव्यक्ति के लिये नवीन प्रतीकों, बिम्बों, अलंकारों एवं छन्दों की अपेक्षा होती

---

१. आत्मनेपद : पृ० ४१।

२. हरी घास पर क्षण भर : ५७

है। इस कारण काव्य-शिल्प के क्षेत्र में प्रयोग का महत्त्व होता है। और प्रयोग न केवल नवीन दृष्टि का परिचायक होता है, वह इसके लिये आवश्यक भी होता है। इसके फलस्वरूप अज्ञेय ने नवीन प्रतीकों, बिम्बों तथा भाव-चित्रों को खोज निकालने का सतत प्रयास किया है। इनके प्रतीकों का स्वरूप इनकी काव्य-वस्तु के अनुरूप वैयक्तिक एवं बौद्धिक है। इनके प्रतीक-विधान में जन-मानस अथवा लोक-चेतना का प्रभाव भी लक्षित होता है। काम-भावना तथा मनोविश्लेषण से प्रेरित होकर इन्होंने यौन प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जिनका विश्लेषण पहले किया गया है। यौन प्रतीक छायावादी काव्य की देन हैं। इनके माध्यम से इस काव्य में दमित वासना को अभिव्यक्ति मिली है। जीवन की जटिलता को व्यक्त करने के लिये कवि ने बौद्धिक प्रतीकों का आश्रय लिया है। इनके प्रतीक कभी-कभी इतना वैयक्तिक रूप धारण करते हैं कि उनका बोध दुरूह हो जाता है। यह कवि की व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि तथा अविकसित शिल्प-पक्ष का परिणाम है। क्षण की अनुभूति तथा मानसिक स्थितियों को व्यक्त करने के लिये कवि ने नये प्रतीकों की उद्भावना की है। उदासीन मनःस्थिति के लिए शिशिर, मोह-भंग की स्थिति के लिये रेत, जीवन-विस्मय की स्थिति के लिये काँच की टंकी में पली सोन-मछली, नागरिक मानव की चेतना के लिये साँप, अभिशप्त मानव की चेतना के लिये गिरगिट, नवीन आलोक के लिये बावरा अहेरी, मानव-व्यक्तित्व के लिये नदी का द्वीप, समष्टि के लिये सागर तथा व्यष्टि के लिये मछली के प्रतीकों का प्रयोग कवि की बौद्धिक चेतना का परिणाम है। कवि समष्टि-चिन्तन की अपेक्षा व्यष्टि-चिन्तन को महत्त्व देते हुए कहते हैं—

अर्थ हमारा
जितना है, सागर में नहीं
हमारी मछली में है

या दिशा में सागर जिसको घेर रहा है।
हम उसे नहीं
वह हम को टेर रहा है।[1]

कवि शब्द से अर्थ की ओर, रूप से सार की ओर उन्मुख है। इस स्थिति को व्यंजित करने के लिये बौद्धिक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। अर्थ और सार मूलतः बौद्धिक होते हैं। अतः इनके लिये बौद्धिक प्रतीकों की नितान्त अपेक्षा है। बावरा अहेरी का प्रतीक भी कवि की व्यक्तिगत चेतना का उदाहरण है जिसकी कल्पना अज्ञेय ही कर सके हैं। इन्होंने अनेक उपमान लोक-जीवन से भी ग्रहण किये हैं। नारी को उपमित करने के लिये बिछली घास और बाजरे की डोलती कलगी की उद्-भावना की है।[2] उसकी देह कनक चम्पे की कली है, उसके नयन पहले भोर की दो ओस की बूँदें हैं, उसके ओठ दहकते दाड़िम पुहुप हैं।[3] यह नारी के नख-शिख का नवीन चित्रण है। इस लोक-शैली की धुन में कांचनार के फूल कवि के प्यारे के प्रतीक हैं, पलास की कली टिमटिमाती ओस की ज्योति है। इस कोटि के बिम्ब लोक-जीवन से उद्भूत हैं। इस प्रकार अज्ञेय के नवीन प्रतीकों का कोष विशद है। इस अपरिचित प्रतीक-विधान से प्रसूत इनके काव्य में दुरूहता पाठक को खटकती है। इस दुरूहता के अन्य कारण भी हो सकते हैं जिनमें भाषा की मितव्ययिता एवं कृपणता तथा समास-शैली की गणना हो सकती है। इनके काव्य की दुरूहता का कारण यह भी हो सकता है कि इनकी रच-नाओं में आभिजात्य तथा लोक-संस्कृति का विलक्षण सम्मिश्रण है। यह आज के बुद्धिजीवी कवि की प्रवृत्ति भी है। अज्ञेय

---

१. अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ० १६८
२. हरी घास पर क्षण भर : पृ० ५८
३. बावरा अहेरी : पृ० ३५

में यह प्रवृत्ति भाषा, भाव तथा शिल्प के विभिन्न स्तरों पर मिलती है। हवाई उड़ान की यात्रा के अनुभव से लेकर काँगड़े की छोरियाँ इनकी काव्य-वस्तु के परिवेश में आ जाती हैं।[1] यही स्थिति इनके प्रतीकों की है। इनके प्रतीकों में भी आभिजात्य तथा लोक-संस्कृति का विचित्र सम्मिश्रण है। इस सम्मिश्रण ने इनकी भाषा को एक विशिष्ट साँचे में ढाला है। इनकी भाषा में छायावादी कोमलता तथा सुकुमारता का धीरे-धीरे लोप होता गया है और गद्यता तथा बौद्धिकता का विकास होता गया है। यदि शिल्प की दृष्टि से देखा जाए तो नयी कविता गद्य के निकट आ रही है। इसका मूल कारण बौद्धिकता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिये तुकान्त या छन्दोबद्ध पंक्ति की अपेक्षा गद्य का स्वतन्त्र वाक्य-विन्यास अधिक उपयुक्त माध्यम है। नयी कविता का मुहावरा भी अभी स्थिर नहीं हो पाया है। इसके स्थिर होने के उपरान्त ही काव्य में सांगीतिक बोध की स्थिति संभव हो सकती है। इसलिये अज्ञेय की भाषा को कभी-कभी अनगढ़ ठीकरों के संयोजन की संज्ञा दी जाती है। कवि कभी-कभी क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भी करते हैं जो इनकी आभिजात्य संस्कृति का परिणाम है। इसके विपरीत सुगम तथा व्यंजक शब्दों का प्रयोग लोक-संस्कृति की देन है। इनके काव्य में बिम्ब-विधान भी अकिंचन परिस्थितियों, सामान्य वस्तुओं, बौद्धिक स्तरों, मानसिक स्थितियों, ग्रामीण तथा नागरिक चेतना से प्रसूत हैं। इसकी जड़ें आधुनिकता तथा यथार्थ की जड़ों में भिनी हुई हैं। इनकी कविता में प्रकृति के चित्रों तथा बिम्बों की उपादेयता को भी स्वीकार किया गया है। छायावाद की दृष्टि का आग्रह प्रकृति के रूप-सौष्ठव पर था। इसलिये छायावाद को प्रकृति-काव्य की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। अज्ञेय ने प्रकृति के सौष्ठव-पक्ष पर इतना बल नहीं दिया है जितना उसके रूप-

---

१. हिन्दी नवलेखन : पृ० ४४

पक्ष पर। आज की मानवीय संवेदना विज्ञान से प्रेरित है। इसलिये अज्ञेय प्रकृति को विज्ञान की अधुनातन अवस्था के चौखटे में बैठाते हैं।[1] इस संवेदना की अभिव्यक्ति के लिये वह प्रकृति से नये प्रतीकों तथा बिम्बों की खोज में रहते हैं। अज्ञेय के काव्य के शिल्प-पक्ष के मूल में भी व्यक्ति-चिन्तन की दृष्टि है, वैयक्तिक अभिरुचि है, व्यक्ति-निष्ठ प्रतीक-विधान एवं बिम्ब-विधान है, गद्य की लयात्मकता है, आन्तरिक स्वरपात है, भाव-चित्रों का व्यक्तिगत प्रयोग है। एक आलोचक की दृष्टि में इनका शिल्प अनगढ़ तथा अपरिष्कृत है। इसका खुरदरापन इसकी विशिष्टता है।[2] इसका कारण यह बताया जाता है कि नयी कविता का सौन्दर्यबोध कमल का सौन्दर्यबोध न होकर कैक्टस की सौन्दर्य-चेतना है जिसके खुरदरेपन में एक आन्तरिक संगीत है। कैक्टस का सौन्दर्य-बोध इस आन्तरिक संगीत से युक्त है। इस सौन्दर्य-बोध की अनुभूति के लिये नवीन अभिरुचि, दीक्षित दृष्टि, मानवी संवेदना की अपेक्षा मानी जाती है। अज्ञेय के काव्य का वस्तु-पक्ष एवं शिल्पपक्ष कमल के सौन्दर्य-बोध से कैक्टस की सौन्दर्य-चेतना की ओर विकसित हुआ है। इस विकास में इनके काव्य का इतिहास परिलक्षित होता है!

●

---

१. अज्ञेय : रूपाम्बरा : पृ० १४

२. हिन्दी नवलेखन : पृ० १६३